उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन

हिन्दी उपन्यास साहित्य
का
शास्त्रीय विवेचन

[आगरा विश्व विद्यालय से पी० एच-डी० के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक
डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक
बी० एन० एस० डी० कॉलेज, कानपुर

प्रकाशक
सरस्वती पुस्तक सदन : आगरा

अनुक्रम

कृतज्ञता प्रकाशन

इस प्रकार के विवेचन में समन्वयात्मक अध्ययन के लिए हिन्दी के कतिपय आधारभूत विशिष्ट ग्रन्थों की सामग्री का एक से अधिक बार उपयोग प्रस्तुत में किया गया है। स्थल स्थल पर उनका उल्लेख यथासंभव कर दिया गया है पर लेखक विशिष्ट रूप से निम्नाङ्कित ग्रन्थों के लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति आभार की स्वीकृति को अपना प्रमुख कर्तव्य मानता है।

	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
१.	हिन्दी उपन्यास	श्रीशिवनारायण श्रीवास्तव	सरस्वती-मंदिर जतनबर
२.	हिन्दी उपन्यास साहित्य	श्री ब्रजरत्नदास	हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस
३.	जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	श्री रघुनाथ सरन फालीन	हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस
४.	काव्य के रूप	बाबू गुलाबराय	प्रतिभा प्रकाशन मंदिर दिल्ली
५.	समीक्षा	श्री सीताराम चतुर्वेदी	अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी।
६.	साहित्य	श्री शंकरदेव अवतरे	श्री शंकर बेन अवतरे काशी
७.	हिन्दीसाहित्य का इतिहास	श्री रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
८.	आधुनिक साहित्य	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	भारती भंडार, प्रयाग
९.	आधुनिक साहित्य	श्री प्रतापनारायण टन्डन	विद्या मंदिर लखनऊ
१०.	हिंदी उपन्यास में वर्गभावना	श्री प्रतापनारायण टण्डन	लखनऊ विश्व विद्यालय
११.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय
१२.	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	श्री श्रीकृष्णलाल	हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्व विद्यालय
१३.	आलोचना	उपन्यास अंक	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
१४.	साहित्य संदेश	उपन्यास अंक एवं आधुनिक उपन्यास अंक	साहित्य रत्न भंडार, आगरा

इस लेखक के अन्य ग्रन्थ 'उपन्यास तत्व एवं रूप विधान' के संक्षिप्त रूप को अपने ग्रन्थ में सम्मिलित करने की आज्ञा प्राप्ति के लिए स्वयं लेखक एवं उस पुस्तक के प्रकाशक 'आचार्य शुक्ल साधना मंदिर' को विशेष रूप से आभार प्रकट करते हैं।

प्रकाशक

भूमिका

उपन्यास में लिखे हुए जीवन के साथ ही साथ हम बिना लिखा हुआ जीवन भी पाते हैं। यह बीते जीवन का 'इन्डेक्स' बन जाता है और आने वाले जीवन की भूमिका। उपन्यास का यह दोहरा-क्रम फसल और बीज का रूप होता है। जीवन में रहते हुए भी हम जीवन के धरातल पर ही तैरते रहते हैं पर उपन्यास में हम डुबकी लगाकर जीवन के भीतर पहुँचते हैं जहाँ पर जीवन का असली रूप मिलता है। जीवन में हमें प्रायः बीते जीवन का प्रभाव ही मिलता है पर उपन्यास में जीवन के प्रभाव के कारण मिलते हैं। इस प्रकार इसमें हम जीवन-निर्माण की संभावना भी पाते हैं।

उपन्यास जीवन की खुली हुई गठरी को बाँधता है; पर्तें उघारी हुई प्राचीन परंपराओं की फिर से नई पर्तें लगाता है—अतीत की संग्रहीत, (assembled) वस्तुओं को वितरित (distrubute) कर फिर से संग्रहीत (assembled) करता है। उपन्यास बिखरे जीवन को समेटता है।

विशुद्ध उपन्यास साधना से प्रतिभासित सत्य 'रियलाइज्ड ट्रुथ' की भाँति होता है। उसका आरंभ अनुभव के शिखर पर होता है। वह विचार एवं दर्शन की ऊँचाइयों पर से उतर कर जीवन की गहराइयों में से होता हुआ भाषा की सतह पर आता है। उसके पात्रों का व्यक्तित्व 'आइस-वर्ग' की भाँति होता है। शुभ्र किन्तु गंभीर। उसका कथानक साधक के स्वप्न की झलक के साथ-साथ धरती पर लेट कर दण्डवत् प्रणाम करता हुआ आगे बढ़ता है। उसके वर्णन समाधि के सुख की भाँति अवर्ण्य होते हुए भी मानव के आंतरिक भावों के संकेतक होते हैं। उसका वातावरण भक्त की तन्मयता एवं प्रेमी की आत्मविभोरता से प्रेरणा पाता हुआ-सा रहता है। उसका उद्देश्य होता है-जीवन के रहस्य का उद्घाटन आत्म-चिन्तन के माध्यम से करना। यह सब कार्य उपन्यास में सम्पन्न होता है जीवन में साँस लेने के से अचिन्त्य एवं स्वाभाविक ढंग से।

उपन्यास के सम्बन्ध में इसी क्रम से नये सिरे से विचार करने की प्रणाली का श्रीगणेश करने की आवश्यकता ही प्रस्तुत निबन्ध की स्थापना है।

हिन्दी में गद्य का विकास भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना एवं मुद्रा-

णालयों के कार्य आरंभ होने के साथ हुआ। ईसाई धर्म प्रचारकों एवं पत्रकारिता से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा गद्य के प्रचार में बड़ी सहायता मिली, पर हिन्दी गद्य विशेषतः खड़ी बोली के हिन्दी गद्य का आरम्भ, विकास एवं प्रचार मुख्यतः कल्पनात्मक एवं आख्यानात्मक साहित्य के आरंभ, विकास एवं प्रचार के समानान्तर पर चलता है। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य इस कल्पनात्मक एवं आख्यानात्मक साहित्य के तीन-चौथाई से अधिक अंश का प्रतिनिधित्व करता है। डायरी, पत्र, भ्रमण, जीवन चरित्र, आत्मकथा तथा सामाजिक शास्त्रों को अपनी परिधि में समेट लेने के कारण उपन्यास का विकास प्रायः हिन्दी गद्य के विकास का पर्यायवाची बन गया है। हिन्दी गद्य में अभिव्यक्ति की जितनी विधाएं हैं प्रायः उन सब का समाहार उपन्यास में होता है। इस दृष्टि से भी उपन्यास का विवेचन अपना विशेष महत्व रखता है। प्रस्तुत निबन्ध में हिन्दी गद्य के विकास में उपन्यास के विशेष योगदान की भी स्थापना की गई है।

उपन्यास के विकास एवं तद्विषयक विभिन्नयुगीन प्रवृत्तियों का विवेचन इस प्रबन्ध की आधारभूमि के रूप में दिया गया है।

हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द कथा-साहित्य के वाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जिस अर्थ में बंगला में 'उपन्यास' गुजराती में 'नवलकथा', मराठी में 'कादंबरी', और उर्दू में 'नावेल' शब्द का प्रयोग होता है उसी अर्थ में हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द के प्रयोग को लिया गया है। इस शब्द द्वारा उन सभी पुस्तकों की ओर संकेत है जो कथा-सिद्धान्तों के नियमों का अपूर्ण अथवा पूर्ण रूप से पालन करते हुए या नितान्तरूप से अवहेलना करते हुए मनुष्य की अमर उत्सुकता की शान्ति पात्रों तथा घटनाओं के काल्पनिक संयोजन के द्वारा करते हैं।

देवकीनन्दन खत्री कृत चन्द्रकान्ता उपन्यास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। इसके पश्चात् सामाजिक चेतना के अनुप्राणित श्री निवासदासकृत 'परीक्षागुरू' इस क्षेत्र की द्वितीय कृति के रूप में आती है। इसमें विचारों की गंभीरता के साथ-साथ एक उद्देश्यपूर्ति का प्रयास परिलक्षित होता है। इसी काल में जन-जीवन की कुतूहल वृत्ति के मनोरंजनार्थ गहमरी जी के जासूसी उपन्यासों ने लोकप्रियता प्राप्त की। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपनी औपन्यासिक रचनाओं में विषय की दृष्टि से विविधता को स्वीकार किया। उन्होंने सामाजिक एवं कल्पना-प्रबल ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ शुद्ध मनोरंजनपूर्ण उपन्यास लिखे। उपन्यास का प्रारंभिक रूप अत्यन्त स्वल्प एवं साधारण-सा था। उसका विकसित एवं पुष्ट रूप प्रेमचन्द के सामाजिक, राजनैतिक तथा चरित्र प्रधान

उपन्यासों में प्रस्तुत हुआ। कालान्तर में शैली तथा विषय की विविधता की दृष्टि से उपन्यास-साहित्य उतरोत्तर विकसित होता चला गया। इस विकास की परंपरा के समक्ष अभी विराम-चिह्न नहीं लगा है। शैलो तथा रूप की विविधता लिये हुए अनेकानेक महत्वपूर्ण कृतियाँ हिन्दी भारती के भंडार को समृद्ध बना रही हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन सब कृतियों का वर्गीकरण इस प्रबन्ध के विवेचन का विषय बनाया गया है।

प्रस्तुत विवेचन में हिन्दी के विगत प्रायः सत्तर वर्षो की रचनाएँ ली गई हैं। औपान्यासिक शिल्पविधान की समीक्षा करते हुए किसी लेखक की समस्त कृतियाँ अथवा प्रत्येक लेखक की कोई न कोई कृति से ही लेना मेरा उद्देश्य नहीं रहा है। अस्तु, १९५७ तक प्रकाशित हिन्दी के प्रमुख उपन्यासों को ही विचार का साधन बनाया गया है। साथ ही यदि उपन्यास-कला की दृष्टि से कोई बात समान रूप से सभी कृतियों में प्राप्त होती है और जो स्वाभाविक भी है, तो एक स्थान पर उसका विशेश विश्लेषण करके अन्य कृतियों का यथास्थान संकेत कर दिया गया है।

हिन्दी उपन्यास रचना पर उर्दू का सीधा प्रभाव पड़ा है। बंगला एवं अंग्रेजी के मौलिक तथा अनूदित उपन्यासों ने भी हिन्दी-उपन्यास-रचना-विधान पर अपनी स्पष्ट छाप अंकित की हे। अस्तु, इस प्रसंग में हिन्दी उपन्यासों के आधारभूत बंगला, उर्दू और अंग्रेजी उपन्यासों की परंपरा की भी चर्चा आवश्यक प्रतीत हुई है। इस अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिए अंग्रेजी और बंगला के सुरुचिपूर्ण साहित्यिक उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के विश्व-विश्रुत उपन्यास भी उदाहरणरूप लिए गए हैं। पर इस दिशा में अध्ययन की सीमा केवल उन्हीं औपन्यासिक रचनाओं तक रही है जो देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा में प्रकाशित हुई हैं।

हिन्दी उपन्यास के अध्ययन के अन्तर्गत आख्यायिका, कथा, पुराण, नीति की कहानियाँ आदि भी विचार का विषय बनी हैं, क्योंकि ये ही वे आधारभूत कृतियाँ हैं जिन्होंने उपन्यास को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की औपन्यासिक रचनाएँ भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष-रूप से हिन्दी उपन्यास के शिल्प-विधान पर अपना प्रभाव डालती रही हैं। अस्तु, यथास्थान उनका विवेचन अथदा उल्लेख भी आवश्यक हो गया है।

हिन्दी उपन्यास का आरंभ उर्दू के तिलिस्मी उपन्यासों के अनुकरण पर तथा अंग्रेजी के सामाजिक उपन्यासों के सीधे अनुवाद तथा बंगला के माध्यम

से उसके जासूसी उपन्यासों के सीधे अनुवाद के रूप में हुआ। पुरानी परंपरा की ओर प्रारंभ में किसी का ध्यान नहीं गया पर आख्यायिका की प्रवृत्ति—'कादंबरी', 'दशकुमार चरित्र' तथा 'बृहत्कथा मंजरी' के रूप में तो थी ही। उसका अपना आधार था अलौकिकता में विश्वास। योग एवं अमरत्व, देवत्व एवं गंधर्व और किन्नर तथा पुनर्जन्म की संभावनाओं से भी जीवनगाथा रोचक हो उठी थी। किसी भी साहित्यिक विधा के आरंभ में जब भाषा के विशिष्ट लेखकों का ध्यान तत्सम्बन्धी रचनाओं के प्रणयन की ओर नहीं जाता तो उस भाषा के साधारण लेखक उसी विधा के अन्तर्गत दूसरी भाषाओं में प्रस्तुत की गई कृतियों के अनुवाद में अपना-अपना ध्यान लगाते हैं। हिन्दी उपन्यास के आरंभ में उर्दू के तिलिस्मी उपन्यासों और बंगला तथा अँग्रेजी के जासूसी, सामाजिक एवं ऐतिहासिक तथा विचित्र घटनापूर्ण उपन्यासों के अनुवाद के रूप में यही हुआ। विशिष्ट लेखकों का ध्यान उपन्यास रचना की ओर जाते ही हिन्दी में भी उच्च कोटि की औपन्यासिक रचनाओं का श्रीगणेश हो गया।

इस अध्ययन में उन परिस्थितियों पर भी विचार करने का प्रयत्न किया गया है जो उपन्यास को सर्वप्रिय बनाने में सहायक हुई हैं। पर, जन-जीवन के मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक पक्ष का अध्ययन उपन्यास-रचना की पृष्ठभूमि के रूप में ही किया जायगा।

इस अध्ययन में साहित्यिक विधाओं की उन कृतियों पर भी विचार किया गया है जो शैली के प्रकार के रूप में अथवा चरित्र-चित्रण के रूप में अथवा काव्यात्मक अनुभूति के रूप में उपन्यासों के पहले या बाद में लिखी गई हैं।

उपन्यास के शास्त्रीय विवेचन में उपन्यास शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य तथा रूढ़ अर्थ एवं साहित्य के संदर्भ में इस शब्द से अभिहित होने वाले काव्यांग का निदर्शन तो किया ही गया है, साथ ही उसके प्रचलित रूपों का अध्ययन भी तात्विक एवं विकासक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के सम्बन्ध में विचार की पूर्णता के लिये हमें जीवन के क्रम में उपन्यास का मान निर्धारण करते हुए अन्य काव्यांगों एवं काव्येतर विषयों के साथ उसका स्थान तथा सम्बन्ध-विवेचन भी समीचीन प्रतीत होता है। स्वयं उपन्यास के अध्ययन की पूर्णता के लिये उपन्यासकार की मानसिक प्रक्रिया एवं पाठक की मनोवृत्ति का अध्ययन करने के लिये मानव-मनोविज्ञान का भी आश्रय लेना पड़ा है। पूरक सामग्री के रूप में इस अध्ययन में अन्य भाषा के उपन्यासों के प्रभाव-क्रम की भी यथास्थान प्रासंगिक चर्चा की गई है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के शास्त्रीय विवेचन में उपन्यास के स्वरूप तथा औपन्यासिक वृत्ति के निर्धारित करने के साथ-साथ प्रस्तुत उपन्यास साहित्य का क्रमिक अध्ययन भी अपेक्षित है। उसके साथ ही साथ उपन्यास पाठक और उपन्यास के भावी स्वरूप की चर्चा आवश्यक है। इस प्रबन्ध में उपन्यास साहित्य के शास्त्रीय विवेचन में उपन्यासों के सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि के साथ ही साथ उसके काव्य पक्ष पर बल देते हुए उसकी समीक्षा एक निश्चित क्रम से प्रस्तुत की गई है। इस सम्बन्ध में इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि शास्त्रीय विधि में किसी भी कृति को या लेखक को जो वह नहीं है वैसा सिद्ध करने में भावुकता को स्थान नहीं मिलता पर कृति तथा कृतिकार के अन्तर्मन में प्रवेश पाने के लिये सहृदयता की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार के अध्ययन में जहाँ एक ओर वैज्ञानिक की विषयगत निस्पृहता की आवश्यकता का निर्देश किया जाना आवश्यक समझा गया है वहीं समय के हृदय की धड़कन पहचानने की क्षमता की अनिवार्यता पर भी बल देना उचित माना गया है। इस संबंध में एक और स्थापना की गई है कि उपन्यास की आलोचना उपन्यास लिख कर ही प्रस्तुत की जा सकती है। इस प्रसंग में प्रेमचन्द का यह कथन स्मरणीय है कि 'उपन्यासकार अपने समय का सब से बड़ा आलोचक होता है। वह सब से अच्छा आलोचक होता है यह तो नहीं कहा जा सकता पर कभी-कभी वह सीधे कुछ न कह कर जो कुछ अपने उपन्यास में प्रसंगवश कहता है उसी से अच्छी से अच्छी उक्ति का रूप देने में समर्थ होता है।''

हिन्दी उपन्यास साहित्य के शास्त्रीय विवेचन में हिन्दी उपन्यास के सभी अंगों पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी उपन्यासों के प्रादुर्भाव के बहुत समय पश्चात् उनके मूल्यांकन तथा अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव करते हुए कुछ पुस्तकें लिखी गईं। विश्वविद्यालयों में भिन्न-भिन्न कालों की औपन्यासिक रचनाओं के अध्ययन भी प्रस्तुत किये गये। 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों पर स्वतंत्र रूप से कार्य किया जा चुका है। पर अभी तक समवेतरूप से हिन्दी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ। प्रस्तुत निबन्ध उसी दिशा में प्रारंभिक प्रयास के रूप में है। इसमें उपन्यास के प्रमुख तत्वों, उपन्यास के विभिन्न अंगों, उपन्यास की मौलिक प्रवृत्तियों तथा अन्य साहित्यिक विधाओं के साथ हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उपन्यास से संबंधित एक बड़े साक्षर वर्ग (उपन्यास पाठक) की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा उसकी मानसिक दशा का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उप-

न्यासों के विकास में पाठक की सुरुचि के परिष्कार के महत्व पर भी इस प्रबन्ध में चर्चा की गई है।

इस विवेचन के आरंभ में सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात उसी आधार भूमि पर हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रबन्ध को निम्नांकित परिच्छेदों में विभक्त किया गया है—

१—विषय प्रवेश

२—(अ) उपन्यास शब्द की व्याख्या-लक्षण एवं स्वरूप

(आ) हिन्दी उपन्यास का प्रादुर्भाव

३—उपन्यास तथा साहित्य के अन्य अंग

४—उपन्यास के प्रेरक तत्व

५—उपन्यास के तत्व

६—उपन्यासकार और उपन्यास रचना

७—प्रेषणीयता की अनुभूति और पाठक

८—हिन्दी उपन्यासों का वर्गीकरण

९—उपसंहार

प्रस्तुत रूप में एक प्रकार से विश्व-उपन्यास-साहित्य की भूमिका के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास साहित्य की उपलब्धियों के अंकन करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार के अध्ययन में सर्वतोभावेन मौलिकता का दावा करना संभव नहीं। विषय को प्रभावपूर्ण एवं उपयोगी एवं सशक्त ढंग से प्रस्तुत करने के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर अब से पहले की स्थापित मान्यताओं की सहायता ली गई है। उन सब के प्रति व्यक्तिगत आभार प्रदर्शन करना नामों की एक बड़ी लम्बी सूची की अपेक्षा रखता है। पर इतना कहना आवश्यक है कि जहाँ कहीं भी उन स्थापित सामान्यताओं का उल्लेख हुआ है, वहाँ यदि उनमें प्रभाव की अभिव्यक्ति का अभाव हो तो उसका उत्तरदायित्व मेरा है। हाँ इस विषय में अन्य प्रकार से जो सहायता समय-समय पर प्राप्त होती रही है उसका उल्लेख आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रबन्ध डा० प्रेमनारायण शुक्ल एम० ए०, पी-एच० डी० (प्राध्यापक डी० ए० वी कालेज कानपुर) के अधीक्षण में सम्पन्न हुआ। आत्मीयता एवं शैशवकाल से लेकर अद्यावधि तक की पारस्परिक सहयोग की मधुर स्मृ-

तियाँ इतनी सुखद हैं कि अपने अधीक्षक के प्रति शब्दों के औपचारिक प्रयोग द्वारा उनके महत्व का अंकन संभव नहीं। प्रबन्ध का प्रारंभ ही गुरुदेव श्री एस० सी० (प्रधान अंग्रेजी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय) की प्रेरणा से हुआ। प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत करने में गुरुवर डाक्टर मुन्शीराम जी शर्मा (अध्यक्ष हिन्दी विभाग डी० ए० वी० कालेज कानपुर) का प्रमुख हाथ रहा और आदि से अन्त तक निर्देशन का जो अटूट क्रम रहा, कृतज्ञता-प्रकाश के शव्द उसके परिमाण का अनुमान नहीं दिला सकते। विषय-क्रम के निर्धारण में तथा यथा-स्थान आवश्यक परिवर्तन के कार्य में गुरुवर क्षेत्रेशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय (संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) एवं बन्धुवर डा० भगीरथ मिश्र एम० ए०, पी० एच० डी० (लखनऊ विश्वविद्याल) का जो स्नेहपूर्ण निर्देशन प्राप्त हुआ है उसके लिये मैं उनका विशेषरूप से कृतज्ञ हूँ।

मेरे अनुज चि० मंगलप्रसाद अग्निहोत्री, आदित्यनारायन अग्निहोत्री एवं प्रमोदनारायण अग्निहोत्री तथा मेरे आत्मीय सर्वश्री ललितमोहन अवस्थी, सत्यस्वरूप सारस्वत, रुद्रनारायण दीक्षित, कृष्णकुमारी त्रिवेदी 'कोमल' श्यामसुन्दर त्रिपाठी एवं विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी ने समय-समय पर पुस्तकों के संग्रह करने प्रबन्ध को टाइप करवाने, तथा टाइप सम्बन्धी अशुद्धियों को यथा-साध्य ठीक करने आदि कार्यों में जो अपना बहुमूल्य समय एवं सहयोग प्रदान किया है उसके लिये मैं क्या कहूँ। इन सब की प्रेरणा एवं सद्भावना ही इस प्रबन्ध के रूप में साकार हो उठी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध द्वारा भगवती भारती के उपासकों की अन्तिम पंक्ति के अन्तिम स्थान में खड़े होकर मैं उस पावन क्षण की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब मैं अपनी ये विखरी पंखुड़ियाँ उनके श्री चरणों तक पहुँचा सकूँ।

श्री रामनवमी
सं० २०१६ वि०

—श्रीनारायण अग्निहोत्री

विषय-प्रवेश

हिन्दी शब्द के विभिन्न अर्थ

आधुनिक काल में प्रयुक्त होने वाला हिन्दी शब्द अपनी विभिन्न ऐतिहासिक परम्पराओं को लिए हुए चल रहा है। जहाँ तक भारत की भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश का सम्बन्ध है, यह शब्द इनमें से किसी भी भाषा में प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'कालकाचार्य की कथा' (जैन ग्रन्थ) में हिन्दग् शब्द उपलब्ध होता है।[1] भारतीय फारसी विद्वानों ने हिन्दी अथवा हिन्दवी का प्रयोग हिन्द की भाषा के रूप में किया है। भारत की प्राचीनतम भाषाओं में हिन्दी शब्द का प्रयोग भले ही न हुआ हो पर इतना स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी तक आते-आते ईरानियों द्वारा शब्द का प्रयोग होने लगा था। ईरानियों की सबसे अधिक प्राचीन धर्म पुस्तक 'आवेस्ता' है इसमें 'हैन्दु' 'हिन्दु' तथा 'हफ्तहिन्दव' शब्द पाये जाते हैं। 'प्राचीन पहलवी में 'हिन्द' 'हिन्दुक्' और 'हिन्दुश्' शब्द मिलते हैं। मध्यकालीन ईरानी काल में विशेषण प्रत्यय ईक् जोड़ कर 'हिन्द'+ईक् = 'हिन्दीक्' और 'हिन्दीग्' शब्द बना। कालान्तर में अन्तिम व्यंजन का लोप हो गया और 'हिन्दी' शब्द 'हिन्द' के विशेषण के रूप में प्रचलित हो गया। इस प्रकार 'हिन्दी' शब्द का मूल रूप हिन्द है।"[2] ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेतर देशों यथा मिस्र, अरब, सीरिया आदि में 'हिन्दी' अथवा हिन्दी शब्द ईरानी साहित्य के माध्यम से ही प्रविष्ट हुआ है। वहाँ पर हिन्दी शब्द का प्रयोग देश का अथवा देश की बनी हुई वस्तु का ज्ञान कराने के लिए होता रहता है। आज भी हिन्दी शब्द से भारतवर्ष (हिन्दुस्तान) में रहने वालों का बोध होता है यथा—'हिन्दी रूसी भाई-भाई।'[3]

---

१ 'सूरिणा भणियम् रामाणो जेण हिन्दग् देशम् वञ्चामो'
—जैन महाराष्ट्री जैकोबी भाग ३४, पृ० २६२.

२ 'हिन्दी साहित्य कोष, पृष्ठ ८८७, संस्करण सं० २०१५ वि०

३ 'इन्दीस्की रूस की ब्रातियाँ' = हिन्दी रूसी भाई भाई
हिन्दी—शब्द सागर, तीसरा संस्करण पृ० ३८१३ द्वितीय स्तंभ.

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते हिन्दी शब्द द्वारा उस भाषा का बोध होने लगा जो भाषा पंजाब के पूर्वी भाग, -राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य-प्रदेश तथा बिहार प्रान्त के कुछ भागों में बोली जाती रही है। भाषा-वैज्ञानिकों ने इस हिन्दी के अन्तर्गत बांगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, अवधी, बघेली, छत्तीस गढ़ी, मेवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, हाड़ौती, कुमाउनी, नैपाली, गढ़वाली, मैथिली, मगही, भोजपुरी को उसकी उपभाषाओं के रूप में स्वीकार किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में गिलक्राइस्ट महोदय ने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया है। भाषा के क्षेत्र में हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी आदि प्रयोगों के चलते रहने पर धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में दो प्रकार की शैलियाँ परिलक्षित हुईं। एक वह जिसे उर्दू कहा जाता है और एक वह जो हिन्दी के नाम से अभिहित है। विद्वानों का एक बड़ा समुदाय उर्दू को एक स्वतन्त्र भाषा से रूप में स्वीकार करके उसे हिन्दी की एक शैली मात्र मानता है।

आधुनिक काल में हिन्दी शब्द का प्रयोग उस विशिष्ट भाषा-रूप के लिए होता है जो भारतीय संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृत है, और जो राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है।[1] यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि हिन्दी के रूप-निर्माण में उसका अपना ही पूर्ण स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, अपितु राजस्थानी, पूर्वी पंजाबी, ब्रज, आदि भाषाओं बोलियों ने उसके रूप को सँवारा है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों में यथास्थान एवं यथावसर विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं एवं बोलियों के शब्द व्यवहृत होते हैं। हिन्दी एक ऐसी भाषा है जिसमें न तो संस्कृत तत्सम शब्दों का बाहुल्य होता है और न 'हिन्दुस्तान'[2] कही जाने वाली ब्रिटिश कालीन सरकारी भाषा की तरह उसमें फारसी और अरबी शब्दों की भरमार होती है। साधारणतः 'हिन्दी' शब्द से हम उस भाषा को समझते हैं[3] जिस भाषा के विभिन्न रूप हमें आधुनिक गद्य में मिलते हैं, जिसका आरम्भ 'इन्शाअल्ला' की कहानी और 'राजा भोज के सपने' से हुआ था, जिसे मुन्शी सदासुखलाल और लल्लूजी लाल ने पाठ्यक्रम में आगे बढ़ाया था, जिसके बिखरे हुए रूप में सर्वप्रथम दर्शन,

---

१ **भारतीय संविधान, धारा ३४३-१।**

२ **प्रामाणिक हिन्दी कोष, पहला संस्करण, पृ० ११६३**

३ **हिन्दी-शब्दसागर, आठवां खण्ड, तीसरा, पृ० ३७, २०५.**

खड़ी बोली,''''गद्य-द्वितीय उत्थान (१९५७ वि०—१९७७ वि०),

'चन्द्रकान्ता' में होते हैं, जिसे भारतेन्दु ने सब प्रकार से सँवारा और जिसे महावीर प्रसाद द्विवेदी के अथक प्रयास ने पुष्ट करके साहित्योपयोगी रूप प्रदान किया ।

उपन्यास शब्द की व्याख्या

'उपन्यास' शब्द में 'अस्' धातु है । 'नि' उपसर्ग से मिल कर 'न्यास' शब्द बनता है ।[१] 'न्यास' का अर्थ है धरोहर ।[२] उपन्यास शब्द दो शब्दों—उपन्यास से बना है । 'उप' अधिक समीपवाची उपसर्ग है। संस्कृत के व्याकरण-सिद्ध शब्दों—'न्यास' एवं 'उपन्यास' का पारिभाषिक अर्थ कुछ और ही होता है । एक विशेष प्रकार की टीका पद्धति को 'न्यास' कहते थे ।[3] इसी प्रकार उपन्यास शब्द बचन (वाक्य) के साथ प्रयुक्त होता है । जिस प्रकार पदविशेष को संदर्भ- क्रम में रखने को 'पदन्यास' कहते हैं उसी प्रकार वचन के अपने अर्थ व्यक्त करने के प्रयोग को वचनोपन्यास कहते हैं ।[४] हिन्दी में उपन्यास[५] शब्द कथा साहित्य के रूप में प्रस्तुत हुआ है । जिस अर्थ में बंगला में 'उपन्यास'[६], गुजराती में 'नकल कथा',, मराठी में कादम्बरी और उर्दू में 'नाबेल' शब्द का प्रयोग होता है उसी अर्थ में हिन्दी में उपन्यास शब्द का प्रयोग होता है । यहाँ उपन्यास से उन सभी ग्रन्थों की ओर संकेत है जो कथा सिद्धान्तों के नियमों का अपूर्ण अथवा पूर्ण रूप से पालन करते हुए या उनको नितान्त अवहेलना

---

१ न्यासः = नि + अस्, आप्टे

२ धरोहर "अन्यत्सुखकरं सर्वं दुःखं न्यासस्य रक्षणम् ।"

…नीतिवचन

३ अनुत्सूत्र पदन्यासा सद्वृत्ति : सन्निबन्धना । शब्दविद्येवव नो भाँति राज-नीतिरपस्पशा" ।

४ "निर्यात : शनकैरलीक वचनोपन्यासमालीजनः ।" अमरुकशतक…२३.
"उपन्यास (संज्ञा पुंल्लिग-संस्कृत) (१) वाक्य का उपक्रम । बंधान । बात की लपेट । बात का लच्छा ।"…हिन्दी-शब्दसागर (सन् १९२९ ई०) पृष्ठ ३४६.

५ उपन्यास = २ (संज्ञा पुंल्लिग-सं०) कल्पित आख्यायिका, कथा, नाबेल हिन्दी-शब्दसागर पृष्ठ ३४६ प्रथम स्तम्भ

६ उपन्यास = २ उप + नि + अस् + घञ् । पाठक वा श्रोतार मनोरंजनार्थ कल्पित गल्प, उपकथा ।

—सरल बंगला अभिधान, पृष्ठ २५९.

करते हुए मानव की सतत-संगिनी कुतूहल-वृत्ति को पात्रों तथा घटनाओं के काल्पनिक संयोजन द्वारा शान्त करते हैं।

साहित्य

'साहित्य' से प्रायः रचनात्मक एवं काव्यात्मक कृति का ही बोध होता है। यद्यपि साहित्य मूलार्थ में लक्षण शास्त्र का भी पर्याय है[1], पर बाद में यह शब्द काव्य के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[2] अतः उपन्यास साहित्य में

---

१ साहित्यपाथोनिधि मन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
मतस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ चौराः प्रगुणीभवन्ति। वि० च०, सर्ग १.
—और भी "संसार में कोई विद्या, कोई उपविद्या ऐसी नहीं है जिसे साहित्य अपने आभोग में न ला सके। यहाँ तक कि वह अपना भी निरीक्षण करता है। उसमें काव्य ही नहीं होता, काव्य की उपज्ञा ही नहीं रहती, शास्त्र की प्रज्ञा भी रहती है। इसलिए 'साहित्य' में काव्य और उसके शास्त्र का साहित्य भी है। पार्थक्य के लिए काव्य को काव्य और उसके शास्त्र को 'साहित्य' संज्ञा हो गई। फिर यह इतना प्रचलित हो गया कि वाङ्मय (वाक् के बाह्य प्रस्फुटित रूप का आकलन) के पर्याय-रूप में भी प्रचलित हो गया, जो अधुनातन स्थिति है।"
—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (शंकरदेव अवतरे के 'साहित्य' (शास्त्रीय समाधान) की स्थापना काशी विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण नवम्बर ५७, पृ० ५, ७।

२ काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण :
साहित्य—सं० पुं० (सं.) (१). एकत्र होना (मिलना, मिलन)
(२) वाक्य में पदों का एक प्रकार का सम्बन्ध जिसमें वे परस्पर अपेक्षित होते हैं और उनका एक ही क्रिया से अन्वय होता है।
(३) किसी एक स्थान पर एकत्र किये हुए उपदेश, परामर्श या विचार आदि। लिपिबद्ध विचार या ज्ञान।
(४) गद्य और पद्य सब प्रकार के उन ग्रन्थों का समूह जिनमें सार्वजनीन हित सम्बन्धी विचार रक्षित रहते हैं। वे समस्त पुस्तकें जिनमें नैतिक सत्य और मानवभाव बुद्धिमत्ता तथा व्यापकता से प्रकट किये गये हों। वाङ्मय। इस अर्थ में यह शब्द बहुत व्यापक हो जाता है जैसे—समस्त

अपने निर्देशन के महत्व के कारण उन रचनाओं को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनमें उपन्यासों की व्याख्या अथवा उपन्यासों के मूलांगों की चर्चा की गई है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य से हमारा अभिप्राय हिन्दी में साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा लिखी गई औपन्यासिक कथाओं से है और उसके साथ ही साथ उस आलोचनात्मक साहित्य से भी है जो उपन्यास के विषय में लिखा गया है। इस प्रकार के साहित्य के अध्ययन में मनोविज्ञान, स्वप्नविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति समाजशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों एवं साधारण विज्ञान के सम्पर्क का भी अनुशीलन सम्मिलित है जिसका सीधा अथवा गौण प्रभाव हिन्दी के कथा-साहित्य पर पड़ा है।

शास्त्र

शास्त्र शब्द 'शास्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगा कर बनता है।[1] जो अनुशासन करे अथवा जीवनोद्देश्य का विधान करे उसे शास्त्र कहते हैं।[2] ज्ञान

संसार का साहित्य) और देश, काल, भाषा, या विषय आदि के विचार से परिमित रूप में भी। (जैसे—हिन्दी साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य, बिहारी का साहित्य आदि।)
— —हिन्दी— — शब्द सागर, तीसरा संस्करण (१९२९) सातवाँ खण्ड, पृष्ठ ५२६, द्वितीय स्तम्भ।

१ (शास् + ष्ट्रन् शिष्यते अनेन्) आप्टे
शास् धातु शासन करना——व्यवस्थित मर्यादाऐं स्थापित करना।

२ (१) 'ऐन आर्डर', 'कमान्ड', 'रूल', 'प्रिसेप्ट' (२) 'ए सेक्रेड प्रिसेप्ट आर रूल', 'इति गुह्यतमं शास्त्र'' भग० १५। २०, शास्त्रेषु अकुण्ठिता बुद्धिः रघु० १।१९,
शास्त्र——(१) सं०पु० (सं०) हिन्दुओं के अनुसार ऋषियों और मुनियों के बनाये हुए वे प्राचीन ग्रन्थ जिनमें लोगों के हित के लिए अनेक प्रकार के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं और अनुचित कृत्यों का निषेध किया गया है। वे धार्मिक ग्रन्थ जो लोगों के हित और अनुशासन के लिए बनाये गये हैं।

के किसी भी विभाग को शास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है[1]। किसी भी विषय पर जितना जो कुछ भी कहा जा चुका है उस सबका वैज्ञानिक अध्ययन 'शास्त्रीय' बन जाता है[2]।

शास्त्र अनुशासित ज्ञान की संज्ञा है। किसी भी विषय के पूर्वापर पक्ष को ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन का विषय बना कर उसे अध्येता के लिए सरल-विचार-सरणि का रूप दे देना शास्त्र का उद्देश्य होता है। जो ज्ञात है और जो ज्ञातव्य है उसके बीच में अनुमान की रेखा खींचना शास्त्र का कर्तव्य होता है और इस अनुमान कार्य की रेखा खींचने की प्रणाली में शास्त्र की विधि निहित रहती है। शास्त्रीय विधि 'वैज्ञानिक प्रणाली' की पर्याय होती है यदि हम उसे व्यवस्थित ज्ञान (Systematized knowledge) के अर्थ में लेते हैं। 'विज्ञान' शब्द इस रूढ़ अर्थ में नया है। शास्त्रीय शब्द ही प्रारम्भ में वैज्ञानिक का द्योतक होता था। किसी भी वस्तु के शास्त्रीय अध्ययन में हमें यह तो बताना ही होता है कि वह वस्तु क्या है, जिसका हम शास्त्रीय ढंग से अनुशीलन करते हैं और फिर वस्तु-विशेष के अभिधान को अर्थगत सीमा एवं विषयगत विस्तार का निर्देशन भी करना पड़ता है। शास्त्रीय शैली हमें वस्तु की आत्मा को समझने में और अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान में उसकी विधाओं से परिचय कराने में सहायक होती है। वस्तु से जितना लाभ प्राप्त हो सकता है और रस की अनुभूति हो सकती है उस सब की सम्यक् प्राप्ति के साधन एवं मार्ग का निदर्शन शास्त्रीय पद्धति द्वारा ही उपलब्ध होता है।

विवेचन[3] का अर्थ होता है किसी भी विद्या की अभिद्या को स्पष्ट-रूप से

---

१ 'अप्लाइड कलेक्टिवली टु दि होल बाडी आफ टीचिंग आन ए सबजेक्ट वेदांत शास्त्र......अलंकार शास्त्र। 'ए ट्रीटिज, ए वर्क'।
(२) किसी विशिष्ट विषय या पदार्थ-समूह के सम्बन्ध का वह समस्त ज्ञान जो ठीक क्रम से संग्रह करके रखा गया हो। विज्ञान=जैसे—प्राणिशास्त्र—अर्थशास्त्र—वनस्पतिशास्त्र।
—हिन्दी शब्द सागर-तीसरा संस्करण (१९२९), पृ० ३३०९, द्वितीय स्तम्भ—छठा खण्ड

२ (शास्त्रेण विहितः छ) (१) स्क्रिप्चुरल—(२) 'साइन्टिफिक' शास्त्रीय—वि० (सं०) शास्त्र सम्बन्धी। (शास्त्र का।)

३ विवेचन=१ डिस्क्रिमिनेशन २—डिस्कसन-कन्सीडरेशन एण्ड सेटेलमेंन्ट डिसीजन आप्टे।

प्रस्तुत कर उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों का तात्विक आधार लेते हुए उस विधा का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करना। शास्त्रीय विवेचन में हम उस विधा से सम्बन्धित स्वरूपों का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधार लेते हुए उन्हें एक विकासक्रम अथवा प्रसार क्रम में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते हैं। शास्त्रीय विवेचन में गुण-दोष की ओर ही दृष्टि न होकर-विधागत स्वरूप क्या है इस पर भी ध्यान दिया जाता है। केवल अच्छाई और बुराई की ओर निर्देश करना तो तत्सम्बन्धी आलोचना का काम होता है।[1]

विवेचन के द्वारा जहाँ हम किसी विषय को स्वयं हृदयंगम करते हैं, वहाँ उसके द्वारा हम उसे दूसरों के अध्ययन के लिये सरलतम ढंग से प्रस्तुत भी करते हैं। विवेचन स्वयं समझ कर-दूसरों को समझाने की क्रिया का सब कालों में विस्तार है।

शास्त्रीय विवेचन में प्रस्तुत के सर्वांगीण वैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा रहती है। शास्त्रीय विवेचन के दो पक्ष होते हैं। एक में आलोच्य वस्तु की पूर्व निर्दिष्ट साहित्य शास्त्रीय सिद्धान्तों अथवा दार्शनिक प्रणाली द्वारा विवेचना होती है। दूसरे में आलोच्य वस्तुगत तत्वों के विश्लेषण तथा परीक्षण के माध्यम से विवेचना का क्रम आगे बढ़ता है। किसी भी साहित्यिक विधा अथवा साहित्यिक कृति की विवेचना करते समय हमें पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत वस्तु की निजी विशेषता पर भी विचार करना है। हिन्दी उपन्यास के शास्त्रीय विवेचन में हमें काव्य की सफल अभिव्यक्ति कराने में सहायक सिद्धान्तों का विवेचन संस्कृत में साहित्यशास्त्र के अनुसार करने के साथ ही साथ इस नवोदित काव्यांग के मूल्य को देशगत-कालगत तथा वस्तुगत विशेषताओं के विकसित विज्ञान तथा समृद्ध मनोविज्ञान के प्रकाश में आंकना होगा।

विवेचन = संज्ञा पु॰ (सं॰) (१) किसी वस्तु को भलीभाँति परीक्षा करना। (जाँचना) (२) यह देखना कि कौन सी बात ठीक है और कौन नहीं (निर्णय) (३) व्याख्या (तर्क वितर्क) (४) अनुसंधान (५) परीक्षा (६) सत् असत् का विचार। (७) मीमांसा। हिन्दी–शब्दसागर–तीसरा संस्करण (१६२६) छठा खण्ड, पृष्ठ ३१३८।

१ आलोचना—संज्ञा स्त्री॰ (सं॰) किसी वस्तु के गुण-दोष का विचार गुण-दोष-निरूपण। हिन्दी-शब्दसागर-तीसरा संस्करण (१६२६) प्रथम खण्ड, पृ॰ २६६

उपन्यास साहित्य के शास्त्रीय विवेचन में उपन्यास साहित्य की आलोचना की आवश्यकता होती है। केवल रूचि-परिष्कार के लिये नहीं, वरन् इस विवेचन में उपन्यासकार के लिये भी कर्त्तव्य कर्म का निर्देश रहता है। उपन्यास साहित्य के इतिहास का क्रम स्थिर करना एवं उसका वर्गीकरण भी कर देना उसका एक उदात्त उद्देश्य है। उपन्यास साहित्य के शास्त्रीय अध्ययन की सहायता से सबसे बड़ी बात होती है उपन्यासों के धार्मिक अध्ययन की परिपाटी का श्रीगणेश। शास्त्रीय अध्ययन अपने में वैज्ञानिक विधा के अनुशीलन तथा प्रतिष्ठित विचार-क्रम के ग्रहण से किसी भी विवेचन-व्यापार में पूर्वाग्रहों को स्थान नहीं देता। जो बात जैसी है उसको उसी ढंग से प्रस्तुत करना शास्त्रीय विवेचन की पहली शर्त होती है। हिन्दी उपन्यास की समीक्षा, निष्पक्षता, सुरुचि एवं सद्भावना के आधार पर होनी चाहिये। जो अपने में नहीं है उसका आरोप करने की चेष्टा व्यर्थ है। हां, उसे अपने में लाने का उत्साह अवश्य होना चाहिये। और जो अपने में है उसे उसके यथार्थरूप में ही प्रस्तुत करने का सीधा उपक्रम वांछनीय है। इस कार्य में परिचित व्यक्तित्व को भी औपचारिकता के वातावरण में रख कर ही उसका मूल्यांकन करना है। अपनी अंतरंगता का लाभ तद्गत ग्रन्थियों को खोलने में सहायता के रूप में भले ही समझ लें।

उपन्यास का प्रारम्भ

जब उक्ति में अर्थ को छिपाने का उपक्रम होता है तब वह साहित्य की संज्ञा प्राप्त कर लेती है और जब कथन में 'इरादे' को छिपाने का प्रयास निहित होता है तो वह राजनीति की सीमा में घिर जाता है पर उक्ति का सहज रूप और कथन की साधारणता दो ही स्थानों पर मिलती है:—धर्म और उपन्यास में; और इसलिये आरम्भ में इन दोनों का ही प्रभाव नहीं के समान रहता है।

उपन्यास का आरम्भ उसी समय से हो गया था जब एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ अपनत्व की भावना से विचार-विनियम किया था। स्वयं दोनों मित्र—या एक जोड़ा उस सजीव उपन्यास के प्रधान-पात्र रहे थे। जब दो व्यक्ति मिलते हैं तभी उपन्यास की जन्मबेला का अवसर आ उपस्थित होता है। जब एक कहता है कि मैं आज स्टेशन को चला—क्यों चला ? —गाड़ी लेट थी—गाड़ी क्यों लेट थी ? — इन सब कार्य-कारणों की चर्चा के साथ वह अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होने की चर्चा भी कर देता है और पहली चर्चा में और निवृत्त होने की चर्चा में कोई अन्तर नहीं होता। उपन्यास

में निवृत्त होने की क्रिया का उल्लेख नहीं होता पर और सब सहज रूप में आता है। अतः लोगों ने इसका सम्मान भी नहीं किया। उनका ध्यान दूसरी महत्वपूर्ण बातों ने ले लिया।

उपन्यास की वृत्ति का आरम्भ मानव की चेतना की उत्सुकता से होता है। प्रथम ऊषा का दर्शन—जीवन का जो चमत्कार था वह कवि का वर्ण्य विषय बना। उदाहरण के लिए—रूप की प्राप्ति, प्रेम की प्राप्ति। पर यह सब साधारण रूप से कैसे सम्पादित हुआ इस पर कवि मौन रहा। इस साधारण व्यापार को सामने रखने का—दूसरे शब्दों में जीवन को जीवन के रूप में रखने का श्रेय उपन्यासकार को है।

'उपन्यास' आज की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार गद्य की शैली का एक प्रकार है पर वास्तव में उपन्यास गद्य अथवा छन्द के बन्धन से मुक्त एक 'कथन-वृत्ति' का नाम करता है, जिसका पहला प्रमाण हमें अंग्रेजी के उदयकाल के अग्रदूत कवि चासर की 'कैन्टरवरी टेल्स' में मिलता है। हिन्दी में इसका स्पष्टरूप से ज्वलन्त प्रमाण हमें सूर और तुलसी की शैली के तुलनात्मक अध्ययन में उपलब्ध होता है। यदि हम सूर के काव्य को 'मन' का प्रतीक दें तो तुलसी का रामचरितमानस 'जीवन' का रूपक बन कर उपन्यास वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण सिद्ध होता है। 'मन' की वृत्तियों के समान बड़े विस्तार में भी रम कर सूर एक ही ठौर पर 'ठगे' से खड़े रह जाते हैं और तुलसी जीवन की विविधता से होड़ लेने वाले कटु एवं मधुर प्रसंगों को साथ-साथ आरम्भ से अन्त तक लेकर चलते हुए आगे ही बढ़ते रहते हैं। उपन्यास वृत्ति में जीवन जन्म से पूर्व भी और मृत्यु के उपरान्त भी गतिशील है, ऐसा आभास मिलता है। तुलसी आरम्भ से ही कथा की दुरूहता, अपनी अक्षमता—फिर राम-नाम की महिमा से कथा के आरम्भ पर आते हैं—और वह आरम्भ होता है सती-मरण के वृतान्त से—जिनका अवसान होता है शंकर-पार्वती विवाह से। प्रत्येक बार तुलसी एक मधुर प्रसंग की अवतारणा के लिए एक कटु प्रसंग को पहले लाते हैं; यथा धनुषभंग का प्रसंग पहले राजाओं का मान भंग कर जनक को, जानकी को तथा अन्यान्य स्वजनों की निराशा की स्थिति में डालता है और फिर राम द्वारा धनुषभंग मधुर भाव की सृष्टि करता है। इसी प्रसंग में परशुराम का आगमन कटु स्थिति की अवतारणा करता है, तत्पश्चात् सीता का विवाह उस प्रसंग का पर्यवसान मधुरता में करता है। आदि कवि वाल्मीकि ने ऐसा नहीं किया है क्योंकि उनमें औपन्यासिक वृत्ति

नहीं थी। औपन्यासिक रचना-विधान में चरित्र के उतार-चढ़ाव का निदर्शन होता है पर काव्य में नहीं। वहाँ चरित्र का उत्तरोत्तर विकास दिखाना ही कवि का लक्ष्य होता है। उदाहरण के लिए हम भारविकृत संस्कृत के एक काव्यग्रन्थ 'किरातार्जुनीय' को लेते हैं। यहाँ प्रारम्भ में एक पात्र का चारित्रिक विकास इतनी उत्तमता दिखाया गया है कि पाठक साधारणतः यही विचार करता है कि इससे अधिक चरित्र का उत्कर्ष और क्या हो सकता है पर सिद्ध कवि की लेखनी आगे आने वाले पात्रों का चरित्र भी उत्तरोत्तर विकास करती हुई जीवन की विविधता में आदर्श के सर्वोत्तम रूप का चित्रण करती है। तुलसी की शैली इससे विपरीत है। हिन्दी-काव्य में उपन्यास-वृत्ति सर्व प्रथम हम उन्हीं में पाते हैं। पात्रों का उदात्तीकरण, सामयिक समस्याओं का निराकरण, वर्णन का स्वाभाविक सौन्दर्य, जीवन में उद्देश्य की महत्ता, मनोविकारों की निस्पृह आलोचना, जीवन-दर्शन सभी कुछ तो उन्होंने अपने ढंग से— हिन्दी के उस उत्कर्षकाल में प्रस्तुत किया था।

अनेकानेक प्रारंभिक लेखकों द्वारा निष्प्रयोजन एवं सप्रयोजन कही-सुनी कथाओं के रूप में उपन्यास की प्रवृत्ति को विकास प्राप्त हुआ। इनमें लेखकों की सम्पन्न प्रतिभा एवं पांडित्य का परिचय नहीं प्राप्त होता। हाँ, मनोरंजन की दृष्टि से इन रचनाओं की उपयोगिता अवश्य रही है। उपन्यास वृत्ति से युक्त रचनायें प्रारम्भ में समादृत नहीं हुई। वे प्रायः सांस्कृतिक एवं परिष्कृत जन-रुचि के लिए अस्पृश्य साहित्य के रूप में ही रहीं। शताब्दियों के अन्तर पर जब 'घूरे के भी भाग फिरने' के क्रम से बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उपन्यास-वृत्ति का साहित्यिक संस्कार हुआ तब उपन्यास की एक दूसरी ही दिशा की ओर प्रगति हुई। उपन्यास वृत्ति को सोद्देश्य ही बना कर सन्तुष्ट न होने वाली प्रवृत्ति ने उसे अस्पष्ट और दुरूह बना कर कविता एवं दर्शन की भाँति कठिनता से पचने वाला मानसिक भोजन बना दिया जिसे पढ़ कर या तो पाठक को संस्कृत की उपन्यास-वृत्ति को काव्यत्व का जामा धारण कराने वाले बाण की कृति 'कादम्बरी' का ध्यान होता था अथवा साधारण व्यक्ति की यह प्रतिक्रिया होती थी कि यदि काव्य और दर्शन ही पढ़ना है तो सीधे काव्य और दर्शन ग्रन्थों का पारायण ही क्यों न किया जाय?

वास्तव में बात और ही है।

संसार के रंगमंच पर अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। राजनीतिक क्षेत्र में राजत्व एवं सामन्ती-प्रथा के वैभव के दिन समाप्त होकर मजदूरों का राज्य

स्थापित हो गया है। जनसाधारण का महत्व बढ़ गया है। जन्म एवं पद के स्थान पर प्रतिभा का सम्मान होने लगा है। पर उसकी उचित प्रतिक्रिया साहित्य में नहीं होने पाई। साहित्य में विशिष्टता की पूजा परंपरा के कटघरे में अब भी होती जाती है। जो समझ में न आवे, अब भी उसे 'क्लासिक' का सम्मान मिलता है। पर इसे बदलना होगा—साधारण जीवन की गाथा साधारण जीवन की भाषा में साधारण समझने वाले व्यक्तियों के लिए प्रस्तुत करनी होगी। इसी स्थिति में उपन्यास के सहज रूप की प्रतिष्ठा होगी।

कभी-कभी इतिहास उपन्यास का स्थान लेने का हौसला लिए आगे बढ़ सकता है, पर इतिहास की अपनी एक सीमा है। वह भूत का है। जो हो चुका है उसी को वह बता सकता है। उपन्यास में तो जो हो सकता है उसका आभास और प्रेरक शक्ति दोनों ही रहती हैं। आज का संसार—उसके अणु बम, वायुयान, वायरलेस—सभी तो एच० जी० वेल्स ऐसे उपन्यास वृत्ति के धनी लेखकों की सूझ में प्रकट होता है। सूझ की पैंगे कविता में कल्पना के वेग से कितनी ही क्यों न बढ़ाई जायँ पर छन्द-बन्धन उन्हें न तो आकाश छूने देता है और न अधिक समय तक पृथ्वी के ही निकट रहने देता है। इतिहास में सूझ खंडहरों के अंधेरे ऊबड़-खाबड़ में ही रास्ता टटोलती रहती है पर उपन्यास-वृत्ति में सूझ का विस्तार पृथ्वी पर क्षितिज के विस्तार से होड़ लेता हुआ ब्रह्माण्ड को आत्मसात् कर लेने का हौसला रखता है।

उपन्यास का प्रारम्भ मनुष्य की चेतना के प्रारम्भ से हुआ। शाश्वत सत्य की भांति उपन्यास-वृत्ति सब कालों में अक्षुण्ण रही—भले ही बाण की चाण्डाल कन्या की भाँति उसके ऊपरी या अधूरे ज्ञान द्वारा उसके प्रथम अवतरण के समय लोगों ने उसका उचित मूल्यांकन न कर पाया हो, पर इतने समय के अन्तर पर उपन्यास का सहज सौन्दर्य अपने वास्तविक गौरव के साथ जन-साधारण पर प्रकट हो चुका है और उसका विस्तार तथा महत्व, जीवन के विस्तार तथा उसके महत्व के साथ मिल गया है। कल के साहित्य के अन्त्यज तुल्य अस्पृश्यस्वरूप ने आज के श्रमिक वर्ग की अभिजातवर्गीय स्थिति प्राप्त कर ली है।

एक बात और भी है।

समाज में सबको अपनी स्थिति का सम्मान प्राप्त हो चुका है। सिद्धांत रूप में पूर्णतः एवं व्यावहारिक रूप में अंशतः आज का हरिजन मन्दिर-प्रवेश

का अधिकारी है—उसे योग्यतानुसार उच्च पद प्राप्ति का संरक्षण भी प्राप्त है पर साहित्य में अभी वह वृत्ति पूर्णतया नहीं आ पाई है। हाँ, आधुनिकतम कतिपय साहित्यिक कृतियों में वह उपेक्षणीय अवश्य नहीं रह सका है। वर्णगत महत्व के स्थान पर व्यक्तित्व के महत्व का मूल्यांकन किया जाना प्रारम्भ हो गया है। इसी प्रकार उपन्यास ने बड़ी उपेक्षा सहन की है। प्रायः सभी साक्षर लोगों का मनोविनोद करते हुए भी हरिजन के कार्य की भाँति उसके कार्य को भी उच्च साहित्य (गंभीर साहित्य) में रुचि रखने वालों में नीच ही समझा है। कर्मकाण्डी साहित्यिक के लिए उपन्यास तो चाण्डालात्मजा का यौवन-पूर्ण सौन्दर्य सिद्ध हो रहा है। वह तो आज भी उसे उपेक्षणीय समझता है। जन-साधारण अपनी तुच्छता से उसके अनिन्द्य रूप की अपनी अभिलाषा की पहुँच से परे समझ कर उसकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देख सकता। मार्ग पर चलती हुई भीड़ में कोई तो चिहुँक कर, कोई कुछ क्षणों तक रुक कर और कोई बिना रुके ही उसकी ओर देखता रह जाता है। फिर भी वह अपनी बढ़ती जवानी के उन्माद में मस्त अपने आकर्षण की परिधि को निरन्तर विस्तृत करता जा रहा है। प्रायः यह देखा जाता है कि उसके इस वैभव-विलास को साहित्यशास्त्र के पंडित प्रत्यक्षतः उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, पर परोक्ष रूप में वह यदाकदा उनके भी अनुरंजन की वस्तु बनता है।

प्रारंभ में पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों की भी उपन्यास के प्रति हेय दृष्टि रही है। अमेरिकन शिक्षकों द्वारा यह विचार सर्वसाधारण के मस्तिष्कों में जमा दिया गया था कि उपन्यासेतर रचनाओं का पढ़ना शिक्षापूर्ण एवं श्लाघनीय है और कथाओं का पढ़ना हानिकारक है। अधिक से अधिक उसके पक्ष में यही कहा जा सकता है कि वह अपने को भुलावे में डाल कर बहलाने का साधन मात्र है। ऐसा करने में उन्हें अर्नाल्ड एवं लावेल ऐसे प्रसिद्ध आलोचकों का प्रच्छन्न समर्थन भी प्राप्त था।[1]

---

1. "The lingering American popular view disseminated by pedagogues that the reading of non-fiction was instructive and meritorious, that of fiction, harmful or at best self-indulgent, was not without implicit backing in the attitude toward the novel of representative critics like Lowell and Arnold."

—AUSTIN WARREN and WELLEK : *Theory of Literature* p. 219.

बोसे हेनरिएट डांग्लेटर की मृत्यूपरान्त प्रशंसा में भाषण देते हुए कहता है—'इस राजकुमारी का चरित्र प्रशंसनीय है क्योंकि इसने उन्हीं लोगों के कर्तव्यों के विषय में पढ़ा था जिनके चरित्र इतिहास का निर्माण करते हैं। उसे 'रोमांस' तथा उनमें वर्णित नायकों में कुछ भी आकर्षण एवं सुरुचिपूर्ण बात नहीं मिलती थी। उसका सत्य का आग्रह इतना प्रबल था कि वह निर्मम एवं भयानक कथा-कृतियों को घृणा की दृष्टि से देखती थीं।[1]

यह एक विचित्र संयोग है कि यूनानी तथा अंग्रेजी दोनों ही साहित्यों में उपन्यास का आरम्भ साहित्य की अन्यान्य विधाओं के चरमोत्कर्ष के पश्चात् ही हुआ। यूनान में रोमांस का आरंभ एलेक्जेन्ड्राइन युग के ह्रास के पश्चात् हुआ और एलिजाबेथ-कालीन इंग्लैंड में युग के गौरव स्वरूप लेखकों द्वारा उपन्यास तिरस्कृत हुआ। यदि कहीं मार्लो, शेक्सपियर अथवा वेब्स्टर ने उपन्यास लिखे होते तो भविष्य में इंग्लैण्ड में भी दोस्तोव्स्की तथा टालस्ट्वाय के समान महाप्राण उपन्यास लेखकों की आशा की जा सकती थी और अंग्रेजी उपन्यास भी रूसी उपन्यास की परिपक्वावस्था प्राप्त कर सका होता। यही कारण है कि अंग्रेजी साहित्य के स्वर्णयुग में कोई भी उपन्यास ऐसा महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सका जैसा शेक्सपियर के नाटक 'मैकबेथ' अथवा 'किंगलियर' को प्राप्त हुआ।[2]

---

1. "Our admirable princess studied the duties of those whose lives make-up history; there she insensibly lost the taste for romances and for their insipid heroes, and, excess to form herself upon truth, she despised those cold and dangerous fictions.

   —ROBERT LIDDEL : *A Treatise on the Novel*, p. 13.

2. Strangely enough, both in Greek and English literature the beginnings of the novel belong to the aftermath of greatness, in Greece the romance appeared only in the Alexendrine Period of decline, in Elizabethan England it was alighted by those writers who are the glory of the age. Had Marlowe, Shakespeare or Webster written novels, it is likely they would have anticipated Dostoesky and the English novel would have matured as the Russian did. As it is, we have no novel of equal power and significance to set beside Shakespeare's 'Macbeth' and 'King lear'—S. DIANA NEILL : A *Short History of English Novel*, pp. 13-14.

उपन्यास के प्रति हीनता का भाव 'जेन ग्रास्टिन' की नार्थेन्जर एबै, नामक पुस्तक में ग्राए हुए परस्पर संवाद में भी परिवर्तित होता है। उसमें एक ग्रविवाहिता युवती एक उपन्यास पढ़ती हुई देखी जाती है। उससे प्रश्न किया जाता है कि वह क्या पढ़ रही है ? इस प्रश्न के पूछे जाने पर वह बड़ी लापरवाही ग्रौर ऊपर से उदासीनता एवं लज्जा का भाव दिखाते हुए पुस्तक को एक ग्रोर रखती हुई कहती है," ग्रोह ! यह केवल (ऐसा-वैसा) उपन्यास[1] है -" विचारों की यह कैसी विडम्बना है ; जिस ग्रन्थ में मस्तिष्क की महत्तम शक्ति का उद्‌घाटन किया गया हो, जिस ग्रन्थ में उत्तम कोटि की भाषा में मानव स्वभाव का पूर्ण ज्ञान, उसके प्रकारों का सर्वोत्तम विवेचन ग्रौर वाग्वैदग्ध्य तथा रसिकता का सुन्दर सम्मिश्रण संसार के लोगों पर प्रकट किया गया हो, उस पुस्तक का परिचय हलके रूप में केवल इसलिये दिया जाय कि वह केवल एक उपन्यास है।

ग्राधुनिक साहित्य में उपन्यास का महत्व

उपन्यास के ग्रारम्भ में उपन्यास के प्रति साहित्य-शास्त्रियों की उपेक्षा होते हुए भी कालक्रम के प्रभाव से उपन्यास ने ग्राधुनिक साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। संभवतः इसका कारण यही है कि उपन्यास ग्राधुनिक मानव जीवन के जितना सन्निकट है, उतनी साहित्य की ग्रन्य कोई भी विधा महीं है। प्राचीन काल में मानव समाज के लिए जो महत्व महाकाव्य का था, एलिजाबेथ ग्रौर विक्रमादित्य के युग के निवासियों के लिए जो महत्व

1 "And what are you reading, Miss ?" Oh ! it is only a novel ? replies the young lady; while she lays down her book with, affected indifference, or momentary shame.'' It is only 'Cecilia or' Camilla' or 'Belinda; or, in short, only same work in which the greatest powers of the mind are displayed in which the most thorough knowledge of human nature, the happiest delineation of its varieties, the liveliest effusions of wit and humour, are conveyed to the world in the best chosen language.

—JANE AUSTEN : *Northanger Abbey*

नाटक का था उससे कहीं अधिक महत्व आज के युग में उपन्यास को प्राप्त हो रहा है।[१]

हरिजनों के अधिकार आन्दोलन की भांति अपने किसी प्रकार के आन्दोलन को चलाये बिना ही उपन्यास स्वीय गुणों के कारण सर्वप्रियता प्राप्त कर रहा है। अब वह केवल मनोरंजन को ही वस्तु नहीं है, अपितु साहित्य की अन्य गम्भीर विधाओं की भाँति यह भी अनेक दृष्टियों से चिन्तन एवं विवेचन का विषय बन रहा है। प्रारम्भिक काल में उपन्यास लेखक के समक्ष जीवन सम्बन्धी कठिनाइयाँ अपेक्षाकृत अधिक थीं। वह केवल एक साहित्यिक मजदूर ही होता था। हिन्दी के उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द जी को जीवन-निर्वाह के लिए कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं, यह आज के साहित्य प्रेमी से छिपा नहीं है। काम छोड़ कर वे कहीं भी इस डर से न जा सकते थे कि बिना काम किये वे खायेंगे क्या ?[२] पर अब वैसी स्थिति नहीं है। उपन्यास-साहित्य के बढ़ते हुए प्रचार ने उपन्यास लेखक के महत्व को भी संवर्द्धित किया है। आज वह आर्थिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा अपने को कहीं अधिक सम्पन्न पाता है।

वर्तमान विश्व साहित्य में उपन्यास अब अंगों से अधिक प्रचारित हुआ है। 'नोबुल पुरस्कार' के विजेता अधिकांश उपन्यास लेखक ही हुए[3] हैं। यह मानी हुई बात है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति उस वस्तु की आवश्यकता तथा उसके प्रति जनता की रुचि के अनुसार ही होती है। उपन्यास साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि इसका प्रमाण है।

संसार में जो क्रन्तियाँ हुई हैं, उनका श्रेय उपन्यास साहित्य को है। सन् १८७९ ई० में फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति तथा सन् १९०५ ई० की रूसी लाल

---

1 "The Novel probably comes closer to the lives of modern man than any other type of literature. What the epic was to men of the olden time, what the drama was to the Elizabethan's, the far more inward, mofe analytical novel is to us."

२ 'प्रेमचन्द के पत्र'—'विशालभारत' (पं० बनारसीप्रसाद चतुर्वेदी)

३ विनोद शंकर व्यास 'उपन्यास-कला', पृष्ठ ८८
नोबुल-पुरस्कार (साहित्य) विजेता सूची।

क्रान्ति इसके उदाहरण हैं। रूसो, वाल्टेयर, गोर्की आदि उपन्यासकारों की रचनाओं का ही यह परिणाम[१] था।

उपन्यासों का मानव-जीवन से बहुत निकट सम्बन्ध है। जीवन की उलझन का यथार्थ चित्रण करना ही आधुनिक उपन्यासकारों का उद्देश्य रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि अपनी जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के प्रति विशेष रूप से रहती है। अतएव यह स्वाभाविक है कि उपन्यासों का महत्व उनकी दृष्टि में बहुत अधिक हो[२]।

---

१ वही, पृष्ठ ८८

(i) रूसो-वाल्टेअर—फ्रांस की राज्य क्रान्ति की आग सुलगाने वाला (ही फैन्ड दि फायर आव फ्रेन्च रिवोल्यूशन) "ईश्वरवादिता, ईसाई आचार शृंखला, परंपरा की अतर्क्य शक्ति, प्राकृतिक कानून आदि की आधार शिला हिल गई जब वाल्टेअर ने अपने लेखों और व्यंग्य कविताओं, गद्य तथा पद्य रचनाओं, प्राकृतिक कानून पर कविता, तथा रूसो ने अपने 'विचारों' (१७५०-१७५५) और 'एमिल' (१७६२) द्वारा सबल आघात किया। दोनों ने अपनी कृतियों में अपने नये विचारों एवं आचारों की शिला रखी।"

—भगवतशरण उपाध्याय विश्व-साहित्य की रूप रेखा, पृ० ३८६-३८७

(ii) गोर्की—रूसी क्रान्ति यज्ञ का सफल पुरोहित। "दि मोस्ट आउटस्टैन्डिंग रिप्रोजेन्टेटिव आव रशन सोवियट लिटरेचर ए कन्सीडेरेबुल पोर्शन आव हूज वर्क बिलोंग्स टु दि सोवियत पीरियड (गोर्की डाइड इन १९३६) प्लेड एन एक्सेप्शेनली ग्रेट रोल इन दि फार्मेशन आफ सोवियत लिट्रेचर।

(—यू० एस० एस० आर० रेफ्रेन्सबुक पृष्ठ २३२)

२ 'गोर्की के प्रथम उपन्यास 'फोमा गोरदेयेव' में ऐसे चरित्रों का चित्रण है जो आर्थिक व्यवस्था के कारण कुचल दिये गये थे, किन्तु उनमें स्वतन्त्रता की भावना जागृत थी।....प्रगतिशील रूसी समाज में लोग गोर्की को क्रान्ति का सन्देश वाहक समझने लगे थे। गोर्की बोलशेविको के निकट आया और १९०५ ई० की क्रान्ति में उसने सक्रिय योग दिया।....उसके उपन्यास 'माँ' (१९०६) ने रूस के श्रमिकों के आन्दोलन पर अच्छा प्रकाश डाला। उसमें श्रमिक वर्ग की अन्तिम विजय में पूर्ण विश्वास व्यक्त किया गया है। 'मां' उपन्यास में एक पात्र कहता है—"रूस

उपन्यास वर्तमान काल की सबसे बड़ी साहित्यिक देन है। 'वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। सामाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं[१]।'

उपन्यास आज के युग में साधारण जन-जीवन का जीवित शास्त्र है। उसका गठबन्धन साहित्य की अन्यान्य विधाओं के साथ हो गया है। उन सब के सहयोग में उपन्यास अब न तो कल्पना का खिलौनामात्र कहा जा सकता है और न निठल्ले लोगों के लिये समय बिताने का एक हलका साधन। इस समय उपन्यास अपने पाठकों के लिये भोजन और चाट के साथ-साथ दिमागी 'टानिक' भी बन रहा है। उसके द्वारा मनोरंजन के साथ ही साथ मस्तिष्क के लिये विचार भी प्राप्त होते हैं। संसार की सभी समस्याएँ उपन्यास की सीमा में सिमिट आई हैं और उपन्यास का साधारण पाठक भी संसार की किंडरगार्टन की पाठशाला का विद्यार्थी बन गया है।

साहित्य-कर्म जीवन का सशक्त अंग है। अपने समय की सभी प्रकार की क्रियाशीलता पर विचार किए बिना कोई भी जीवन की पूर्णता प्राप्त करने का दम नहीं भर सकता। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक के लिये आज का विज्ञान अतीत के विज्ञान से कहीं बढ़ कर है और जिस प्रकार अपने समय की राजनीति का महत्व एक राजनीतिज्ञ के लिये बीते हुए समय की राजनीति से कहीं बढ़ कर होता है, उसी प्रकार आज के विद्वान को भी अपने समय के साहित्य का महत्व समझना आवश्यक हो गया है।[२] सच तो यह है कि साहित्य और जीवन के

संसार का सबसे स्पष्ट और निश्चित जनतंत्र होगा।" उसकी भविष्य वाणी सत्य हो कर ही रही।

—विनोद शंकर व्यास 'योरोपीय उपन्यास साहित्य', पृ० १२५-६

१ **रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास',—पृ० ५३६**

2 "Literary activity is a vital part of life; no man can live fully without taking every kind of contemporary activity into account. Just as contemporary science matters more to the scientist than the science of the previous ages, and contemporary politics is of more interestto the politician than the policy of walpole or the ideas of elder Pitt, so contemporary literature should be of primary importance to the men of letters."—DAVID DAICHES : *New Literary Values*, P. 14.

सम्बन्ध को समझ लेने के पश्चात् साहित्य का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली द्वारा पाश्चात्य देशों—विशेषकर फ्रांस और रूस में एक ऐसा वातावरण निर्मित हुआ जिससे वहाँ उपन्यास-रचना को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। काल क्रमानुसार इस साहित्य का प्रभाव भारत पर भी पड़ा।

प्रजातन्त्रात्मक शासन-विधान देशव्यापी शिक्षा-प्रसार को सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है। फ्रांस के तीसरे प्रजातन्त्र ने इसके महत्व को समझा। वहाँ राज्य ने शिक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। सर्वत्र पाठशालाएँ स्थापित की गईं और शिक्षा को निःशुल्क कर दिया गया।[1] धर्म-निरपेक्ष वातावरण में समस्त फ्रान्सीसी जनता ने अपने को पूर्ण-शिक्षित करना तथा अपने आस-पास एक स्वस्थ, बौद्धिक वातावरण की सृष्टि करना अपना पुनीत कर्तव्य समझा। इस प्रकार बौद्धिक क्षेत्र में वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना हुई।

बौद्धिक वातावरण में साहित्यिक एक वैज्ञानिक की भाँति प्रयोगात्मक विधि को अपनाता है। जो अपने आसपास है उसी से साहित्य के उपादानों का संग्रह करता है। फ्रान्स की बौद्धिक स्वतन्त्रता के इस आन्दोलन का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा जो साहित्य में सबसे अधिक उपन्यास के क्षेत्र में परिलक्षित हुआ। उपन्यासकार सर्वत्र मानव जाति का वैज्ञानिक पर्यवेक्षक बन गया।[2] प्रसिद्ध उपन्यास लेखक फ्लाबेयर जो एक डाक्टर का लड़का था अपने को पुरुष एवं स्त्रियों की मनोभावनाओं का व्यवच्छेद-विज्ञानी समझता था।[3]

---

1 "The French language and French Literature were given place of pride in the system; all French children had to be taught proper French; all had access to books; all that could pass the necessary examinations could go on with their studies, through the universities and into careers without having to pay anything. 'True democracy' was installed in the intellectual domain.

—DENIS SAURAT : *Modern French Literature*, P. 1.

2 The Novelist became the scientific observer of human beings.

3 *Ibid*, p. 30.

इस प्रकार उपन्यास ने अपने को श्रेष्ठ साहित्यिक विधाओं से बढ़ कर सिद्ध किया।

रोमांटिक युग में कविता प्रमुख थी। भद्रता का स्वांग भरने वाले लोगों के बीच में उपन्यास को घृणास्पद समझा जाता था। स्वयं फ्रांस में भी यूजेन स्यू एवं बाल्ज़ाक जैसे उपन्यासकारों को प्रेस एवं आलोचकों दोनों से ही कड़ा मोर्चा लेना पड़ा पर वे अपनी प्रखर प्रतिभा एवं रचना के प्रचुर परिमाण के बल पर उपन्यास को साहित्यिक रूप देने में सफल हुए[1]। इस क्षेत्र में एलेक्जेण्डर ड्यूमा की भी विशेष ख्याति है। वह तो उपन्यासों के उत्पादन के लिये नियमित रूप से एक कारखाने का संचालन करता था जिसमें उसने लेखक नौकर रख छोड़े थे जो कि ड्यूमा के नाम पर ड्यूमा के आदेशानुसार उपन्यास लिखते रहते थे।[2] इस प्रकार धीरे-धीरे उपन्यास सर्वप्रिय बना और उसे साहित्यिक गौरव भी प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात् फ्लावेअर ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश किया। उपन्यास को श्रेष्ठ जनों के साहित्य की श्रेणी में बिठाने का श्रेय इन्हें प्राप्त है। इनकी रचना-प्रणाली की विशेषता यह थी कि ये वाक्यों के गठन एवं उनके प्रयोग पर अत्यधिक ध्यान देते थे।[3]

इस समय पश्चिम में एक प्रकार से साहित्यिक संक्रातिकाल चल रहा था। गीत-काव्य जो रोमाण्टिक युग की एक विशेष देन थी अब अत्यधिक असहायावस्था में 'टूटे नख-रद केहरी, वह बल गयो थकाय' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा था। नाटक भी स्क्राइब ऐसे कुशल यन्त्रियों के हाथ में पड़ कर ऐसा पंगु हो गया कि वह साहित्य के क्षेत्र से ही बाहर हो गया, उसकी गणना बनावटी एवं तड़क-भड़क वाले प्रदर्शनों में होने लगी और वह पेरिस के उस उद्योग का अंग मात्र बन कर रह गया जो अब भी धड़ल्ले से चल रहा है। कतिपय सम्मानित अपवादों (केवल सम्मानित रूप में—अपवाद से अधिक

---

1 "......With his sheer genius and enormous quantity he was successful in establishing the novel as literature. *Ibid*, p. 29

2 "......Who ran a regular factory in which he has employees working to order under his signature." *Ibid*, p. 29.

3 Denis Saurat : *Modern French Literature*, p. 29.

नहीं) के अतिरिक्त नाटक तो वहीं रह गया और अब भी वहीं है।[1] ऐसी परिस्थिति में उपन्यास-रचना के समक्ष भी एक जटिल समस्या थी। पर अस्तित्व के लिये संघर्ष करता हुआ यह किसी प्रकार अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सका और तब विज्ञान का प्रवेश हुआ।

पाश्चात्य देशों का प्रारम्भिक साहित्यिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि वहाँ व्यक्ति को धर्म और साहित्य के आधार पर ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। किन्तु १७वीं शताब्दी के अन्तिम एवं १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरणों में विज्ञान का वेग बढ़ा। वैज्ञानिक विकास ने जन-जीवन में नवीन चेतना का संचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक महत्वाकांक्षी विचारक साहित्य के साथ-साथ विज्ञान पर भी कार्य करता था। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध साहित्यिक वालटेयर को वैज्ञानिक विषयों पर कार्य करने में विशेष परितोष मिलता था। इसके द्वारा विश्वविश्रुत वैज्ञानिक न्यूटन पर किया गया कार्य विस्मृत नहीं किया जा सकता। धीरे-धीरे स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि विद्वान् की संज्ञा उसी साहित्यिक-व्यक्ति को प्राप्त होती थी जो वैज्ञानिक विषयों पर भी कार्य करता था। ऐसी परिस्थिति में विशुद्ध साहित्यिक के समक्ष एक जटिल समस्या थी। वैज्ञानिक विकास-क्रम के अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार का परिणाम यह हुआ कि गीति-काव्य एवं नाटक साहित्य की ये दो शीर्ष स्थानीय विधाएँ अपना महत्व खोने लगीं। उस समय उपन्यास ही विज्ञान से होड़ ले सका। जिन नवीन उद्भावनाओं को विज्ञान ने जन्म दिया उन सभी को उपन्यास ने आत्मसात् किया। वैज्ञानिक प्रभाव से सामाजिक चेतना के जो जो रूप निर्मित हुए उन सब की विवृति उपन्यास-साहित्य द्वारा सम्भव हो सकी। इस तथ्य के प्रमाण-स्वरूप प्रसिद्ध उपन्यासकार एमिल जोला तथा गान्फोर्ट को उपस्थित किया जा सकता है।

---

1 "The drama sank to such decripitude with highly skilled technicians like Scribe that it really fall out of literature and entered into the category of meritricious shows; part of a certain Perisian industry which is still flourishing, inspite of certain honourable exceptions (no more than honourable —no more than exceptions) the drama stayed in that domain for good and all and is still in it." *Ibid*, p. 29.

इसी बीच में आगस्त काम्ते ने समाजशास्त्र का आविष्कार किया। उपन्यास-सामाजिक ज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रसाधनों का पूर्ण उपयोग करते हुए पहले से प्रतिष्ठित सभी साहित्यिक विधाओं पर हावी हो गया।[1]

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यदि फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने जन-जीवन के बीच अधिकाधिक शिक्षित होने की रुचि को जागृत न किया होता तो कदाचित् उपन्यास पाठकों को संख्या के अभाव में विशेष उन्नति न कर पाता। राज्य क्रान्ति के पाठकों की वृद्धि तो अवश्य कर दी पर वे पाठक प्रायः साधारण कोटि के थे। उनमें सांस्कृतिक चेतना की प्रायः न्यूनता थी। अतएव उस काल में कविता या नाटक-रचना की गति में विकास सम्भव नहीं हो सका। साहित्य की इन दोनों विधाओं के लिये एक विशिष्ट प्रकार की मनः स्थिति तथा वातावरण की अपेक्षा होती है। पर उपन्यास का पठन-पाठन अपेक्षाकृत कुछ भिन्नता रखता है। उसे चलते-फिरते अथवा साधारण रूप से अपने कार्यों को पूरा करते हुए भी पढ़ सकते हैं। किन्तु कविता या नाटक के सम्बन्ध में ऐसा सम्भव नहीं है।

युगीन चेतना के परिणाम स्वरूप साक्षरता तो बढ़ी पर गम्भीर अध्ययन के प्रति साधारण जनता की रुचि न थी। वह किसी विचार-प्रधान साहित्यिक रूप को अपनाने में असमर्थ थी। जनता की इस मनोदशा ने भी उपन्यास को बड़ा बल प्रदान किया। विश्व साहित्य में उपन्यास के महत्व की प्रतिष्ठा सर्वत्र इसी क्रम से हुई है। इसके द्वारा सर्व साधारण का मनोरंजन हुआ। साथ ही सामान्य जीवन के लिये हलके रूप में कुछ विचार भी प्राप्त हुए।

प्रायः पच्चीस वर्ष पूर्व तक उपन्यास का पठन-पाठन समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था और उपन्यास लेखक को किस्सा—कहानी लिखने वाला मानकर कोई विशेष सम्मान नहीं प्राप्त होता था। इस स्थिति पर यदि हम यत्किंचित गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। युवकों के मस्तिष्क प्रायः अपरिपक्व होते हैं। उपन्यास साहित्य की काल्पनिकता उनके यथार्थ जीवन में कहीं विकृति का संचार न कर दे इसी आशंका से उपन्यास का अध्ययन वर्जित किया गया। अँग्रेजी के कतिपय प्रसिद्ध विद्वान् इस साहित्यिक विधा के जन-प्रिय होने के कारण विरोधी थे। गोल्डस्मिथ (दि विकार आफ वेकफील्ड का लेखक) उपन्यास

1 So the novel scored over the genre Noble. *Ibid*, p. 30.

को किसी लड़के के हाथ में न पड़ने देने के लिये माता-पिता को चेतावनी देता है क्योंकि वह इसे समय और कल्पनाशक्ति का विनाश करने वाला तथा नवयुवकों को भुलावे में डालने वाला समझता था[1]। मेरी वार्टले माण्टेग् उसमें पाठकों की दुहरी हानि देखती थी। उनके अनुसार उपन्यास के पढ़ने में समय और धन दोनों का अपव्यय होता था।[2]

किन्तु अब स्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो गई है। अब तो उपन्यास, साहित्य की मान्यता प्राप्त विधा ही नहीं है, वरन् कल्पना में भटकती हुई कविता और रंगमंच में उलझे हुए नाटक को पीछे छोड़कर वह सर्व-साधारण का प्रतिनिधि साहित्य बन गया है।

उपन्यास आधुनिक सभ्यता की देन है। बाह्य जीवन की आवश्यकताओं को समग्ररूप में चित्रित करने वाला यह ऐसा एक साहित्य-रूप है, जो अपने पूर्व की कई साहित्यिक परम्पराओं को आत्मसात् करते हुए भी अभिनव आकर्षण के साथ प्रकट हुआ। उसने मनुष्य के क्रिया-कलाप को चित्रित करते समय यह भी दिखलाया कि किसी चरित्र के जीवन में घटित होने वाले कार्य-व्यापारों

---

1 Above all things never let your son touch a novel of romance. How destructive are those pictures of consummate bliss! They teach the youthful to sigh after beauty and happiness that never existed; to despise the little good that fortune has mixed in our cup, by expecting more than she ever gave; and in general—take the word of a man who has seen the world and studied it more by experience than by precept, take my word for it. I say, that such books teach us very little of the world.

—GGLDSMITH : *Dictioneary of English Thought.*

2 Writers of novels and romance in general bring a double loss on their readers,—they rob them both of their time and money; representing men, manners, and things, that never have been nor are likely to be; either confounding or perverting history and truth, inflating the mind, or committing violence upon the understanding."

—LADY WORTLEY MONTAGUE : *Ibid.*

को रोचकता प्रदान करने वाला वह जीवनोद्देश्य है जिसके लिये मानव जी रहा है और मर रहा[१] है।

उपन्यास आज के युग में साहित्य का सर्वप्रिय अंग है। उसमें कला अपने पूरे सौन्दर्य के साथ आती है जिसमें विचार का पूरा-पूरा बल तथा जीवन-दर्शन के साथ ही साथ उत्सुकता-पूर्ति एवं मनोरंजन का मसाला भी रहता है, ये सब कार्य एक साथ होते हैं पर कोई कह नहीं सकता कि लेखक का आकर्षण अथवा आग्रह अमुक वस्तु की ओर अधिक है। विद्वज्जनों की सभा में बैठकर सहृदय सरस और समझदार व्यक्तियों को लेकर जैसी बात का क्रम चलता है कुछ इसी प्रकार का क्रम उपन्यास की रचना में होता है उपन्यास को हम एक अत्यन्त कुशल सभा चतुर की बात का साहित्यिक लिखित रूप समझ सकते हैं।

इस प्रकार उपन्यास नये युग की नयी अभिव्यक्ति का नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध में यह एक अखण्ड सत्य है कि वे व्यक्ति और युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते हैं। विश्व में कथा-कहानी की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितना स्वयं मनुष्य है। प्रगति के प्रत्येक नये चरण ने नया युग दिया। उसने नया मानव ढाला, जिसकी अभिव्यक्ति के नये रूप खड़े हुए। कथा-कहानी की मौलिक प्रवृत्ति ही सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी (हिन्दी साहित्य में तो बड़ी देर के बाद उन्नीसवीं शताब्दी) में उपन्यास के रूप में प्रस्तुत हुई।

आधुनिक युग से पूर्व का युग 'भूमि-निर्भर-युग' था, जिससे व्यक्तित्व और उसका कृतित्व बहुत सीमित था, और प्रकृति के भरोसे था। आधुनिक युग में कृतित्व की प्रधानता हुई। पहले युग में एक अनोखा स्थायीपन और स्थिरता थी जो मनुष्य को नवीनता से विरक्त करती थी और परम्परा का अन्धभक्त बनाती थी—मनुष्य के कर्तव्य के विकास से यह दृष्टि बिलकुल बदल गई और अब वह नूतनता को महत्व देने लगा। स्थायित्व और स्थिरीकरण से उसे विरक्ति होने लगी। एक नूतन सृष्टि के लिए भावना उसमें उठी—समस्त विश्व शनैः शनैः उससे अनुग्राहित हो उठा। उपन्यास ठीक इसी नूतनता की प्रतिकृति है और इसीलिये अंग्रेजी में इसे ठीक ही 'नावेल' कहा जाता है।

युग की आवश्यकता और नवलता के प्रयोग ने सबसे पहला काम तो यह

---

१ **विजयशंकर मल्ल (उदय-काल) आलोचना, अक्तूबर, ५४, पृ० ६४**

किया कि जहाँ कथा-कहानी के व्यक्ति को कल्पना-जगत से हटा कर यथार्थ-जगत का प्राणी बनाया, वहाँ उसने मानव-मन ने व्याप्त दैवी प्रकोप तथा भूत-प्रेतादि के आतंक-चक्र का भी उद्भेद कर दिया। उसमें उत्थान और पतन के तत्व समाविष्ट हुए। मानवीय दुर्बलताएँ और मानवीय सबलताएँ सभी आईं। पर सबसे अधिक इस प्रयोग में जो तत्व प्रधान हुआ था, वह सीधे वैज्ञानिक युग की प्रकृति की देन था—मानव का अनुसंधान। प्रकृति के नये आविष्कारों के नये परिणाम सामने आ रहे थे। मनुष्य को भी इस वैज्ञानिक परीक्षण का विषय बनाया गया, जिससे नृविज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि अनेकानेक विज्ञान खड़े हुए। ये सब मनुष्य के भौतिक पक्ष के अध्ययन थे। परन्तु इस अध्ययन से मानव कुछ का कुछ रूप ग्रहण कर रहा था, वह स्वयं अपनी ही दृष्टि में कुछ और होने लगा था—और तब उसके सामाजिक पक्ष पर भी अनुसंधानात्मक दृष्टि पड़ी। वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से ही उन क्षेत्रों का अनुसंधान किया गया। इस अनुसंधान से मानव के भौतिक एवं सामाजिक तत्वों का तो पता चला, पर स्वयं सजीव मानव लुप्त हो गया। सबसे बड़ी आवश्यकता इसी मानव को समझने, उसे पहिचानने, उसकी शक्तियों को तौलने, उसकी प्रवृत्ति, बुद्धि और रूप के यथार्थ अनुसंधान की थी और ऐसे अनुसंधान की आवश्यकता थी कि जिसमें मानव खो न जाय। यह काम उपन्यास ही कर सकता था, क्योंकि उसका माध्यम गद्य था, जो अपने स्वरूप और अभिप्राय में व्यवसायात्मक तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति वाला है। साथ ही उसका आधार कथा-कहानी थी, जो वैज्ञानिक अनुभव, प्रतीक-योजना तथा गणित-मेधा के अनुकूल थी। गणित में जो काम बीजगणित करता है वही काम मानव-जगत में उपन्यास करता है।

उपन्यास की प्रक्रिया वैज्ञानिक है अवश्य पर इसमें न तो वैज्ञानिकता का आरोप रहता है और न उसकी-सी शुष्कता। उसके द्वारा मानव का अध्ययन सरस मानवीय सम्बन्धों की जटिल परिस्थितियों की परख में से यथार्थ-भूमि पर किया जाता है। इसी हेतु यह अत्यधिक रोचक तथा 'आइना' के समान उद्वेगकारी भी सिद्ध हुआ है।

उपन्यास अपने निर्माण-तत्वों के आधार पर राग-विराग के सूत्रों से संयुक्त होता है। स्वभावतः ही इसमें काव्य तत्वों का अत्यन्त सामान्य तत्व व्याप्त रहता है। फलतः उपन्यास इस नये युग का सबसे अधिक संभावनाओं से युक्त

रूप है—जिसमें आधुनिक साहित्य समृद्ध हुआ और हो रहा[१] है। मानव की समग्रता की ओर उत्सुक गद्य-महाकाव्य उपन्यास ने बीसवीं शताब्दी तक पहुँचकर एक स्वर्ण-युग की प्रतिष्ठा की है। युद्धोत्तर विश्व-उपन्यास की भूमिका इसकी प्रत्यक्ष साक्षी है। विश्व-साहित्य में उपन्यास का स्वर्ण-युग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही होता है। इसमें रूसी, फ्रांसीसी, जर्मनी, अमरीकन तथा अंग्रेजी साहित्य ने योग दिया। इस दिशा में बंगाली, हिन्दी, मराठी, उत्कल, गुजराती, उर्दू का भी सहयोग समान रूप से उल्लेखनीय है।[२] इसी युग में उपन्यास के विश्वव्यापी साहित्यिक महत्व की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हुई। इसीलिये श्री वाल्टर एलन का भी यही कथन है कि काल्पनिक रचनाओं का सबसे अधिक महत्वपूर्ण माध्यम उपन्यास ही है।[3]

उपन्यास सबसे अधिक प्राणवती साहित्यिक-विधा

आधुनिक युग में उपन्यास सब से अधिक प्राणवान् साहित्यिक स्वरूप सिद्ध हो रहा है। जो भी प्रतिभासम्पन्न लेखक कल्पनात्मक साहित्य की ओर झुकता है वह अपने विश्वास और भावनाओं को व्यक्त करने के लिये, अपने अनुभव

---

१ डा० सत्येन्द्र, एम० ए०—साहित्य संदेश आधुनिक उपन्यास अंक, —पृष्ठ ५, ६, १२।

२ विभिन्न भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यासकार निम्नांकित हैं :—

रूसी—तुर्गनेव, टालस्टाय, दोस्तोव्स्की, चेखव।

फ्रांसीसी—मार्शल प्रूस्ट, आंद्रे जिद, रोमारोलां, फ्लावेयर, बालजाक।

जर्मनी—टामसमेन, भासरमान।

अमरीकन—मार्क ट्वेन, हेनरी जेम्स, हेरियट स्टो।

अंग्रेजी—डिकेन्स, हार्डी, थैकरे, सैमुएल बटलर।

बंगाली—बंकिम, शरत्।

मराठी—हरीनारायण आप्टे।

हिन्दी—प्रेमचन्द।

उत्कल—फकीरमोहन सेनापति

गुजराती—रमणलाल बसन्तलाल देसाई।

उर्दू—अब्दुल हलीम।

3 It is the novel which is the most important vehicle of imginative writing of our time.

को उचित रूप से काम में लाने के लिये अथवा दूसरों के अनुभव को प्रभावात्मक रूप में प्रस्तुत करने के लिये इतने स्वाभाविक तथा अनिवार्य रूप से उपन्यास रचना की ओर उन्मुख होता है कि जिस स्वाभाविकता एवं अनिवार्यता से वह साँस लेता है। किसी भी देश के निवासियों की मूलभावना जितनी नाटक और कविता में नहीं आ पाती उससे कहीं अधिक उसके उपन्यासों में उद्घाटित होती है[1]। जैसे-जैसे समय बदलता है लोगों की प्रवृतियाँ बदलती हैं और एक समय में भी अवस्था-भेद से जैसे लोगों की रुचि का परिवर्तन और परिष्कार होता रहता है उसी प्रकार एक समय की रचनाएँ अथवा एक ही लेखक की भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए लिखी गई रचनाएँ भी बदलती रहती हैं। जो साहित्यिक-विधाएँ आधुनिक-युग से प्रथम सर्व-प्रिय थीं वे आज के संसार में सर्व-प्रिय न रह सकीं। फलतः जो कल तक उत्तम कोटि का अन्तिम प्रयास-सा '(विधा-विशेष की चरम सिद्ध वाला रूप)' माना जाता था आज उसके आगे विज्ञान, मनोविज्ञान तथा ज्ञान के अन्य अंगों को समेट कर आत्मसात् करता हुआ अतः जीवन की पूर्णता को निकट से दिखाता हुआ उपन्यास सर्वप्रिय एवं सबसे अधिक प्राणवान् साहित्यिक-विधा का सम्मान प्राप्त कर रहा है संसार में जन्म, मृत्यु, बचपन, किशोरावस्था, तरुणाई, अधेड़पन एवं वृद्धावस्था, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि के रूप में जीवन की विविधता के दर्शन उपलब्ध होते हैं। बहुरंगी जीवन की प्रमुख घटनाएँ एवं कृतियाँ अपने महत्व के अनुसार इतिहास के पृष्ठों पर अंकित होती रहती हैं। साधारणतः सामान्य-जीवन तल पर भिन्न-भिन्न वेश-भूषाओं के नीचे वही हृदय की धड़कन, वही सुकुमार भावनाएँ, वही

---

1 "The novel to-day is the most vigorous of all literary form's It obviously takes precedence over all others...The novel is the form in which our culture has most often sought expression, it is the only form that seems able to express our experience, and there is nowhere any sign that its power or will is slackening. In no country whose culture seeks expression in literature is there any sign of decadence. Every where to-day the novel comes so close to being the whole imaginative literature that distinction in any other form is so frequent as to cause surprize.

—BERNARD DE VOTO: *The World of Fiction*, P. 296

सामाजिक निष्ठुरता, वही नारीत्व की पूजा, रमणीत्व का विलास और उन सबके पीछे सबसे दूर कुतूहल से आरम्भ होकर ब्रह्मज्ञान तक की ऊँचाई पर पहुँचा हुआ आध्यात्म यथावसर परिलक्षित होता रहता है। जीवन की गति-मयता का यह विस्तार अणु-परमाणु में सर्वत्र किसी न किसी रूप में व्याप्त अवश्य है। पर इतिहास इस विस्तृत व्यापार को अपने अंचल में बाँधने का प्रयास नहीं करता। वह तो केवल जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का ही आकलन करता है।

उपन्यास जीवन की उपासना है। इसमें हम जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। जीवन का सम्पूर्ण रूप अपनी वासना की बास के बिना इसमें पूजा-स्थान की सी पवित्रता रखता है। जीवन में जीव और परमेश्वर दो ही तो होते हैं, पर उपन्यास में जीवन-जीव और जीवनेश्वर परमात्मा तीनों ही देश, काल, (फोरडाइमेन्शन्स) की माप में रहते हैं। उपन्यासकार कल्पना के राज्य का सृष्टा होता है। उसकी लेखनी से प्रसूत जीवन-तथ्य अनुभूति की गोद में पलते हैं। जिस प्रकार उपासना का क्रम हमें भगवान् तक पहुँचाने का साधन सिद्ध हो सकता है, हमें 'कदम की छाँह में खड़े हुए भगवान् के रूप की झांकी दिखा सकता है उसी प्रकार उपन्यास हमें जीवन तक पहुँचाता है और मानव के स्वरूप के सौन्दर्य का दर्शन कराता है।

जो प्रत्यक्ष है वही तो जीवन है—और जो अप्रत्यक्ष है वह भी जीवन का अभिन्न अंग है—एक के लिये जीवन शीशा है और दूसरे के लिये रहस्य का भण्डार। सत्य दोनों में है। स्वयं सत्य कितने सापेक्षिक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उपन्यास केवल-जीवन के प्रत्यक्ष को ही लेकर नहीं चलता, पर जो दिखाई भी नहीं पड़ता उसको भी पत्रों-डायरियों और स्वगत तथा चरित्र-विशेष के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के रूप में बांधता हुआ-सा चलता है। यदि हम विराट् की आँखों से उसी के हाथों पर रखे हुए एक समय के निकले हुए सब उपन्यासों को एक-साथ पढ़ सकें तो हम जीवन के सर्वांगीणता के अधिकांश का परिचय तुरन्त पा जायँ, पर प्रायः हम पेड़ गिनते-गिनते जंगल को भूल जाते हैं और किसी घने झुरमुट को ही जंगल का प्रतिनिधि नहीं, जंगल ही मान बैठते हैं।

जीवन की व्यर्थता के प्रति क्षणिक वैराग्य श्मशान में जाकर होता है। तब हम किसी न किसी को खोकर अपनी सुप्त चेतना को झकझोरने

का अवसर पाते हैं। उपन्यास में हमारी सुप्त चेतना झकझोरें पाती है पर किसी को खोकर नहीं। कल्पना में वास्तविकता की पुट मिल कर पाठक को कुछ समय के लिये आन्तरिक रूप में सजग कर देती है और वह संसार से अनजान, पर अन्तर में सक्रिय भासमान होते हुए कुछ ज्ञातव्य तथ्यों को हृदयंगम करने का अवसर पाता है। उपन्यास समाप्त करके मानों वह चेतना के आवरण से बाहर हो जाता है। पर जब तक उपन्यास के भीतर रहता है तो वह—"कूर्मोऽङ्गा नीवसर्वशः" की भाँति अन्तर्मुखी वृत्ति से जीवन व्यापार को उसी में पैठ कर अधिक निकट से देखता है, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सहारे समझता है और अपने सीमित साधनों के प्रयास से सुधारने की चेष्टा भी करता है। यह सब कुछ करते हुए भी वह अपना कुछ खोता नहीं। पर यदि उपन्यास किसी को शराब के नशे की भाँति केवल अपने में भुला भर लेता है—और अन्तिम पृष्ठ तक पहुँचते-पहुँचते उतरे नशे की-सी खुमारी का-सा अनुभव कराता है तो वह पाठक के अमूल्य समय और धन के अपव्यय का कारण बनता है। तथ्य तो यह है कि एक सफल उपन्यास जीवन का भाष्य रूप होता है।

स्वयं मानव होने के नाते हम मानव स्वभाव के अध्ययन में विशेष रुचि रखते हैं। पर साधारण जीवन-क्रम में बहुत कम लोगों के साथ हमारा अन्तरंग परिचय होता है—अथवा उनके आचरण को पूर्ण रूप से समझने की बात तो बड़ी दूर रही। वस्तुतः हम स्वयं अपने को यथार्थ रूप में विरले ही अवसर पर समझ पाते हैं। कथा साहित्य हमें यह अवसर देता है कि जितना हम वास्तविक जीवन से अन्य मानव प्राणियों के विषय में नहीं जान पाते उससे कहीं अधिक अन्तरंगता के साथ हम मानव-प्राणियों में प्रतिनिधि रूपों से परिचय प्राप्त करते हैं; और यह परिचय आत्मीयता का वैसा ही पूर्ण परिचय होता है जैसा कि वैयक्तिक-जीवन में आने वाले आत्मीय जनों का। उपन्यास मानव-मन के अन्तराल में प्रवेश करने की लालसा को पूर्ण करने में सहायक होता है। इस प्रसंग में हमें जार्ज बर्नार्डशा के एक कथन का स्मरण हो रहा है। सन् १८८० के आस-पास पाश्चात्य देशों में नाटक की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ विशेष सजग हो उठी थीं। उसमें जीवन के विकासोन्मुख वर्णन का प्रायः अभाव हो गया था। पर साहित्य क्षेत्र में इब्सन (१८२८–१९०६) के प्रवेश ने नाट्य साहित्य को पतन के गह्वर-गर्त

में गिरने से बचा लिया। उसने उसमें जीवन-संचारणी शक्ति का समावेश किया। उसके इस कृतित्व की प्रशंसा करते हुये बर्नार्डशा ने कहा था—कि इब्सन के नाटकों द्वारा जीवन पर पड़ने वाला प्रकाश समवेत रूप में प्राप्त हुआ है[१]। उपन्यास-रचना-विधान के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही घटना हैं। प्रारम्भिक उपन्यास रोमांच के क्षेत्र में परिभ्रमण करते हुये अलौकिकता के विधान में ही अपना कृतित्व आंकते थे। एक कहानी मात्र उपस्थित करना उनका उद्देश्य था। पर नव-जागृति-काल ने उपन्यास द्वारा प्रेरणा-प्रदायक जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की।

आधुनिक काल के प्रथम श्रेणी के औपान्यासिकों में गिनी जाने वाली एलिजावेथ बोवेन ने उपन्यास के उद्देश्य को प्रकट करते हुये कहा है :——

"यह काव्यात्मक सत्य का अकाव्यात्मक वक्तव्य होता है, लेकिन कहानी का कथानक" अपने में ही अकाव्यात्मक वक्तव्य है, वे किसी भी काव्यसुलभ छूट की मग नहीं कर सकता। जिस क्षण से उसकी अनिवार्यता अथवा एक-मात्र सम्भाव्यता परिलक्षित होने लगती है, उसी क्षण से उसे 'तर्कमात्र', के सहारे चलने के लिये विवश हो जाना पड़ता है। "काव्यात्मक सत्य का सार यह है कि उसका कोई भी वर्णन अन्तिम नहीं हो सकता।" कथानक कृतिकार के यथार्थ अनुभव की पकड़ को भी अभिव्यक्त करता है। जैसा एलिजाबेथ बोवेन ने कहा है—"कथानक भाषा की क्रिया और क्रिया की भाषा है।" उपन्यासकार हमारे सामने घटनाओं का अनुवाद प्रस्तुत करता है स्वयं घटनाओं को नहीं, और सत्य के अपने इस अनुवाद को प्रत्तुत करते समय वह हमें उसकी अनुभूति भी अर्पित करता है। उपन्यास के रूप विधान में ही यह आवश्यकता निहित है कि बाह्य जगत के सामने एक विश्वास योग्य दर्पण प्रस्तुत कर दिया जाय और साथ ही यह भी कि उसमें पड़ने वाली प्रतिच्छवि में कुछ ऐसा अर्थ भरा जाय जो बाह्य जगत में नहीं है।[२] लुई मैकनीस ने कविता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह जीवन के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया को लिपि-बद्ध करने का बहुत वारीकी से काम करने वाला यन्त्र है। उपन्यास भी काव्य की एक शाखा है। यह कथानक एवं चरित्र के माध्यम से उन तथ्यों की अभिव्यक्ति है जो जीवन-व्यापार के सम्वन्ध में उपन्यासकार की खोज रूप होते हैं।....एक

1 WALTER ALLEN : *Reeding a Novel* P. 13–14.

२ **आलोचना (उपन्यास अंक) पृ० २३२**

अच्छा उपन्यास उपन्यासकार की अपनी स्वयं की खोज-का दिव्य प्रकाशित रूप होता है।[1]

उपन्यास जीवन के अनुभव का नवनीत

उपन्यास जीवन के अनुभव का नवनीत प्रस्तुत करता है। प्रसिद्ध विद्वान बर्नार्डड बोटो के शब्दों में उपन्यास मानव के अनुभव की परिधि को बढ़ाता है। वह जादू के खेत की तरह जीवन के परत पर परत उधेड़ कर हमारे सामने रखता है।[2] यथार्थ जीवन की अपेक्षा उपन्यास में चित्रित जीवन कहीं अधिक सुस्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक होता है।

---

1 "A good novel is always the revelation of the novelist's own self discovery." —WALTER ALLEN : *Reading a Novel*, P. 21–22

2 "Novels increase the circumferenee of our experience. They talescope life times into reading time and so open more lives to us than the span of our days...Part of what we know about man and his estate come to us through the gate that fiction opens. For a moment there has been a heightening; the flame has burned hotter and given more light. Whether it shines on life's horror, its mediocrity or its fortitude, something has been added to us. We have learned much when we have looked at a page and found people caught up in circumstance.

"The magic operation goes further. Not only psychiatry strips away successive layers. To the shock of recognising a real thing and finding meaning in it , arts adds another shock for it brings us to the mist that lies beyond. If the substance of fiction is so refined that we can coast the whole shoreline of life in a few hours, and explore the wildness inland from the coast, it leads on to strangeness. If the miniatures of fiction concentrate what is to be learned in the land distant to Henry Thoheau, it concentrates the mystery all travellers came to know...levels of significance lie in strata, one below another. Life has not only been revealed, it has been criticised and appraised...under a strong light."

—BERNARD DE VOTO: *The Wortd of Fiction* P. 150–151

उपन्यास मस्तिष्क क्षेत्र में सैंते हुए अनुभव खन्डों से समय पर विकसित होने वाला जीवन-विस्तार का क्रम होता है। हम देखते हैं कि कुछ चीजें अनायास ही मस्तिष्क में घर कर लेती हैं। उनकी परत की परत सैंती रखी रहती है। और जब फिर कल्पना के प्रवाह में पूर आता है तब भावना का सैलाब अपने को पूरा डुबा लेता है और फिर पूर का पानी घटते ही मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति भी बढ़ जाती है। पुराने पुष्ट जीव उपयुक्त क्षेत्र पाकर जीवन के परिचय में छैल कर फैल जाते हैं। बस एक पूरा उपन्यास बन जाता है।

उपन्यास अपूर्ण को पूर्णता देने का प्रयास है। उपन्यास का अपूर्ण भी वास्तविकता को पूर्णता का ही योगदान देता है। उपन्यास जीवन के छूछेपन को भरता है। वह अतीत के गड्ढों को भी पाटता है। उपन्यास ईश्वर की सृष्टि के समकक्ष प्रतिभा की सम्मोहनात्मक सृष्टि होती है।

उपन्यास मानवता का अतिरिक्त वेद है। जो मनुष्य के लिये करणीय है वही उपन्यास में बतलाया जाता है। करणीय एवं अकरणीय दोनों ही के उल्लेख के द्वारा जो मनुष्य का अतीत है वह उपन्यास में सँवारा जाता है, भविष्य का उसमें संकेत होता है और वर्तमान तो मानो उसके पृष्ठों पर सधाही सा रहता है।

उपन्यास किस प्रकार जीवन की गहराई को चारों ओर से समेट कर आगे बढ़ता है इसका आभास हमें अर्नाल्ड बेनेट द्वारा की गई एच० जी० वेल्स के "टोनोबंगी" नामक रचना की प्रशंसा में मिलता है। वह उपन्यास को एक पूरे युग और समाज का दार्शनिक चित्र कहता है। उस चित्र की विशेषता होती है उसके रंगों की तीव्र गहराई और चमक तथा मूल पदार्थों से समानता।[1] उपन्यास में जीवन की विविधता तथा उसका समन्वय दोनों ही रहते हैं। किसी भी उपन्यासकार ने उपन्यास के गौरव की इतनी जोरदार हिमायत नहीं की है जितना एच० जी० वेल्स ने १९१४ ई० में "दि कन्टेम्पोरेरी नावेल" नामक लेख में की थी। वह उपन्यास को सामाजिक विवादों का मध्यस्थ, आत्मपरीक्षण का साधन, रीतियों के गढ़ने का कार्यालय, नियमों, संस्थाओं, सामाजिक

---

1 "A philosophical picture of a whole epoch and society brilliant and honest". (Arnold Bennett)

—LOWETT and HUGH : *The History of Novel in England*, P. 399

रूढ़ियों एवं विचारों की आलोचना का स्वरूप मानता है। विद्वान लेखक उपन्यास को घरेलू ढंग से अपने किये हुए पापों की स्वीकृति ग्रहण के रूप में ही नहीं, अपितु ज्ञान का श्रीगणेश और शुभ परिणामवाही आत्मचिन्तन एवं आत्मनियन्त्रण में दृढ़ता आदि गुणों से युक्त भी मानता है।[1]

उपन्यास : मन को रमाने का विराम-स्थल

उपन्यास में हम जीवन पढ़ते हैं और उसी प्रकार वास्तविक जीवन में हम सच्चा उपन्यास पढ़ सकते हैं। इस सच्चे उपन्यास के पात्र अपनी ऊपरी आकृति, चेष्टाओं, कृतियों एवं प्रकट भावनाओं के द्वारा अपने अन्तर तक का परिचय देते हैं जिनमें प्रवेश पाना स्वयं लेखक की भावनाओं की तीव्रता पर निर्भर रहता है। एक प्रवेश पा जाय तो 'ऐलिस इन वंडरलैण्ड'[2] की भाँति ऐसे विचित्र भावना-जगत में स्थिति हो जाती है कि लिखने वाला निहाल हो जाता है और पाठक को तो परियों के लोक में पहुँचने का-सा अनुभव हो जाता है।

उपन्यास में प्रवेश पाना होता है। जहाँ हम अपने कौतूहल को बढ़ा हुआ पाते हैं। आश्चर्य, आनन्द और तुष्टि की त्रिवेणी में मन अवगाहन करता है। जीवन के पथ पर मिले हुए मित्रों की भाँति हम उपन्यास के बीच में भी

---

1 "This capacity for variety and synthesis commended the novel to Wells as a vehicle for his purpose. No novelist has ever made larger claims for the novel form. In an article on the 'contemporary Novel' in 1914 he sets them forth : "You see the scope of the claims I am making for the novel; it is to be the social mediator, the vehicle of understanding, the instrument of self exemination, the parade of morals and exchange of manners, the factory of customs, the criticism of laws and institutions and of social dogmas and ideas. It is to be home confessional, the initiater of knowledge, the seed of fruitful self questioning... the novelist is going to be the most potent of artists, because he in going to present conduct, devise beautiful conduct ,discuss, point out, plead and display."

Ibid, P. 400

1. Alice in Wonderlend'—by Lewis Carroll published in 1865.

कुछ परिचित पात्र पाते हैं जिनमें से कुछ अपने जीवन-साथी बन जाते हैं। जीवन में हम भ्रमण सब स्थानों में करते हैं पर रहते हैं एक ही स्थान पर। इसी प्रकार उपन्यास में भी मन रमाने का विश्राम स्थल मिल जाता है।

उपन्यास दौड़ते हुए जीवन को पकड़ता है। वह 'सिनेमेटोग्राफ' की भाँति हमारे सामने आता है। ऐसी स्थिति में उपन्यास गत जीवन को देखने वाली आँख बन जाता है और उसको समय की धड़कन सुनने तथा सुनाने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

पश्चिम का साहित्य जीवन की इस सीमा को लेकर इसी जीवन के परिणाम से दर्शन बनाता है। पूर्व का साहित्य जीवन के पहले और बाद की लम्बी सरणि को लेकर बृहत्तर जीवन के परिमाण एवं परमत्व के चरम पर साहित्य की नींव स्थापित करके अपना दर्शन बनाता है। राम हमारी उदात्त भावना के उच्चतम रूप के प्रतीक हैं अतः वे सुन्दर हैं, आकर्षक हैं। वे जन-जीवन को आकर्षण की परिधि में रखने की क्षमता रखते हैं। उपन्यास के चल-चित्र के जगत में इसी प्रकार साधारणत्व के राम की प्रतिष्ठा की गई है। उपन्यास के साधारण मानवत्व में जन-मन को रमाने की अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

मानवीय सृष्टि के साथ ही साथ उपन्यास की भी सृष्टि हुई। मनुष्य मन का साथी है और उपन्यास मन की बात। मनुष्य अपने मन से ही खुल कर बात कर सकता है और मन उपन्यास में खुल कर बोलता है। मनुष्य का मन संस्कृत एवं विकसित होता रहता है और मन की मौज उपन्यास में अपनी रंगीनी को बदलती रहती है। मनुष्य अपने मन का इष्टरूप है और उपन्यास मनुष्य के मन का इष्टरूप। मन की परिवर्तनशीलता के साथ ही साथ उपन्यास का भी रूप परिवर्तित होता रहता है। उपन्यास बाहर का भी स्वाँग लाकर दिखाता है और अन्तर का अभिनय भी प्रस्तुत करता है। अन्तर अभिनय प्रस्तुत करना तो बड़ा कठिन होता है। प्रायः बाहर के स्वाँग को लेकर ही अन्तर का विश्लेषण होता है। अन्तर का अभिनय प्रस्तुत करने वाला उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक होने के साथ ही साथ कवि भी होता है। अतः उसमें पाठक के मन को पकड़ने की अद्भुत क्षमता होती है।

उपन्यास के क्रम में हम उन सभी पुस्तकों को ले सकते हैं जिनमें मानव अपनी कल्पना को यथार्थ पर आरूढ़ करवा कर जिस-तिस दिशा में अपनी ही कहानी समय के संदर्भ में कहता चलता है। कभी-कभी वह समय को भी पार

कर जाता है और तब उसकी कहानी अनन्त की कहानी बन जाती है। गद्य और पद्य उसकी सीमा नहीं बनाते—हाँ यह अवश्य है कि समय के अंतर पर पद्य के प्रचलित रूप के साहित्य में रूढ़ि की सीमा के अन्तर्गत आ जाने से अत्यन्त सरल गद्य मात्र ही उपन्यास का माध्यम रह गया।

प्रारंभ में उपन्यास में विषय की भी कुछ सीमा नहीं थी। पर अब जो यथार्थ कहा जाता है, प्रायः वही उपन्यास का विषय बनता है। उपन्यास अब मानव का चिन्तन क्षेत्र बन गया है। पहले और अब भी हल्के रूप में उपन्यास आपस की बातचीत की गप्प का लिखित रूप मात्र होता है। पर जहाँ उपन्यास-कार साहित्यिक का वाना धारण कर लेता है वहाँ वह उपन्यास को मानवता के चिन्तन स्वर में मिला देता है। उपन्यास में मावन मानो अपनी समस्याओं को सबके समक्ष रखता है। उसकी समस्या संबंधित वर्ग की तो विचारणीय समस्या होती ही है, पर निरपेक्ष पाठक के लिये वह एक रोचक, ज्ञातव्य होने के साथ-साथ कल्पना के परदे पर रंगीनी लिये हुए पाठक का पूरा चलता-फिरता सवाक् चित्र बन जाता है।

उपन्यास हमारे लिये 'कैमरा स्कोप' का काम करता है। उसके माध्यम से हमें जीवन में देखी हुई वस्तुओं के दूसरे रूप भी दीख जाते हैं। जीवन की गहराई का अनुमान उपन्यास में मिलता है और यदि हमारी कल्पना की सुई ठीक हुई तो उपन्यास बोलता हुआ सिनेमा हो जाता है जो वास्तविक न होते हुए भी वास्तविकता का भान कराता है। पर यह वृत्ति रखनी आवश्यक है कि हम काम के वाद सिनेमा देखें अथवा सिनेमा देख कर काम में जुट जायें।

उपन्यास : समय के इतिहास का साहित्यिक संस्करण

उपन्यास घटनाओं का गद्य गीत होता है। उसमें वातावरण की कविता होती है। कल्पना उपन्यास में सम्भावनाओं के गान गाती हुई यथार्थ का रूप संवारती हैं। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला के रूप में उपन्यास का कलेवर विचारों को नवीनता के वस्त्रों में सज्जित रहता है।

उपन्यास समय के इतिहास का साहित्यिक संस्करण[1] है। वह हमें अपने परिचित एवं अनुभूत वातावरण के बीच से ले जाकर उन सम्भावनाओं के छोरों पर छोड़ देता है जो वास्तविक जीवन में घटित न होते हुए भी तथ्य का सत्य

---

1 "The novel is the most important gift of bourgeoie, or capitalist, civilization to the world's imaginative culture. The novel in its great adventure, its discovery of man."

बन जाते हैं। उपन्यास वास्तव के विस्तार के काव्य का संक्षिप्त और संभावनाओं के महाकाव्य का संकेत रूप होता है। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यास ही आज की सबसे अधिक प्राणवती साहित्यिक विधा है। किसी भी साहित्य में कितना जीवन है यह उसके द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली समस्याओं पर अवलम्बित रहता है[1]। आज के साहित्य में उपन्यास ही वाद-विवाद के लिये तथा परस्पर विरोधी तर्कों के लिये सबसे अधिक समस्यायें प्रस्तुत करता है।

---

1 "That in our days a literature is elive is shown by its submitting problems to debate." (G.Brandes)
—H. B. Ruth (Guiding quotation on the fromt page of)' *An Enquiry into Present Difficulties and Future Prospects'*

उपन्यास शब्द का इतिहास विकास-क्रम एवं परिभाषा

उपन्यास के प्रारंभिक पर्वों का विवेचन करते समय यह प्रश्न सहज ही उठता है कि उपन्यास कब नहीं था ? जब से मनुष्य ने एक दूसरे के पास बैठना सीखा तभी से उपन्यास का जन्म हुआ। जब मानव के ज्ञान की सहगामिता प्रकृति के कौमार्य के पार्श्व में डोलने लगी तब उपन्यास की चेतना ने आँखें खोली थीं, जब मानव समाज ने अपनी शैशवावस्था को पार किया था तभी उत्सुकता के साथ उपन्यास की सगाई हुई थी और जब मनुष्य के अवकाश ने अँगड़ाई ली थी तभी उपन्यास वृत्ति का गठबन्धन जनरुचि के साथ हुआ था। जन-रुचि का सुहाग अपने में अक्षय है। अतः उपन्यास की वृत्ति भी अमर है।

उपन्यास की वृत्ति का आरम्भ मनुष्य की कुतूहल-वृत्ति के आरंभ के साथ होता है। उपन्यास का स्वरूप भाषा के गद्य के स्वरूप की स्थिरता के साथ होता है। संस्कृत में हम इसका प्रमाण 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' के प्रणयन में पाते हैं। फ्रेन्च, स्पेन, रूस, इटली तथा अंग्रेजी साहित्य के 'रोमांस और नावेला' इसी गद्य पर विजय के साक्षी हैं। आधुनिक साहित्य में जन-साधारण के महत्व का श्रीगणेश आधुनिक उपन्यास की प्राण-प्रतिष्ठा करता है। गद्य के स्वरूप के स्थिर होते ही हिन्दी उपन्यासकार अपनी प्रारंभिक अवस्था में साधारण कुतूहल वृत्ति और मन की मौज के बीच में पनपा (इंशा—'रानी केतकी की कहानी')। उस समय अनुकरण की वृत्ति प्रधान थी। देवकीनन्दन ने उर्दू-फारसी, किशोरीलाल गोस्वामी ने बंगला और श्री निवासदास ने अँग्रेजी की औपन्यासिक कृतियों के अनुकरण द्वारा हिन्दी में उपन्यास साहित्य लिखना प्रारम्भ किया। आधुनिक काल में हिन्दी-उपन्यास ने अनुकरण को छोड़ कर भारतीयता की आधार-भूमि में स्वानुभूति का बीजारोपण किया। प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्वदेश के प्रति प्रगाढ़ ममत्व एवं स्वतंत्र चिन्तन की जागरूक भावना प्रतिपद परिलक्षित होती है। वर्तमान काल में हिन्दी उपन्यास साहित्य पर्याप्त विकसित अवस्था में है। वह अब विश्व

साहित्य के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर आविष्कृत विज्ञानों एवं अन्य विधियों की सहायता से आगे चल रहा है।

उपन्यास का आरम्भ साधारण कहे जाने वाले लेखकों के द्वारा साधारण पाठकों के लिये हुआ था। लोगों को कहानी के माध्यम से प्रसन्न करना और खेल-खेल में जैसे लड़कों को ज्ञान एवं व्यवहार की बातें बताई जाती हैं, अनुशासन का अभ्यास कराया जाता है—उसी प्रकार पाठकों को जीवन का पाठ पढ़ाना और इस प्रकार अपनी कृति को आकर्षक बना कर धन प्राप्त करना उपन्यास लेखक का लक्ष्य था[1]। शैली और भाषा का सँवारना तो बाद की बातें हैं। जो वेद-उपनिषद् की बातों से जीवन का रहस्य नहीं समझ सकते थे उनको जनमार्ग से जीवन के रहस्योद्घाटन तक ले जाना भी इन लोगों का काम रहा है।

साहित्य ने जब इस प्रभावशाली माध्यम को अपनाया, जब इसके प्रभाव के कारण अपने विस्तार में इसको समेटा तब हरिजनों की भाँति इसे इसके सब गुण-दोषों के सहित ग्रहण किया। अब उपन्यास को कुछ लोग संभ्रान्त बनाना चाहते हैं। यह कार्य वैसा ही है जैसा 'हरिजन' को उसका काम छुड़ा कर नेता बनाना। हां, यदि उपन्यास में स्वयं कुछ है तो वह अपने आप, अपना स्थान पाठक की रुचि से तथा पूर्वाग्रह से मुक्त आलोचकों के मत से साहित्य के क्षेत्र में स्थिर कर लेगा। पर उपन्यास को अपना प्रारम्भिक करणीय नहीं छोड़ना है। यदि ऐसा होगा तो उपन्यास ऐसा ही बन कर रह जायगा जैसा कि एक उच्च व्यक्ति नेता बनने की चाह में झाड़ू हाथ में लेकर हरिजन का

---

1 Quoting from Robert Louis stevenson's letter to Edmeld Gosse, Walter Allen writes——" I do write for money, a nobler deity ......" ———WALTER ALLEN : *Reading a Novel*, P. 7

"We know, too, what the novelist sets out to do when he writes a novel....... He is making, it might be said, a workig model of life as he sees and feels it, his conclusions about it being expressed in the characters he invents, the situations in which he places them, and in the very words he chooses for those purposes."

WALTER ALLEN : *The English Novel*, P. 12.

काम थोड़े समय के लिये करता हुआ नेता का स्वाँग-सा बन कर रह जाता है। हाँ, यदि किसी स्थान विशेष के जीवन को समग्रहतः पकड़ने वाला कोई कथानक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा अपने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया जायगा तो भाषा-परम्परा-चरित्र एवं वर्णनों की दृष्टि से विशुद्ध स्थानीय होते हुए भी वह समाज के अखण्ड-जीवन का अपरिहार्य अंग बन कर जीवन की महत्तम उपलब्धियों का-सा सम्मान पायेगा। उदाहरणार्थ फणीन्द्रनाथ रेणु की 'परती ; परिकथा,' ऐसी ही कृति है। इसमें लेखक उपन्यासत्व की पूरी रक्षा करते हुए जो कुछ कहना चाहता है वह सभी कुछ कह गया है।

पुत्र अपने शैशवकाल में माता-पिता के आश्रित होता है। उस पर एक-मात्र उसके माता-पिता का ही अधिकार होता है। पर युवावस्था आते-आते उसकी जीवन-परिधि का विस्तार बढ़ जाता है और कोई विरला ही 'श्रवणकुमार' रूप पुत्र अपने माता-पिता का ही होकर रहता है। साधारणतः वह प्रायः समस्त-रूपेण अपनी प्राणाधिक प्रिया-प्रेयसी अथवा प्राण-प्रिया पत्नी का हो जाता है। युवाकाल में उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है और उसके परिवार का विस्तार होने लगता है। इसी प्रकार अतीत समय-क्रम से वर्तमान का जनक है। जो अतीत में होता है वही सामयिक परिस्थितियों के गर्भ में पोषित होकर वर्तमान के रूप में जन्म लेता है। साहित्य क्षेत्र में भी यही वर्तमान आज का उपन्यास है। यह हिन्दी में अपनी बाल्यावस्था में है पर बाहर से इस पर बड़ों के कार्य-कलाप का प्रभाव पड़ा है। शैशवावस्था में अनुकरण की प्रवृत्ति क्रमिक-विकास में सहायक होती है। बंगाल-उर्दू एवं अंग्रेजी की रचनाओं में हिन्दी उपन्यास को अंगुली पकड़ कर आगे बढ़ाया। पर अब तो वह बाल्यावस्था को पार कर चुका है। और उस पर माता-पिता के प्रभाव के समान संस्कृति एवं हिन्दुत्व के प्रभाव के लक्षण तो हैं ही, पर साथ ही उसे जमाने की हवा लग रही है। आज के किशोर के समान वह कच्ची (?) उमर में ही जीवन-निर्माण के रहस्यों से अवगत होने लगा है। उसके अधकचरे रूप में ही यौनवाद का प्रवेश हो गया है। प्रारम्भ में तो किसी की भी उँगली पकड़ कर चलना ठीक, पर आँखें होने पर भी आँख मूँद कर किसी के पीछे चलना अविवेक ही कहा जायगा। इस विचार से हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्ति विगत दो दशकों में कुछ सन्तोषजनक नहीं रही। बाहर से प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है, पर यदि बाहर का प्रभाव हमें विदेशी बना दे तो वह

ठीक नहीं। हाँ, वाह्य प्रभाव के अपेक्षणीय रूप भी होते हैं। यदि बाह्य प्रभाव हम में हमारा अपनापन आगे बढ़ावें-उसे पुष्ट करने में हमारी सहायता करें तो वह उचित ही नहीं, श्लाघ्य भी है। उपन्यासों ने[1], कुछ फ्रेन्च कृतियों ने[2] और अनेक अंग्रेजी भाषा के उपन्यासों[3] ने हिन्दी उपन्यास के लिये 'माडेल' प्रस्तुत किये हैं। हमारे 'करणीय' कर्म को स्पष्ट किया है। बंगला भाषा की तत्परता ने हम में उत्साह का संचार किया है और यह उत्साह उपन्यास क्षेत्र में अनेकानेक महत्वपूर्ण संभावनाओं की सृष्टि करने में समर्थ होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

हमारा जीवन आगे बढ़ता है। कुछ तो बाहर से आकर पड़ने वाले प्रभावों को आत्मसात् करने से और कुछ अपने में ही उठे हुए विचारों को बाहर से कार्य का रूप देने से। साहित्य के प्रकार भी इसी भाँति कुछ तो पूर्वापर सम्बन्ध अथवा गतानुगति के अनुसार आगे बढ़ते हैं अथवा परिवर्तित होते रहते हैं और कुछ कृतियों में अथवा लेखक में बाहर से आकर पड़ने वाले प्रभावों से पोषित एवं पल्लवित होते हैं। आन्तरिक प्रेरणा एवं विश्लेषण तो स्वाभाविक रूप से विकास में सहायक होते हैं पर बाहर से आकर पड़ने वाले प्रभाव सहायक भी हो सकते हैं और बाधक भी। जब बाहरी प्रभाव कर्तव्य का ऊँचा आदर्श हमारे सामने रखते हैं तो वह नये उठते हुए साहित्य के प्रकार को बल देते हैं, उसे ऊँचा उठाते हैं ''जैसा कि प्रेमचन्द के पहले बंगला, अंग्रेजी, फ्रेन्च तथा रूसी उपन्यासों के प्रभाव द्वारा हिन्दी उपन्यास सफलतापूर्वक उन्नति पथ पर अग्रसर हो सका। पर जब बाहरी प्रभाव अनिश्चित भाव-भूमि पर उठा कर अपने अर्द्ध स्वीकृत अथवा प्रायः अस्वीकृत रूप में अन्य देशीय अथवा अन्य स्थानीय कलाकारों को प्रभावित करने का उपक्रम करते हैं। इन बाह्य प्रभावों को

---

1 Russian Novels—Tolstoy—'War and Peace' (Anna Karenina) Dostoevsky,—'Crime and Punishment'—Gorky, 'Mother'

2 French Novels—Madame Bovary: 'Les Miserables' (Victor Hugo) (Flabert), Alexander Dumas 'Count of Montecristo', Romain Rolland—'Jean Cristophe'.

3 Engl.sh Novels—Dickens—'David Copperfield', Thackeray 'Vanity Fair', Hardy, 'Tess of the d' Urbervilles', James Joyce,—'Ulysses'.

ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपने को नए मुसलमान की सी स्थिति में पाता है। वह न अपनी धरती का पूत रह पाता है और न बाहर ही पूर्ण रूप से किसी का बन कर रह सकता है। 'मार्क्सवाद' 'योनवाद' आदि के सिद्धान्तों को आत्मसात् किये बिना भी उनका मन-माने ढंग से प्रयोग करने वाले नवीन उपन्यास लेखकों की कुछ ऐसी ही स्थिति है। इलाचन्द जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' यशपाल और किसी अंश तक जैनेन्द्र तथा 'अज्ञेय' प्रायः इसी कोटि के लेखकों में आते हैं। बाह्य प्रभाव जीवन अथवा साहित्य के लिये सदैव अग्राह्य ही नहीं होता है। यदि वह प्रभाव सत् के प्रति प्रेरणा प्रदान करता है अथवा सत् का पोषण करता है तो वह सर्वतोभावेन श्लाघ्य है, वरेण्य है। प्रेमचन्द, भगवती-चरण वर्मा; वृन्दावनलाल वर्मा, ऊषा मित्रा, 'कौशिक' आदि ने भी पाश्चात्य उपन्यास साहित्य एवं भाव-धाराओं को कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में एक प्रकार से ग्रहण अवश्य किया है। पर यह ग्रहण उनकी भारतीयता के विरुद्ध कहीं भी नहीं जाता है। एक प्रकार से इन लेखकों ने प्रत्येक बाह्य वस्तु का भारतीयकरण कर लिया है। उनकी कोई भी विचारधारा भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों के प्रतिकूल नहीं जाती है।

उपन्यास आकस्मिकरूप से सम्पन्न नहीं हो गया। इसकी भी अपनी एक परम्परा है जिसका आरम्भ एक बड़ी नदी के उद्गम के समान नन्हीं नन्हीं भिन्न धाराओं के रूप में प्राचीन साहित्य के बीच में छिपा है। पर संस्कृत, पाली, ग्रीक, लैटिन की आख्यायिका वृत्ति और दन्त कथा की परम्परा तथा महान् पुरुष के जीवन की चमत्कार पूर्ण घटनाएँ एवं भक्त जनों के आश्चर्य पूर्ण करिश्मे और साहसपूर्ण यात्रियों के भ्रमण के वर्णन तथा नये देशों की खोज के वृतान्त सब मिल कर एक साथ सोलहवीं शताब्दी में अंग्रेजी में जिस उपन्यास रूप का बीज बोते हैं वही रूप और प्रायः उन्हीं सभी महत्वपूर्ण विषयों को लेकर १९ वीं शताब्दी के अन्त में और २० वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में हिन्दी उपन्यास साहित्य में दृष्टिगत हुआ। बाद में अंग्रेजी के माध्यम से इसने विश्व साहित्य के प्रभाव को भी ग्रहण किया और तत्पश्चात् इस पर स्थानीय रंग भी चढ़ा।

'उपन्यास' शब्द नया है पर औपन्यासिक वृत्ति नई नहीं। उपन्यास शब्द विभिन्न अर्थों में विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त होता रहा है। दक्षिण की तेलगू आदि भाषाओं में 'व्याख्यान', वक्तृता के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। ये दाक्षिणात्य प्रयोग उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा प्राचीन संस्कृत-साहित्य की

प्रयोग परम्परा मे अधिक सम्बद्ध है। अमरूक के प्रसिद्ध श्लोक 'निर्यातः शनकै-रलीकवचनोपन्यासमालीजनैः[१]' में 'उपन्यास' शब्द बहुत कुछ इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दक्षिण की उक्त भाषाओं में अंग्रेजी 'नाविल' शब्द के लिये उसी के अनुरूप एक संस्कृत शब्द 'नवल'गढ़ लिया गया है जो वस्तुतः उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है। उपन्यास (उप = निकट, न्यास = रखना) का प्रयोग कथा, आख्यायिकों को छोड़ कर मेधावी लेखक की सूझ से अपने को पाठक के अधिक निकट ले आया। सन्तों की जीवनी और मध्यकालीन रोमांसों से विकसित हो कर आज का उपन्यास बना है। इसके एक ओर दन्तकथा है तो दूसरी ओर आधुनिक पत्रकारिता।

मानव की चेतना का इतिहास ही उपन्यास की प्रवृत्ति का इतिहास है। ज्यों-ज्यों मानव सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से विकास करता गया त्यों-त्यों उपन्यास का रूप भी निखरता गया।

उपन्यास की वृत्ति ने नये उपन्यास के रूप को प्राप्त करने के लिये सभी प्रचलित विधाओं की अन्तर्धारा में तैर कर इतनी दूर की यात्रा पूरी की है। जिस प्रकार दूसरे की बात जानने-सुनने की आतुरता एवं तद्विषयक उत्सुकता कथा-गाथा, महाकाव्य, नाटक में पाई जाती है उसी प्रकार यह कुतूहल वृत्ति उपन्यास साहित्य में भी उपलब्ध होती है। उपदेशात्मकता, कौतूहल-शान्ति, चरित्र-चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण यह उपन्यास की प्रवृतियों की प्रगति के ठीहे रहे हैं। चरित्र-चित्रण के साथ उपन्यास में रचना कौशल के संस्कार पर भी आग्रह रहा है। लेखक की अनुभूति ने वस्तु का सृजन किया है और उसके अभ्यास ने रचना-कौशल एवं शैली को संवारा है।

संस्कृत भाषा में उपन्यास भी है और औपन्यासिक वृत्ति भी। रोमांस का रूप हमें कादम्बरी में मिलता है। अलौकिकता तो शेक्सपियर के समय की अद्भुतता की भांति यहाँ की चिन्तना की उड़ान की विशेषता रही है। वहाँ की कल्पना उड़ कर स्वर्ग तक पहुँची है—पंख जला कर लौट भले ही पड़ी है और स्वर्ग की यात्रा सदेह तो न जाने कितने बार की है यद्यपि अनधिकृत चेष्टा करते समय बीच में ही लटक कर रह गई अथवा शरीर की सामर्थ्य के अभाव में हिम में गल गई, पर कोई भी स्थान अथवा काल इस कल्पना

---

१ अमरूक शतक २३.

के फेरे से बचा नहीं—पृथ्वी की परिक्रमा और नाम तो उसके लिये सहज सम्भाव्य रहा ।

उपन्यास के आधुनिक रूप का संस्थान-सा दशकुमार चरित, वेणी-संहार और मृच्छकटिक दूसरे जन-जीवन को चित्रित करने वाले काव्य-गत प्राचीन प्रयास हैं। वास्तविकता संस्कृत साहित्य में आजकल की कल्पना को भी मात देता है। आज हम जितना दुरबीन और खुर्दबीन लगा कर नहीं देख पाते उससे अधिक और स्पष्टतररूप में हम बिना चश्मे की आँखों से देखते थे। मनोविज्ञान का स्थान अन्तर्दृष्टि ने ले लिया था और दिव्य-दृष्टि तथा भविष्य दर्शन उस समय के समय और दूरी को एक में बाँधने के सफल प्रयास थे। संस्कृति कालीन उपन्यास-सम रचनाओं में कल्पना के विस्तार में समय का सच्चा इतिहास लिखा गया है।

उपन्यास का अवतार युवती के सौन्दर्य की भाँति बालस्थ भाव से भोलेपन की उत्सुकता से आरंभ हो वयःसन्धि के अल्हड़पन से होता हुआ मुग्धा और प्रगल्भा की स्थिति पार करता हुआ अब तो क्लब में बैठकर ब्रिज के खेल के 'पोस्टमार्टम' की बात करने वाली अनुभवी महिला के स्वप्नों का विश्लेषण और वास्तविकता का नाटकीयकरण हो रहा है।

उपन्यास की वृत्ति बड़ी पुरानी है। इसका प्रारंभिक आभास पद्य के ग्रंथों में ही मिलता है। गाथा काव्य में विशेष रूप से यह प्रवृत्ति पाई जाती है। संस्कृत, यूनानी, रूमानी साहित्य में रोमांस अपने भिन्न-भिन्न रूप में इतिहास, धर्म, दर्शन, जीवन-चरित्र सभी में तो रोमानी साहित्य का समावेश पाया जाता है। और फिर जब गद्य का उद्‌भव, विकास और विस्तार हुआ तब तो उपन्यास और गद्य का चोली-दामन का-सा साथ होने से उपन्यास का भी वर्तमान रूप में उद्‌भव, विकास और विस्तार हुआ। उपन्यास लम्बी कहानी से आरंभ हुआ था और अब जीवन की व्याख्या के रूप में साहित्य के सब अंगों से बढ़ कर जीवन के समीप है।

उपन्यास की प्रगति गप्पबाजी से प्रारंभ होकर आज जीवन-दर्शन की समकक्षता-प्राप्ति में देखी जा सकती है। मनोरंजन पहले से ही गप्पबाजी का बिना माने ही उद्देश्य बन गया था और मनोरंजन ही आज भी प्रत्येक बुद्धिमतापूर्ण उपन्यास का उद्देश्य मानना ही पड़ेगा। पर मनोरंजन केवल हँसने की ही बातों से नहीं होता, यह ध्यान में रहना चाहिए। एक गणितज्ञ का मनोरंजन संख्याओं के क्रम के जादू में भी हो सकता है। उपन्यास में मनोरंजन

के कई प्रकार होते हैं । आज भी नशे की तर्ज से लेकर पहाड़ पर चढ़ाई करने तक के सब प्रकार के मनोरंजन उपन्यास में पाये जाते हैं ।

आचार्य शुक्ल जी के अनुसार "भारतेन्दु हरिश्चन्द का प्रभाव भाषा तथा शैली और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा । "भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ । ...इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में लाये[1] ।" पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का भारत में सबसे प्रथम बंगाल में प्रभाव पड़ा । बंगाल के नाट्य साहित्य एवं उपन्यास साहित्य में नवीनता का समावेश होना नितान्त स्वाभाविक था । हिन्दी साहित्य अभी अपने प्राचीनता के ही अंचल में पड़ा हुआ था । सर्व-प्रथम भारतेन्दु ने ही हिन्दी साहित्य को जन-जीवन के नवीन दृष्टिकोण से परिचित कराया और वे ही हिन्दी साहित्य की धारा को जन-जीवन के निकट भी लाए । भारतेन्दु के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे एक ओर तो प्राचीनता के अंचल को पकड़े हुए हैं और दूसरी ओर उनकी लेखनी नवीन स्पन्दनों से अनुप्राणित होती हुई देश में नव-जीवन, नई-जागृति एवं नवीन चेतना का संचार करने में समर्थ हुई । भारतेन्दु के प्रयास से ही हिन्दी गद्य को शक्ति प्राप्त हुई । हिन्दी गद्य के रूप के संवरते ही लेखक उपन्यास-साहित्य की ओर आकृष्ट हुए प्रारम्भ में लोगों का ध्यान अनुवाद की ओर गया और दूसरी भाषाओं के अनूदित उपन्यास जन-रुचि का अनुरंजन करते रहे "इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नये ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई ।[2]

ब्रजरत्नदास जी के मतानुसार[3] भी आधुनिक शिष्ट हिन्दी साहित्य के रूप का अन्तिम निश्चय बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के द्वितीय भाग में हुआ और इसके प्रवर्तक थे—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र । भारतेन्दु जी ने सभी गद्य शैलियों का अध्ययन कर तथा उनके दोषों एवं त्रुटियों का निराकरण कर भाषा को अत्यन्त मधुर, स्वच्छ तथा सजीव रूप दिया और समयानुकूल नये-नये विषयों

---

१ रामचन्द्र शुक्ल—"हिन्दी साहित्य का इतिहास"—सं० २००८ विक्रमीय, पृष्ठ ४४६ ।

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल "हिन्दी साहित्य का इतिहास"—पृ० ४५६ ।

३ ब्रजरत्नदास—'हिन्दी उपन्यास-साहित्य', पृ० १२७ ।

की ओर उसकी साहित्य धारा को अपनी रचनाओं द्वारा मोड़कर उसे प्रगतिशील बना दिया। साहित्य के अनेक अंग जैसे नाटक, निबन्ध, उपन्यास आदि जिनके लिये गद्य की ही अपेक्षा थी, इस निखरी हुई भाषा को पाकर पनपने लगे। भारतेन्दु ने भले ही मौलिक औपन्यासिक रचनाओं द्वारा भी हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि न की हो, पर उपन्यास रचना का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय तो उनको मिलना ही चाहिये। वे तथा उनके मंडल के अन्य सदस्यों ने हिन्दी गद्य के रूप का विकास करके उपन्यास-रचना को विशेष शक्ति एवं सहयोग प्रदान किया। इस प्रसंग में वे इसी दृष्टि से विशेष स्मरणीय हैं। स्वर्गीय राधाकृष्णदास जी लिखते हैं कि—"उपन्यासों की ओर इन (भारतेन्दु) का ध्यान कम था। इनके अनुरोध तथा उत्साह से पहले-पहले 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुवाद हुआ।....'राधारानी', 'स्वर्णलता' आदि उन्हीं के अनुरोध से अनुवाद किये गये। 'चन्द्रप्रभा' और 'पूर्णप्रकाश' को अनुवाद कराके स्वयं शुद्ध किया था[1]। 'राणा राजसिंह' का अनुवाद भारतेन्दु स्वयं करना चाहते थे। अनुवाद पूरा भी हो गया था, प्रथम परिच्छेद उन्होंने स्वयं नवीन रूप में लिखा और आगे कुछ शुद्ध भी किया था। नवीन उपन्यास 'हमीर हठ' बड़ी धूमधाम से आरम्भ किया था, परन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि प्रथम परिच्छेद ही लिखकर वे चल बसे।...."यदि भारतेन्दु जी कुछ दिनों और जीवित रहते तो उपन्यासों से भाषा के भंडार को भर देते, क्योंकि अब इनकी रुचि इस ओर फिरी[2] थी।"

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव अपने "हिन्दी उपन्यास" नामक ग्रन्थ में उपन्यास का आरंभ उस भारतीय कहानी परम्परा से मानते हैं जो तीन कोटियों में विभाजित की जा सकती है—पहली कौतुक कथाएँ, दूसरी स्पष्ट नीति कथाएँ और तीसरी गाथाएँ। भारतीय उपन्यासों के अंकुर उन्होंने भारत की प्राचीनतम भारती में ही मिलते हुए बताए हैं। उनका कहना है कि भारत की तो बात ही क्या, पाश्चात्य उपन्यासों का मूल-स्रोत भी हमारी अमर वाणी में

---

१ 'कादम्बरी' और 'दुर्गेश नन्दिनी' का अनुवाद, ठा० गदाधरसिंह द्वारा 'राधारानी' (सन् १८८३ ई०), 'चन्द्रप्रभा'—'पूर्ण प्रकाश' का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी—'चन्द्रिका' द्वारा 'स्वर्णलता' का अनुवाद श्री राधाकृष्ण दास द्वारा।

२ ब्रजरत्नदास—"हिन्दी उपन्यास-साहित्य", पृ० १२८–१२९।

ही रक्षित है[१]। श्रीवास्तव जी के अनुसार कहानी की उपर्युक्त परम्परा ने ही पाश्चात्य और भारतीय कथा साहित्य को जन्म दिया। उनकी स्थापना है कि हिन्दी उपन्यासों के बालकाल में तोता-मैना', 'बेताल-पचीसी', 'सिंहासन-बतीसी' आदि कहानियाँ कुछ इन संस्कृत कहानियों के अनुवाद मात्र हैं और कुछ पूर्ण रूप से इन्हीं पर अवलंबित हैं। परन्तु इन प्राचीन कहानियों में उपन्यासों का बीज मात्र मिलता है। श्रीवास्तव जी संस्कृत की साहित्यिक आख्यायिकाओं में कथा-कहानी का निखरा हुआ रूप पाते हैं। उनके अनुसार उपन्यासों एवं संस्कृत की इन साहित्यिक आख्यायिकाओं की प्रेरक शक्ति एक ही ठहरती है। वे दोनों में एक ही आत्मा के दर्शन करते हैं जिनमें समय के कारण रूप-भेद हो गया है। श्रीवास्तव जी उन लोगों के कहने को भ्रामक बताते हैं तो उपन्यास को यूरोप की देन कहते हैं। वे यह मानते हैं कि कि उपन्यासों का आधुनिक ढाँचा अवश्य पश्चिम से आया है, परन्तु उसके साथ ही उनकी यह स्थापना भी है कि अपने भारतीय रूप में हमारे यहाँ उपन्यास पहले से ही वर्तमान थे। वे साथ ही यह बात भी मानते हैं कि हिन्दी उपन्यासों का आरम्भकाल बहुत कुछ अपनी पुरानी परम्परा ही लेकर चला था, किन्तु बाद में एक बिल्कुल ही नवीन ढाँचा स्वीकृत किया गया जो सम्पूर्ण रूप से अभारतीय है।[२] बाबू ब्रजरत्नदास की भाँति श्रीवास्तव जी ने भी हिन्दी गद्य में कथा-कहानियों का मार्ग प्रशस्त हो जाने पर उर्दू-फारसी से भी हिन्दी में कहानियों के आने की बात स्वीकार की है। आरम्भ के कतिपय हिन्दी उपन्यास लेखकों (किशोरीलाल गोस्वामी तथा देवकीनन्दन खत्री) ने इन्हीं के अनुकरण पर तिलस्मी-ऐय्यारी उपन्यास लिखे।[३]

अपने दृष्टिकोण में मूलतः राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर ही कुछ समीक्षकों ने आधुनिक उपन्यास को वस्तुतः साहित्य की नवीन-विधा न मानकर उसे संस्कृत साहित्य में 'कादम्बरी', 'दशकुमार चरित', आदि गद्य साहित्य में पर्याप्त विकसित संस्कृत-कथा-साहित्य की परम्परा का ही विकास प्राप्त रूप

---

१ शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास', पृ० ५१।

२ शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास' (तृतीय संस्करण) सं० २००७ विक्रमीय, पृ० ५५।

३ वही पृ० ६१।

माना[1]। इस प्रकार की स्थापना करना पूर्वाग्रह से आक्रान्त होने का प्रमाण ही सिद्ध होगा। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत अधिक संतुलित एवं स्पष्ट है। संस्कृत साहित्य की उपर्युक्त मनोरम कृतियों को द्विवेदी जी ने उपन्यास जातीय कथा-काव्य के नाम से अभिहित किया है सही, पर साथ ही यह तथ्य भी स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें उपन्यास नहीं कहा जा सकता है।[2]

इसी मन्तव्य को प्रभावशाली ढंग से अधिक समझा कर नलिनविलोचन शर्मा ने विचारार्थ प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—"हिन्दी उपन्यास की स्थिति हिन्दी काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर आधुनिकतम हिन्दी काव्य की परंपरा अविच्छिन्न है, किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पश्चिम से नहीं लाया गया हो तो उसका बँगला कमल तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दंडी और बाण की लुप्त परंपरा पुनरुज्जीवित की गई।"[3] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भी उपन्यास को हिन्दी में एक नई सृष्टि मानते हैं। जो विद्वान हिन्दी उपन्यास रचना का सम्बन्ध प्राचीन संस्कृत कथा साहित्य से स्थापित करते हैं, उनसे असहमति प्रकट करते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि—"उपन्यास का सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन औपन्यासिक परंपरा और पौराणिक कथाओं से जोड़ना विडम्बना मात्र है।"[4]

पहले ही बताया जा चुका है कि हिन्दी उपन्यास के प्रादुर्भाव पर अँग्रेजी साहित्य का सीधा प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। अँग्रेज सर्व-प्रथम समुद्र-तट पर स्थित प्रान्तों में आकर जमे। इस प्रकार राजनैतिक संपर्क के साथ अन्य भारतीय प्रदेशों की तुलना में बंगाल अंग्रेजी शासन के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में बहुत पहले आ गया था। वहाँ लेखकों पर अँग्रेजी उपन्यास का प्रभाव पड़ चुका था। बंकिम के माध्यम से उनका तथा उनके सम-कालीन उपन्यासकारों का हिन्दी की उठती हुई उपन्यास विधा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। तात्कालिक पश्चिमी उपन्यास का बंगला पर प्रभूत प्रभाव था, इस

---

१ श्याम सुन्दरदास—'साहित्यालोचन', ।

२ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी "हिन्दी साहित्य", पृ० ४१३।

३ नलिनविलोचन शर्मा—"आलोचना", वर्ष-२ खंड १।

४ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय "आधुनिक हिन्दी साहित्य", पृ०९३-९४ ।

कारण आरंभिक काल में हिन्दी पर पश्चिमी उपन्यास की छाया प्रत्यक्ष न पड़ कर बंगला के माध्यम से आई-यद्यपि दो-तीन-दशकों के बाद अनेक पश्चिमी उपन्यासकारों के अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होने के कारण हिन्दी उपन्यास पर पश्चिमी उपन्यास की अनेक प्रवृत्तियों का सीधा प्रभाव भी पड़ा। दुर्गेशनंदिनी (सन्१८८२) और 'राधारानी' (सन् १८८३ ई०) के नाम से बंकिम बाबूकृत क्रमशः ऐतिहासिक एवं प्रेमाख्यानक उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में पहले-पहल हुआ[1]।

अतः हमें आधुनिक उपन्यास के आरम्भिक रूप को बंगला के माध्यम से अंग्रेजी में खोजना पड़ेगा।

बंगसाहित्ये उपन्यासेर धारा, के विद्वान लेखक श्रीकुमार बान्द्योपाध्य के मतानुसार ऐसी बात नहीं थी कि बंगला में उपन्यास एक बारगी कहीं से आ गया हो उनके अनुसार प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसका क्षीण संकेत खोजने से अवश्य पाया जाता है। काव्य में, धर्म-ग्रन्थ में, व्यङ्ग-विद्रूप की कविता में, आख्यायिका में और नाटक में जहाँ कहीं भी लेखक के द्वारा ज्ञात अथवा अज्ञात समाज का एक वास्तविक चित्र प्रतिफल हुआ अथवा जहां कहीं भी इस चित्रांकन की चेष्टा भी देखी गई अथवा सामाजिक मनुष्य का सम्पर्क अथवा संघात प्रस्फुटित हुआ वहीं पर उपन्यास का छायापात हो गया। उपन्यास के जन्म होने के पूर्व ही उसके लक्षण और उपादान साहित्य में विपर्यस्त भाव से बिखरे पड़े थे। तत्पश्चात् यथासमय किसी प्रतिभावान लेखक ने इन समस्त विपर्यस्त एवं बिखरे उपादानों को एकत्र कर सुसम्बद्ध तथा सुनियंत्रित कर उन्हें एक आख्यायिका में गूँथ दिया। उसने एक प्रकार के नूतन साहित्य को जन्म दिया और चिर-प्रवाहमान साहित्य-स्रोत को एक नवीन प्रणाली में संचारित किया।[2]

---

१ रघुनाथशरण झालानी, 'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास';——पृ० ४३-४४

२ ....प्राचीन साहित्येर मध्ये० इहार क्षीण संकेत ओ सुदूर इंगित खूंजिया पायोआ जाय। काव्ये-धर्मग्रन्थे-व्यंगविद्रूपेर कविताय-आख्यायिकाय (नरेटिव पोयट्री) ओ नाटके, जेखानेइ लेखकेर ज्ञातसारे वा अज्ञातसारे समाजेर एकटि वास्तव चित्र प्रतिफलित होय, जेखानेइ चित्रांकनेर चेष्टा देखा जाय वा सामाजिक मनुष्येर सम्पर्क वा संघात फुटिया उठे, सेखानई उपन्यासेर भावी छायापात होइया था के। उपन्यासेर जन्म हइवार पूर्वइ,

श्री कुमार वन्द्योपाध्याय भी बंगला उपान्यास पर अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव को स्वीकार करते हुये कहते हैं कि अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हमारे देश के साहित्य में जो सब नूतन प्रकार की धारणा लिये हुए साहित्य उठ खड़े हुए उन सब में उपन्यास ही प्रधानतम है । इस उपन्यास के अनुरूप कोई भी साहित्यिक विधा हमारे प्राचीन साहित्य में खोजने से भी नहीं मिलती । यही बात अन्य देशों के प्राचीन साहित्यों के सम्बन्ध में भी सत्य है। उपन्यास की प्रधान विशेषता यही है कि इसमें सभी सामिग्री आधुनिक है। पुरातन युग के वातावरण में इसका जन्म सम्भव ही नहीं हो सकता था। आधुनिक युग के परिवर्तन से साथ उसका घनिष्ट और अंतरंग सम्पर्क है । सब श्रणियों के साहित्य के बीच में उपन्यास ही गणतन्त्र की भावना द्वारा सब की अपेक्षा अधिक प्रभावित हुआ है। इसी गणतन्त्र की मूल भित्ति के ऊपर इसकी प्रतिष्ठा की गई है। उपन्यास जिस समाज के बीच में जन्म ग्रहण करता है उसे अतीत कालीन समाज से अनेक गुरुतर विषयों में भिन्न होना चाहिये ।

व्यक्तित्व बोध और उपन्यास का आविर्भाव

उपन्यास का सर्वप्रथम एवं अपरिहार्य अंग है—मध्ययुगीन सामाजिक शृंखला-बन्धन से मनुष्य का छुटकारा एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता । इस श्रेणी-विशेष के बीच में अपनेपन को खोना व्यक्तित्व के विकास के सिद्धान्त के बिलकुल प्रतिकूल माना जाता है और उपन्यास के आविर्भाव के पक्ष में यह आत्म-विलोपन बीच में आ पड़ने वाली बड़ी भारी बाधा के रूप में लिया जाता है। किन्तु आधुनिक युग का मानव अपने को एक श्रेणी में डुबा कर नहीं रखना चाहता । समुदाय एवं सामाजिक वन्धनों से छुटकारा पाकर अपने

उहार लक्षण ओ उपादानगुलि विक्षिप्त—विपर्यस्त भावे साहित्येर मध्ये छड़ान थाके । तारपोर यथासमये कोन प्रतिभावान लेखक एइ समस्त विक्षिप्त उपादानगुलि सुसंबद्ध ओ सुनियन्त्रित कोरिया, ओ ताहादिगोके एकटि वास्तवआख्यायिक मध्ये गांथिया दिया, एक प्रकार नूतन साहित्येर जन्मदान कोरेन ओ चिर प्रवहमान साहित्य-स्त्रोत के एकटि नूतन प्रणालीते संचरित कोरेन ।

—श्री कुमार वन्द्योपाध्याय—'बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा' कलकात्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३ ।

व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना उसकी आकाँक्षा का प्रधान विषय हो गया है। इस व्यक्तित्व बोध के साथ ही साथ उपन्यास का आविर्भाव हुआ दूसरी बात यह है कि मानव के व्यक्तित्व विकास के साथ साथ समाज में सब से नीचे के स्तर के लोगों के मन में भी जो एक आत्ममर्यादा का बोध जागृति हो गया और जिसे समाज की अन्य श्रेणियों के लोग शीघ्रता से अथवा विलम्ब से स्वीकार करने को बाध्य हुए। निम्न वर्ग में आत्म मर्यादा के जागृत हो जाने का बोध उपन्यास साहित्य का एक प्रधान उपादान है। उपन्यास के ऊपर गण-तन्त्र का प्रभाव यहाँ भी अत्यन्त विकास प्राप्त रूप में है। प्राचीन साहित्य का वर्ण्य विषय प्रधान रूप अति मानव अथवा उच्चश्रेणी के मनुष्यों का कीर्ति-कलाप हुआ करता था, इसमें साधारण लोगों की गति नहीं होती थी। प्राचीन साहित्य में जहां कहीं भी साधारण मनुष्य नायक पद पर या उच्च पद पर है वहाँ पर वह मानवत्व की विशेषताओं के कारण नहीं, प्रत्युत देवताओं (स्वामी) के अनुग्रह के रूप में है। दूसरी ओर अति सामान्य लोगों के दैनिक जीवन को लिख कर और वहां से उठ कर ऊपर आकर जीवन के सम्बन्ध की कुछ साधा-रण एवं व्यापक धारणाएँ स्फुरित करना उपन्यास का प्रधान कार्य है। इस कारण से जिन देशों में इस प्रकार की संशोधित एवं परिवर्तित अवस्था नहीं है, वहाँ उपन्यास का आविर्भाव सम्भव नहीं। इन्हीं कारणों से उपन्यास का आधुनिकत्व वर्तमान युग के पूर्व—गणतन्त्र के विकास जन्म के पूर्व यहाँ पर सम्भव नहीं था[1]।

---

१ "इंग्रेजीर साहित्येर प्रभावे आमादेर देशे जे सब नूतन धारणेर साहित्य गोड़िया उठिया छे ताहार मध्ये उपन्यासई प्रधानतम। एइ उपन्यासेर अनुरूप कौन वस्तु आमादेर पुरातन साहित्ये खूंजिया पाओया जायना। ....उपन्यासेर प्रधान विशेषत्वइ एइजे इहा सम्पूर्ण आधुनिक सामग्री। पुरातन युगेर आकाश वातासेर मध्ये इहार जन्म संभव पर नोय। आधुनिक युगेर सामाजिक परिवर्तनेर संगे इहार एके बारे घनिष्ट अन्तरंग संपर्क। सर्व श्रेणीर साहित्येर मध्ये उपन्यासई सर्वापेक्षा गणतंत्र सम्पर्क सर्व श्रेणीर साहित्येर मध्ये उपन्यसइ सर्वापेक्षागणतंत्रेर प्रभावे प्रभावान्वित। एइ गणतंत्रेर मूलभितरन्उपरेइ इहार प्रतिष्ठा। उपन्यास जे समाजेर मध्ये जन्म ग्रहण करे ताहा अतीतकालेर समाज........ अनेकगुती गुरुतर विषये विभिन्नन्होओया चाइ। प्रथमतः मध्ययुगेर सामा-

अंग्रेजी प्रभाव

अंग्रेजी साहित्य के परिचय से वंग समाज और साहित्य में नई सभ्यता के अनुकरण की प्रवृत्ति आई। उपन्यास ने हमारे अपने समाज और वंग परिवार से उपादान की खोज आरम्भ की।

अपने प्रथम सम्पर्क में अंग्रेजी सभ्यता देशवाशियों के लिए विशेष रूप से आकर्षण की वस्तु थी। अंग्रेजी सभ्यता के सहित बंग समाज एवं तज्जन्य विक्षोभ ही नये उपन्यास का उपादान बना। अंग्रेजी सभ्यता की तीव्र मदिरा से नव्य बंगाल समाज में उत्कट उन्माद जगाया था। बहुत दिनों की जड़ता के पश्चात नये वंग समाज की नूतन जीवन के स्पन्दन के अनुभव हुए। नये सामाजिक आदर्श की खोज में तथाकथित शिक्षित तथा अंग्रेजी सभ्यता द्वारा प्रभावित वर्ग विना अधिक सोचे-समझे आगे बढ़ा। इस समय सनातन बन्धन

जिक श्रृंखल हो इते मानुषेर मुक्ति लाभ ओ व्यक्ति स्वातंत्र्येर उद्बोधन उपन्यास साहित्येर एकटि अपरिहार्य अंग।........एइ श्रेणी विशेषेर मध्ये आत्म विलोप व्यक्तित्व-विकासेर पक्षे सम्पूर्ण प्रतिकूल ओ उपन्यासेर आविर्भाव पक्षे एकटिप्रधान अन्तराय। किन्तु आधुनिक युगेर मानव आपना के एकटी श्रेणीर मध्ये सम्पूर्ण रूपे डुबाइया राखिते चायना समुदाय सामाजिक श्रृंखल हो इते मुक्ति लाभ कोरिया निजेर व्यक्तित्व फुटाइया तोला ताहार एकटि प्रधान आकांक्षार विषय होइया छे। एइ व्यक्तित्व बोधेर संगे संगेइ उपन्यासेर आविर्भाव द्वितीयतः व्यक्तित्व विकासेर संगे संगे निम्नतम श्रेणीर मानुषेर मनेओजे एकटा आत्ममर्यादा बोध जागि आ उठे ओ जाहासमाजेर अन्यान्य श्रेणीर लोक शीघ्रइ हउक ना बिलम्बेइ हउक स्वीकार कोरितेबाध्य होय, ताहाओ उपन्यास-साहित्येर एकटि प्रधान उपादान। उपन्यासेर उपर गणतन्त्रेर प्रभाव एखानेओ सुपरिस्फुट। प्राचीन साहित्येर विषय प्रधानतः अतिमानुष वा उच्चश्रेणीर मानुषेर कीर्ति-कलाप, इहा साधारण लोकेर विशेषधार धारे ना।........पक्षान्तरे अपि सामान्य लोकेर दैनिक जीवन लिपिबद्धकरा ओ उहा होइते जीवन संबंध कतक गुलि साधारण-व्यापक धारणा फुटाइया तोलाई उपन्यासेर प्रधानकार्य। वर्तमान युगेरपूर्वे-गणतन्त्र जन्म-विकाशेर पूर्व इहार आविर्भाव संभव छिलो ना"—श्री कुमार वन्धोपाध्याय, वंग साहित्ये उपन्यासेर धारा पृ० १-२ (प्रथम संस्करण)

शिथिल हो गये थे। नैतिक एवं समाजिक विधि-निषेध (टैबूज) निर्ममता से तोड़े जा रहे थे। परिवार परिवार में इस विद्रोह की भावना की उत्कट अभिव्यक्ति हुई। गुरुजन तथा अभिभावक श्रेणी के लोग विस्मय-विमूढ़ हो हत बुद्धि भाव से पुराण तथा धर्म-शास्त्र-वर्णित म्लेच्छ-युग के आने का अनुभव कर रहे थे। परिणामतः प्रतिक्रिया का भाव उठा। नये उद्वेग के वशीभूत होकर सभी विजातीय वस्तुओं का बहिष्कार हुआ। घर-घर में तरुण-दल के विद्रोह के अहंकार ने विप्लव की तुमुल अशान्ति जागृत कर दी।

बंगला में उपन्यास के आविर्भाव के समय यही विप्लव का चरित्र उस का प्रथम उपादान बना। प्रथम युग के बंगला उपन्यास का वर्ण्य विषय यही विक्षोभ की भावना थी। कतिपय विद्रोही युवकों ने दुख-दीनता का वरण करके साहित्य-सेवा का व्रत लिया।

अंग्रेजी सभ्यता के संस्पर्श ने हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवन में जिस अशान्ति एवं विशृंखलता के भाव को ला दिया था उसने उस समय के जीवन के घटना-वैचित्र्य के अभाव को पूर्ण किया। उसने औपन्यासिक का ध्यान भी आकर्षित किया। जो भी इससे प्रकट रूप में प्रभावित नहीं हुए उनके बीच में पारिवारिक वैषम्य को गम्भीरतर करके उनके जीवन में भी एक वैचित्र्य एवं जटिलता का संचार कर दिया। हमारे परिवार में पहले तो राम का आदर्श था पर इस समय विचारों के संघर्ष के कारण परिवार व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई। ये सब बातें उपन्यास में सम्मिलित कर ली गईं। और भी एक बात थी। जिन लोगों ने प्रथम यौवनोन्माद में समाज और परिवार के बन्धनों से मुक्त होकर समाज की संगठित विरोध भावना से मोर्चा लिया था, वे अन्त तक न टिके रह सके। ऐसे लोगों ने असफलताजन्य निराशा के कारण या तो आत्महत्या करली अथवा समाज के साथ समझौता करके समाज की गोद में फिर आ गये। इस बात ने उस समय की सामाजिक, नैतिक-चेतना को संतोष प्रदान किया। इसे अनाचार की पराजय तथा नीति के उल्लंघन करने के अवश्यम्भावी दंड के रूप में लिया गया। औपन्यासिकों ने इसको प्रायश्चित के रूप में देखा। हमारे वर्तमान उपन्यासों के बीच में अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न यही पारिवारिक अशान्ति और विश्रृंखलता के चित्र ने एक प्रधान स्थान बना लिया था।

प्रथम युग के पहले के उपन्यास—जिन्होंने इस कशमकश को ग्रहण किया

अधिकांश में सनातन धर्म के आचार पर अवलंबित थे। इसीलिये वे अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता के प्रति [illegible] होकर सुविचार नहीं कर पाये। इन सब लेखकों ने अंग्रेजी सभ्यता की अच्छाइयों की ओर से आँख बन्द कर ली थी। उनकी मानसिक संकीर्णता और पुरातन पर अन्धभक्ति हमारे मस्तिष्क को संतोष नहीं देती। पर कुछ लेखकों ने सन्तुलित ढंग से विचार करके संकीर्णता को छोड़ कर और साधारण श्रेणी से ऊपर उठ कर आधुनिक उपन्यास के लिये अग्रदूत का कार्य किया। इन लेखकों में प्यारी चाँद मित्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके 'अलालेर घरे दुलाल' में हम तत्कालीन सर्वांग सुन्दर उपन्यास का उदाहरण पाते हैं।

अंग्रेजी प्रकार के उपन्यासों के आने के पूर्व हिन्दी की भांति बंगला में भी कतिपय मुसलमानी गल्प-कथाओं का—'आरब्योपन्यास' 'हातिमताई' 'लैला-मजनू' 'चहारदरवेश' 'गुलबकावली' आदि का प्रचार था। उस समय की बंगाल लायब्रेरी की पुस्तक-सूची देखने से यही पता चलता है।

अस्तु, इस अव्यवस्थित परवर्ती युग में हिन्दू-मुसलमानों के विरोध को लेते हुए तथा मुसलमानी माया-इन्द्रजाल वेष्टित एक प्रकार के छद्म ऐतिहासिक (श्यूडो हिस्टारिकल) उपन्यास का आविर्भाव हुआ। बस इसी को हम बंगाली साहित्य के ऊपर मुसलमानी गल्प के प्रभाव के एकमात्र निदर्शन के रूप में ले सकते हैं।

मुसलमानी परंपरा तथा मुसलमानी पुस्तकों के अनुवादों ने पाठकों को पूर्ण रूप से प्रभावित नहीं किया पर कुछ लोग ऐसे थे जिनके लिये धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन दुरूह था। ये लोग इस प्रकार की पुस्तकों से मनोरंजन करते थे। बंगाल लायब्रेरी की पुस्तक सूची में खोज कर देखने पर यह स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि १९वीं शताब्दी के मध्य भाग में जब अंग्रेजी साहित्य का आदर्श बंगला साहित्य में धीरे-धीरे पल्लवित हो रहा था तथा जब मुद्रणालय की सहायता से अनुवाद के माध्यम से विदेशी साहित्य राशि बंगाल के साहित्य में भरी जा रही थी उस समय उपर्युक्त प्रकार की मुसलमानी गल्पों का अनुवाद भी तत्कालीन बंगाली साहित्य की प्रचेष्टा का एक प्रधान अंग बन रहा था।

अंग्रेजी में उपन्यास की अवतारणा का क्रम

बंगला पर भी अंग्रेजी उपन्यास के व्यापक प्रभाव के कारण आधुनिक उपन्यास को ठीक से समझने के किये हमें अंग्रेजी भाषा में ही उपन्यास की **अवतारणा के क्रम को समझना पड़ेगा।**

अंग्रेजी भाषा की भाँति अंग्रेजी उपन्यास भी एक समृद्ध एवं लोचदार साहित्यिक माध्यम का साधन है जो यों ही संयोगवशात् शताब्दियों में विकास पाता गया है। इसमें कभी नियमों की रूढ़ि-बद्धता नहीं रही है। आवश्यकता पड़ने पर यथास्थान नियमों में परिवर्तन भी हुए हैं तथा उपयोगी तत्वों को यत्र-तत्र-सर्वत्र से ग्रहण किया गया है। लेखकों की मनोवृत्ति के अनुरूप इसके रूपों में सदैव परिवर्तन होता रहा है। इस प्रकार उपन्यास की कहानी का न तो आदि ही जाना जा सकता है और न उसका अन्त ही।[1] सुविधा के लिये यूरोपीय कथा-साहित्य के इतिहास का आरम्भ हम "मिलीशियन टेल्स" के अज्ञात लेखकों के समय से मान सकते हैं। जैसे अँग्रेजी कथा साहित्य का आरम्भ हम एलिजावेथ के समय से मानते हैं। पर इन दो में से किसी भी एक समुदाय को उपन्यास के आविष्कार का श्रेय नहीं मिल सकता।[2]

हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि यह केवल सुविधा की दृष्टि से ही है, किसी तर्क के कारण नहीं कि आधुनिक पुस्तक-विक्रेता 'आल्डस हक्सले' के नये उपन्यास को तो कथा-विभाग में रखने के लिये प्रेरित करता है जब कि इस विचार-क्रम से 'सीन ओकेसो' का नाटक अथवा 'जान मेसफील्ड' की वर्ण-

---

1 "The English novel, like the English language, is a rich and flexible instrument which has developed casually through the centuries, making its own laws, breaking them, borrowing from abroad, now here, now there absorbing every fresh idea, rarely jettisoning an old one, and branching out a fresh at the whim of every masterhand which has gone to its shaping. In truth the story of the novel has no end and no beginning."

—S. DIANA NEIL : *A Short History of the English Novel*, p. 7.

2 "Yet no body knows just what a novel is, and no body knows just where the novel begins, for convenience sake, we generally begin the history of European fiction with the unknown authors of the Milesian tales, that of English fiction with the Elizabethans, but neither of these groups invented fiction."

—EDWARD WAGENKNECHT : *Cavalcade of the English Novel*, p.XV (Introduction).

नात्मक कविता को कथा-विभागेतर वर्ग में रखा ही जाना चाहिये। कहानी कहानी ही रहती है चाहे वह गद्य में कही जाय अथवा पद्य में, चाहे वह दृश्यों में विभक्त हो चाहे अध्यायों में। 'चासर' की 'पार्डनर्स टेल' एक छोटी कहानी से बढ़ कर है, यह एक छोटी कहानी है उस विशिष्ट एवं उच्च भाव में भी जिस भाव से 'ब्रैन्डर मैथ्यूज' ने 'मोपासां' एवं 'पो' की रचनाओं का अध्ययन करके इस विधा की परिभाषा लिखी थी। दूसरी ओर 'ट्रायलस ऐण्ड क्रेसीड', यदि ठीक ठीक-कहा जाय तो कठिनाई से उसे वर्णनात्मक खण्ड-काव्य कह कर बतलाया जा सकता है, परन्तु यदि 'चासर' शेक्सपियर' के युग में हुआ होता तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं कि उसका 'ट्रायलस ऐण्ड क्रेसीड' नाटक के रूप में हुआ होता। और यदि वह आजकल के युग में हुआ होता तो निश्चय ही हम उसे एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में देखते।

'ओल्ड टेस्टामेन्ट' (बाइबिल का प्राचीन पूर्वार्द्ध खन्ड) में 'जोना' ईस्थर और रूथ के वर्णनों में कथात्मकता है—और ऐपाक्रिफा नामक अंश में तो कथात्मक निश्चित रूप से है जहाँ हम टोबिट, सुसाना, वेल और ईगन की बातें पढ़ते हैं। संसार की सर्वश्रेष्ठ छोटी कहानियाँ हजरत ईसा की दृष्टान्त कथाओं (पैराबुल्स) में ही मिलती हैं—

"कोई व्यक्ति जेरूसलम से जेरिको गया और चोरों के चक्कर में पड़ गया। जिन्होंने उसके कपड़े उतार कर उसे नंगा कर दिया और घायल कर दिया और फिर उसको अधमरा छोड़ कर चलते बने।"

कथानक, चरित्र, सेटिंग—कथा साहित्य के सभी आवश्यक उपादान यहाँ इस एक वाक्य में हैं। घटना न जेरूसलम में घटित होती है और न जेरिको में ही, वरन् वह दोनों को मिलाने वाली सड़क पर घटित होती है। 'आदमी' को व्यक्तित्व नहीं प्रदान किया गया है उसका नाम नहीं दिया गया है, उसके चरित्र तथा स्वरूप को बिना वर्णन किये यों ही छोड़ दिया गया है। परन्तु कहने वाले के प्रयोजन की दृष्टि से—इस उदाहरण में ऐसे ब्योरे वर्ण्य-विषय की सार्वजनीनता (यूनीवर्सलिटी) को नष्ट कर देते हैं। 'कोई एक आदमी' कह देना पर्याप्त है। वह कोई भी आदमी है। वह तुम है या मैं हूँ, अथवा पड़ोस में रहने वाला आदमी। और इस प्रकार जिन लोगों को यह कहानी सुनाई जा रही है उन सब के निकट मार्मिक सम्पर्क में आ जाती है।

पर बाइबिल के लिपिबद्ध किये जाने के पहले भी कथात्मक बातें थीं। इस

हिसाब से किसी भी प्रकार के लेखन-व्यापार से बहुत पहले कथात्मक सामग्री का अस्तित्व[1] था। स्वयं 'साहित्य' शब्द ही अन्यथानामकरण का उदाहरण हैं, यह छपे हुए पृष्ठ के दासत्व के प्रतीक के रूप में स्थित है। सभी प्रकार के साहित्य का चरम स्रोत तो मौखिक परम्परायें ही हैं और 'बैलेड' तथा 'ऐपिक' की चर्चा करते हुए हम इस बात को स्पष्ट रूप से मानते हैं। धर्म के क्षेत्र की भाँति साहित्य में भी सत्य का उद्घाटन करने वाले सन्तों की परम्परा[2] है। 'जोसेफ कानराड' और 'आर्नल्ड बेनेट', 'स्टार्म जेम्सन' और 'शीला के-स्मिथ' के पीछे वर्णन करने वालों की एक अटूट शृंखला है जो प्राचीन अरबों के तम्बुओं के अलाव तक पहुँचती है जहाँ रेगिस्तान की अंधेरी रात में छोटे-छोटे बच्चों से घिरा बैठा एक वृद्ध व्यक्ति उनको अपनी जाति के कृत्यों का वर्णन अपनी स्मृति के सहारे सुनाता है। कथा के रूप विकास के विषय में यह भी सोचा जा सकता है कि जब आदि माता ने प्रथम शयनकालीन कथा परिश्रम से क्लान्त प्रथम लघु बालिका को धीमे फुस्फुसाहट के स्वर में सुनाई तब कथात्मक रचना का उदय हुआ। जब प्रथम शिक्षक ने प्रथम विद्यार्थी को उसकी उत्सुकता को शान्त करने के लिये वस्तुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहानी गढ़ कर सुनाई तब कथात्मक रचना का जन्म हुआ। जब प्रथम मत्स्यजीवी बड़ी थोड़ी सी मछली लाकर घर लौटा और रास्ते से बाहर जाकर जब उसने उस जलचर के महत्व एवं आश्चर्य-जनक रूप के विषय में बतलाया जो जाल से बच कर निकल भागा था, और जब प्रथम युगीन आखेटक ने भय से काँपती हुई अपनी पत्नी को कस कर अपनी

---

1 "But there was fiction long before the fiction was written. For that matter, there was fiction long before anything was written."

—EDWORD WAGENKNECHT : *Cavelcade of the English Novel*, p. XVI (Introduction).

2 "There is an apostolic succession in art as well as religion; behind Joseph Conrad and Arnold Bennett, Storm Jaines on and Sheila Kaye—Smith stretches an unbroken line of narrators back to some ancient Arab campfire where an old man sits rehearsing tribal memoires to the little company gathered about him in the desert night."

—*idid*, pp. XVI--XVII (Introduction).

भुजाओं में समेटते हुए जंगल के उस भयंकर हिंसक जन्तु के विषय में बतलाया जिससे वह बाल-बाल बच कर निकल आया था, तब कथात्मक प्रकार की सृष्टि हुई।

'फिक्शन और नावेल'

निःसंदेह 'फिक्शन', 'नावेल' से अधिक व्यापक शब्द है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि 'नावेल' की पूर्णरूपेण संतोषजनक परिभाषा कभी नहीं की गई। सर हैरी जान्स्टन ने एक बार बड़े तीखेपन के साथ शिकायत करते हुए कहा था कि हमारे पास अंग्रेजी में ऐसा कोई भी उपयुक्त शब्द नहीं है जिसकी सहायता से हम साधारण जन के जीवन वृत्तों और उनकी भावनाओं के उस अध्ययन की अभिव्यक्ति का नामकरण कर सकें जो अधिकांश साक्षर लोगों के लिये अनेक प्रकार से साहित्य का सबसे अधिक आकर्षक स्वरूप बन गया है।[1]

शब्द-गत अर्थ

यदि शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ग्रहण करें तो 'नावेल' से तो 'कुछ नई' बात का बोध होता है और 'फिक्शन' में मिथ्या का आभास मिलता है तथापि उत्तम नावेल के प्रचलन और जन-मन की कल्पना पर प्रभाव का एक मात्र कारण उसमें पाये जाने वाले सत्य के ही कारण होता है। उनकी सफलता इसी कारण होती है क्योंकि वे मानव स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिये मनावैज्ञानिक दर्पण सिद्ध होते हैं।[2] अट्ठारहवीं शताब्दी के लेखकों ने अपने

---

1 "Fiction is of course, a much wider term than 'Novel', and as I have already suggested, 'novel' has never been satisfactorily defined. Sir Harry Johnson once complained with bitterness that we have in English no really adequate term' to express that study of people's lives and emotions which has become in many ways the most fascinating form of litetature to the majority of people to read.": *ibid*, p. xvii–(Introduction).

2. "Yet the best novels have always owed their vogue, their power over the imagination, to their inherent truth, the success with which they turn their mirror on human nature."

–*'On the Writing of Novels'*, Yele Review, XI (1921), pp. 58—67.

उपन्यासों से मिथ्यात्व का वातावरण हटाने के लिये अपने विस्तृत वर्णनयुक्त कथाओं को 'हिस्ट्रीज' का नाम दिया था, पर आधुनिक काल में वर्जीनियावुल्फ के 'नावेल्स' को 'हिस्ट्रीज' कहना आज की कठिनाई और गड़बड़ को दूर करने में समर्थ नहीं होगा। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो उनको 'नावेल्स' भी नहीं मानते हैं।

उपन्यास और छोटी कहानियाँ

'नावेल' (उपन्यास) और 'शार्ट स्टोरी' (छोटी कहानी) के बीच में केवल शब्द संख्या के परिमाण का ही अन्तर नहीं होता, कुछ 'शार्ट स्टोरीज़', कुछ 'नावेल्स' से बड़ी होती हैं। दोनों के बीच अन्तर तो तद्गत समस्या का होता है। 'शार्ट स्टोरी' एक विशेष स्थिति को लेकर चलती है, 'नावेल' परिस्थितियों की शृंखला को लेकर आगे बढ़ता है पर इन विषयों में अत्यधिक रूप से स्ववाक्य-अकाट्यत्व-स्थापन-प्रयासी होना ठीक नहीं।

उपन्यास और यथार्थ तथा उपन्यास और रोमांस

क्या उपन्यास को यथार्थवादी होना ही चाहिये, बहुत पहले सन् १७८५ ई० में ही 'क्लेरा रीव' ने, जो स्वयं उपन्यास लेखिका थी, उपन्यास और रोमांस के बीच में अन्तर का निर्देश करने का प्रयास किया। उसने बताया, 'नावेल वास्तविक जीवन तथा रहन-सहन के ढंग का चित्र है। जिस समय में नावेल लिखा जाता है उस युग का चित्र भी उसमें होता है। रोमांस उच्च कोटि की काव्यात्मक भाषा में उन बातों का वर्णन करता है जो न कभी घटित हुए और न जिनके घटित होने की कुछ सम्भावना ही होती है।'[1] पर इस क्षेत्र में कितना ही शाब्दिक वाद-विवाद क्यों न हो चुका हो यथार्थ एवं रोमांस के बीच में पूर्ण पृथकत्व असंभव है। प्रत्येक महान् लेखक यथार्थवादी और रोमांसपरक दोनों ही हैं। निश्चय ही जार्ज सेन्ट्सबरी ने ठीक ही कहा है,' 'कथा के प्रमुख सार-भाग को प्रस्तुत करने के लिये अनेकानेक अद्भुत कल्पनाओं को एक बड़ी संख्या की योजना उतनी ही अधिक आवश्यक होती है जितनी घटनाओं का योग तथा इन घटनाओं की स्थापना करने तथा प्रभेदात्मक अन्तर स्पष्ट करने के

---

1 "The Novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it was written. The romance, in lofty and elevated language, describes what never happened nor is likely to happen"—(Clara Reeve) 1785—*ibid*, p. XVIII

लिए वास्तविक दशाओं की सहज ज्ञान-सुलभ-पकड़ आवश्यक है। जीवन तथा चरित्रों में कथात्मक साहित्य के महान् वांछनीय उपादान ये ही हैं।[1] आप यथार्थता के भाव को पूर्णरूपेण उपन्यास से निकाल दीजिये तो जो वस्तु रह जायगी वह उसी प्रकार छायात्मक होगी जैसे ई० आर० एडीसन के उपन्यास। दूसरी ओर यदि रोमांस को हम विशेषरूप से निकाल दें तो यह कहा ही नहीं जा सकता—क्या बचेगा ? क्योंकि असंभव सा लगता हुआ यह कार्य थियोडोर ड्रीजर के द्वारा भी सम्भव नहीं हो सका। आधुनिक प्रकृतवाद के पुरोहित कहे जाने वाले एमिल जोला का व्यक्तित्व उसकी लिखी हुई पुस्तकों का उतना ही महत्वपूर्ण तत्व है जितना कि जेम्स ब्राञ्च केबेल के व्यक्तित्व का महत्व उसकी रचनाओं में है।

सत्य के जाँचने का ढंग परियों की कहानी पर उसी प्रकार नहीं लागू होता जिस प्रकार वह यथार्थवादी उपन्यासों पर लागू होता है, परन्तु यदि कहानी उत्तम कोटि की होती है तो वह ढंग उस पर भी लागू होगा। परियों की कहानियों के प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ग्रिम के प्रशंसक किसी भी पाठक को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि उन कहानियों के अधिकांश आकर्षण का स्रोत जर्मन के स्नेहपूर्ण घरेलू वातावरण में है। उनमें इसी दुनियाँ का वातावरण है जो पूर्ण कल्पनाशील वर्णन खंडों में भी झलकता हुआ पाया जाता है। चार्ल्सपेरोल एवं मेडेमल कांटेस डोलनाय की परियों की कहानियों में उसका अभाव है। पर इसके बदले उनमें 'ज्वाय ड विव्र' (जीवन का आनंद) —एक मोदपूर्ण सामाजिक गुण है—जो गालिक साहित्य की विशेषता है। और इसीलिये प्रायः यह कहा गया है कि 'टेम्पेस्ट' (शेक्सपियर) हमारी रुचि के लिये विशेष आकर्षण रखता है इसलिये नहीं कि उसके वर्ण्य विषय में अविश्वसनीय बातों का समावेश है, वरन् उस आकर्षण का कारण यह है कि उसमें आये हुए चरित्रों का नैतिक स्वभाव उतनी ही सत्यता से प्रस्तुत किया गया है जितनी सत्यता हम अपने परिचित संसार के जीवन में पाते हैं।

---

1 "Surely Saintsbury was right when he said,—a crowd of phantastic imaginings or additions to supply the main substance, and a circumstances to set them upon and contrast them these are the great requirements of fiction in life and characters."

—*ibid*, P. XVIII (Introduction)

अंग्रेजी का आधुनिक नावेल

क्रास ने अंग्रेजी के कथा साहित्य का विकास आर्थरकालीन रोमांस से लेकर स्टीवेन्सन के उपन्यासों तक लिया है। उसने मानव स्वभाव की दो प्रवृत्तियां मानी हैं—एक आदर्शवादी और दूसरी यथार्थवादी। विद्वानों ने इन दोनों प्रवृत्तियों का उपयोग किया है। जहाँ एक ओर अनयन, रिचर्डसन और डिकेन्स की आदर्शवादिता है। आरंभ से ही दोनों एक दूसरे से लाभ उठाते हुए चलते हैं[१]। इस प्रकार साहित्य सदैव आगे बढ़ता रहता है पर बढ़ कर वह किस दशा में जायगा यह निश्चित रूप से पहले से नहीं बताया जा सकता। साहित्यिक विधाओं के परिवर्तन का वही क्रम है जो प्रकृति-विज्ञान द्वारा प्रतिपादित किया गया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि साहित्यिक इतिहास की सामग्री को हम विज्ञान की यथार्थता के कड़े नियम से नहीं जाँच सकते हैं।

'क्रास' ने भी 'रोमांस' और 'नावेल' के रूप में कथात्मक साहित्य के दो परस्पर विरोधी उद्देश्यों के संघर्ष को उपस्थित किया है। पहला शब्द अंग्रेजी में पुराना है और १४वीं शताब्दी में इसका साधारण रूप से प्रयोग होता था। रोमांस का अभिप्राय था आदर्शवादी साहसपूर्ण अभियान अथवा प्रेम की पद्यात्मक कथा। यह फ्रेन्च भाषा (अर्थात् रोमांस की भाषा) से लिए गये थे। जो कहानियाँ प्राचीन जमे हुए साहित्य ('क्लासिक') अथवा अन्य स्रोतों से ली गई थी अथवा जो स्वतंत्र रूप से आविष्कृत हुई थीं उन समस्त रचनाओं के लिए 'रोमांस' शब्द व्यवहृत होता था। पद्य में ही वर्णित पर वास्तविक जीवन (उसकी चालों एवं ईर्ष्या-द्वेष के सहित जीवन) के ढग के अधिक निकट रचनाओं को प्रावेन्सल[२] के कवियों ने 'नोवाज'[३] की संज्ञा प्रदान की थी। उसी के समकक्ष गद्य में वर्णित, सदैव लघुकाय साहित्यिक विधा के लिये बोकोचियो[४] तथा अन्य समकालीन लेखकों ने 'नोवाज' शब्द की प्रकृति और

---

1 "Romance learns from realism; and realism learns from romance."
WILBUR I. CROSS, *'The Development of English Novel'*, Verse forms (Old French)

२ प्रावेन्सल (Provensal) यह फ्रान्स का एक प्रान्त है।

३ 'नोवाज' (Novas) यह शब्द सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होता है।

४ बोकोचियो 'डिकेमरा' १४ वीं शताब्दी का प्रसिद्ध फ्रान्सीसी लेखक।

वजन पर शब्द 'नावेता' प्रयुक्त किया था[1]। इस प्रकार की यथार्थवादी रचनाएँ १४ वीं शताब्दी में लिखी गईं पर उन्हें 'टेल्स' कहते थे। 'टेल्स' शब्द के अर्थ परिवर्तित होते रहते थे। चासर ने इस शब्द को उन सब साहित्यिक विधाओं के लिये प्रयुक्त किया था जो १४ वीं शताब्दी के इंगलैण्ड में प्रचलित थीं।

वोकोचियो के पश्चात् दो शताब्दियों तक इटैलियन लोग 'नावेल' की रचना करते रहे। एलिजावेथ के युग में वे एक बड़ी भारी संख्या में अंग्रेजी में भी आये और उन्हीं के साथ 'नावेल' शब्द भी अंग्रेजी में आया। ये शब्द अनुवादों पर भी लागू होता था और अनुवादों के अनुकरण पर लिखी हुई अन्य रचनाओं पर भी। इस शब्द से एक बात और स्पष्ट थी कि इसमें वर्णन की हुई घटनाएँ और उनको वर्णन करने का ढंग सभी नये थे। 'नावेल' शब्द को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये बड़ा संघर्ष करना पड़ा, क्योंकि एलिजाबेथ के समय के लोग 'हिस्ट्री' शब्द को 'नावेल' की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। वे पद्य और गद्य में लिखे हुए सब प्रकार के कथात्मक आख्यानों के लिए हिस्ट्री शब्द प्रयुक्त करते थे जैसा कि कतिपय निम्नांकित शीर्षकों से स्पष्ट है—"दि ट्रेजिकल हिस्ट्री आफ रोमियो ऐण्ड

---

1 "The terms 'romance' and 'Novel', which in themselves are a summary of the two conflicting aims in fiction, require at the outset brief historical and descriptive definition. The former is in English the older word, being in common use as early as the fourteenth century. Our writers then meant first of all by the romance a highly indealized verse-narrative of adventure or love translated from the French, that is, from a romance language; they also extended the term to similar stories derived from classic and other sources, or of their own invention. For a verse—narrative approaching closer to the manners of real life its intrigues and jealousies,—the Provencal poets had employed the word novlas (always plural); for a like narrative in prose, always short, Boccaccio and his contemporaries were using the cognate word novella.

—Wilbur L. Cross : *The Development of the English Novel.* p. XIII (Introduction).

जूलियट" और "दि हिट्री आफ हैमलेट, प्रिन्स आफ डेनमार्क।" यह भी एक अच्छा नाम था क्योंकि इसमें तथ्यों के प्रति (काल्पनिक रूप से ही सही) सच्चा होने का भाव निहित था। छापाखाने के आरंभ से लेकर अब तक रोमांस का शब्द-प्रयोग साहसिक अतियानों के लिये भी न तो शीर्षक रूप में हुआ और न भूमिका में ही व्यवहृत हुआ। पर जब १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अबाध गति से कल्पनात्मक एवं अभिमानवी सृष्टि से सम्बन्धित रचनाओं का बाहुल्य हुआ तो रोमांस शब्द भी शीर्षक के रूप में फिर दिखाई पड़ने लगा। और तब क्लेरा रीव ने मनोरंजक परस्पर संभाषणों के समुदाय में रोमांस और 'नावेल' के बीच अन्तर स्पष्ट करने वाली विभाजक रेखा खींची।[1]

स्काट की कृतियों ने आलोचकों के लिए एक नई समस्या ला खड़ी की। क्लेरा रीव द्वारा वर्णित 'रोमांस' तथा 'नावेल' दोनों का ही उनमें सम्मिश्रण कर दिया गया था। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस मिश्रित रूप का क्या नामकरण हो ? इस समय 'नावेल' शब्द अंग्रेजी के कथासाहित्य का पर्यायवाची शब्द तो बन गया पर आगे चलकर यह नया नामकरण भी अपने साथ अनिश्चतता का वातावरण लिये रहा।

'दि इंगलिश नावेल' का साधारण बोलचाल की भाषा में अर्थ होता है— 'वे सब उपन्यास जो ग्रेट-ब्रिटेन में लिखे गये।' अमेरिका तथा अंग्रेजी-भाषा भाषी भू-प्रदेशों में प्रकाशित हुए उपन्यासों को भी अंग्रेजी उपन्यास की संज्ञा

---

1 "The novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it was written. The romance, inlofty and elevated language, deacribes what neover happened nor is likely to happen. The novel gives a familier relation of such things as pass everyday before our eyes, such as may happen to our friend or to our selves; and the perfection of it is to represent every scene in so easy and natural a manner and to make them appear so probable as to deceive us into a persuasion (at least while we are reading) that all is real, until we are affected by the joys or distresses of the persons in the story as if, they were our own..

—CLARA REEVE : *The Progress of Romance.*

दी जाती है। जे० सी० डनलप ने अपनी 'हिस्ट्री आफ प्रोज-फिक्शन' में और प्रोफेसर वाल्टर रेले ने अपनी 'इंगलिश नावेल' पुस्तक में इसी धारणा की पुष्टि की है।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी फिक्शन की शिथिल शैली के प्रयोग पर टिप्पणी देते हुए उसके लेखक ने एक अन्तर विशेष रूप से स्पष्ट किया है। उसके अनुसार मूल अर्थ गत रोमांस शब्द गद्येतर साहित्य को भी अपने में समेटता है पर नावेल शब्द विरले सम्पर्क में ही पद्यात्मक रचना के लिये प्रयुक्त होता है।[1]... इस निबन्ध का लेखक 'नावेल' एवं माध्यम श्रेणी के विकास में भी सामञ्जस्य उपस्थित करता है। वह आधुनिक 'नावेल' को साहित्य की एक नवीन विधा मानता है जिसमें कलात्मक अतिशयता के स्थान पर निम्न मध्यवर्गीय जीवन को महत्व दिया गया है।

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में 'नावेल' शीर्षक निबन्ध के लेखक के मतानुसार आधुनिक उपन्यास यद्यपि साहित्य की एक नवीन विधा है। पर इसने प्राचीनकाल की साहित्यिक परंपराओं से अनेकानेक आवश्यक उपादान ग्रहण किये[2] हैं। इस प्रकार आधुनिक अँग्रेजी उपन्यास का आरंभ ग्रीस और रोम की कहानियों, आइसलैंड की गाथाओं, बाईबल, मध्यकालीन गद्य-रोमांस, चासर[3] की कहानियों एवं फ्रान्स, इटली तथा स्पेन के कहानी साहित्य से होता है।

बेकर और आधुनिक 'नावेल'

श्री बेकर के अनुसार आधुनिक 'नावेल' एक ऐसी वस्तु है जिसे प्रत्येक व्यक्ति देखते ही पहचान जाता है। आकार-प्रकार के नानात्व के होते हुए भी पाठक के हृदय में जितना आकर्षण इस साहित्यिक विधा के प्रति होता है उतना अन्य के प्रति नहीं। इस बात में नावेल सब से निराला है। इसका माध्यम गद्य होता है, पद्य नहीं, वर्ण्य विषय के रूप में इसमें जीवन का चित्रण कथा के रूप में होता है। यह कथा पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से मिथ्या-

---

1 "The generic term 'romance,' however, included work not in prose, whereas the word nevel has never been applied (except for a very few specific novels in verse) to any but prosewriting,......" —*Encyclopedia Britaannica*. p. 572.

2 *Encyclopeabia Brditanica*—p. 572.

३ **चासर—आधुनिक अंग्रेजी साहित्य का आदि लेखक**

त्मक होती हैं, जीवन-चित्रण करने के ढंग पर यद्यपि पत्रकार की सी रिपोर्टिंग की अपेक्षा नहीं रहती, पर मानव अस्तित्व के तत्वों के साथ निश्चित एवं स्थायी संबंध अनिवार्यरूप से आवश्यक है। उसका कथन है—"कुछ लोगों के अनुसार उपन्यास तब तक उपन्यास नहीं होता जब तक कि उसमें कथानक, प्रेम का पुट आदि कतिपय मानव स्वभाव की विशेषताओं की छाप स्पष्ट न हों।[3] पर कुछ उपन्यासों में इनके अभाव में भी उपन्यासत्व प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। इसलिये उपन्यासों के उपादानों पर विशेष बल देना उचित नहीं। पर बेकर के अनुसार साधारणतः उपन्यास में सम्पूर्ण कथानक की गद्यात्मक शैली में इस प्रकार सुव्यवस्थित योजना होना आवश्यक है जिससे यथार्थ जीवन के अनुरूप ही उसमें जीवनचित्र अंकित हो और साथ ही लेखक की अपनी मानसिक प्रवृत्ति का परिचय भी एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राप्त हो सके। विस्तृत विचार के पश्चात् बेकर यह स्थापना करता है कि 'नावेल' का प्रारंभिक इतिहास एक ऐसी साहित्यिक विधा का इतिहास है जो 'नावेल' का स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकी है। यह बात सभी साहित्यिक विधाओं के प्रारंभिक रूपों के अध्ययन करते समय हमारे सामने आयेगी। महाकव्य अथवा नाटक के प्रारम्भिक स्वरूप के इतिहास का अध्ययन भी इसी उलटी सी लगती हुई बात की पुष्टि करेगा।

'फिक्शन' शब्द बड़ा व्यापक है। इसमें 'नावेल' तथा रहस्यात्मक साहस-पूर्ण गद्य कथाएँ ही नहीं सम्मिलित हैं, वरन् यदि हम इसका व्युत्पत्यात्मक अर्थ लें तो यह नाटक को भी अपने में समेट लेता है। कथात्मक साहित्य का

---

3 "Its medium is prose, not verse, as to content, it is a portrayal of life, in the shape of a story, wholly or in the main fictitious, as to its way of portraying life, though the pretence of exact reporting of indiscriminate detail is generally regarded as a mistaken kind of realism, and much latitude is allowed to plot and surprise, everything recounted is required to be credible or at least to have a definite and consistent relation to the facts of existence. Some would have it that a novel is not a novel unless it has certain habitual features, such as a plot and love interest."—E. A. Baker '*The History of the Englith Novel*, Vol. 1, p. 11.

प्राचीनतम रूप मौलिक रूप से कहे जाने के कारण और स्मृति में रखे जाने के कारण पद्य में था। पर जब हस्तलिखित प्रतियों की मनचाही संख्या छापा-खानों की सहायता से होने लगी और पाठकों की संख्या खूब बढ़ गई। तब पुरानी कहानियाँ सब की सब गद्य में लिखी जाने लगी। इस प्रकार आरंभ में गद्य का रूप तो केवल विचार की वेश-भूषा पर था। पर जब धीरे-धीरे दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली भाषा में पूरी गंभीरता के साथ, युक्ति संगठन रूप में जीवन का विचारात्मक अध्ययन उपस्थित किया जाने लगा तब आज का उपन्यास सामने आया।

शिप्ले के अनुसार साहित्य में 'नावेल' के समान अतिशय परिवर्तनशील एवं बहुरूपिणी साहित्यिक-विधा और कोई नहीं है। अपने विकास-क्रम के बहु संख्यक स्टेजों पर अन्य प्रकार की रचनाओं के गुणों का भी समावेश इसमें हो गया है।[1] इसे न तो जनता में अभिनय रूप में उपस्थित किये जाने की परिस्थिति का सामना करना पड़ा है और न ही अन्य प्रकार की मौखिक वाचन-क्रिया के प्रभाव दिखाने का अवसर ही मिला है। अतः 'नावेल' नाटकीय अथवा काव्यात्मक परम्पराओं की स्थापना करने के कार्य के उत्तरदायित्व से मुक्त रहा है। साहित्य की अन्य विधाओं में रचना-पद्धति सम्बन्धी अनेकानेक रूढ़ियाँ-नियम आदि पाये जाते हैं, पर उपन्यास की यह विशेषता है कि यह किसी ऐसे जटिल नियम से नहीं बँध सका जिससे इस के विकास की सम्भावना में किसी प्रकार की बाधा हो सके।

शिप्ले ने भी अंग्रेजी के 'नावेल' शब्द को 'रोमांस' के सहारे मध्ययुगीन 'रोमांस' शब्द पर आश्रित करते हुए इस मूल रूप को इटालियन 'नावेला' में खोज निकाला है। यह इटालियन शब्द 'न्यूज' का समानार्थी सा है। इससे हमें अंग्रेजी के आनुनिक 'नावेल' शब्द के एक दूसरे पक्ष का ज्ञान होता है।

---

1 "At various stages of its development, it has assimilated the characterstics of other ways of writing—essays and letters, memoirs and histories, religious tracts and revolutionary manifestoes, sketches of travels and books of etiquette, all the popular variety of prose."

JOSEPH T. SHIPLEY. : *Dictionary of World Literary Terms*, p. 283.

'न्यूज' शब्द से इसका निकटत्व जीवन की घटनाओं से पूर्ण एक नये प्रकार की वर्णनात्मक प्रणाली की ओर संकेत करता है जो आधुनिकतम एवं सत्य होने का दावा कर सकती है। इस प्रकार 'नावेल' का विकास एक ओर तो वीराख्यानों से पूर्ण दन्त-कथाओं से सम्बन्धित है और दूसरी ओर आधुनिक पत्रकारिता को भी स्पर्श करता है। ऐतिहासिक रूप से इसका विकास साक्षरता की शिक्षात्मक अभिव्याप्ति, मुद्रण-कला की यान्त्रिक पूर्णता और मध्यवर्ग की आर्थिक समुन्नति के साथ-साथ होता रहा है।

नावेल शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा

'नावेल' शब्द प्रथम बार सन् १४६० ई० में प्रयुक्त होता है यह प्राचीन फ्रेञ्च भाषा के 'नोवेल' (Novelle) शब्द से लिया जाकर अंग्रेजी में 'नावेल' (Novel) वना लिया गया है। इटैलियन शब्द 'नावेला' (Novelle) इस फ्रेञ्च 'नावेल' (Novelle) का समानान्तर है। यह लैटिन भाषा के 'नावेला' (Novella) से निकला है। जो नपुंसक लिंग के 'नोवेलस' (Novellus) के बहुवचन का रूप है। इसका स्वरूप 'नोवस' (Novus) अर्थात् नया शब्द पर आश्रित है। आजकल के 'नावेल' (Novel) के अर्थ में बाद के लैटिन शब्द 'नावेला' (Novella) स्काट (Constitutio) का बाहर से लेकर अपना बनाया हुआ रूप है जिसका साधारणतः बहुवचन में 'नावेली' (Novellae) रूप होता है।

नावेल शब्द का गुण बोधक अर्थ

सन् १७१६ ई० में 'नावेल' शब्द का वाच्यार्थ[1] कुछ नई बात अथवा नवीनता लिया गया था। सन् १७२४ ई० में यह शब्द बहुवचनरूप में समाचार (न्यूज), अथवा विशेष समाचार (Tidings) के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सन् १७३६ ई० में इसका प्रयोग एक बचन में एक समाचार (Piece of news) के लिये हुआ। 'नावेल' शब्द के बहुचनान्त प्रयोग के अन्तर्गत हम उन छोटी कहानियों को लेते हैं जो बोकोचियो के डिकैमरा अथवा मारग्रेट आफ बेलब्वाय के हेप्टामेरां (Heptemeron) प्रभृति ग्रन्थों में है।

सन् १६४३ ई० में 'नावेल' शब्द का अर्थ था—एक पर्याप्त विस्तार वाला काल्पनिक गद्यात्मक आख्यान। जिसमें कुछ कम या अधिक चक्करदार कथा-वस्तु के अन्तर्गत वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों एवं

घटनाओं का चित्रण होता[1] है। इस प्रकार का साहित्य भी इसी संज्ञा (Novel) से अभिहित होता था। इस अर्थ में इस शब्द के पहले 'दि' (the) आर्टिकिल नहीं लगता था। पर सन् १७५७ ई० से इस शब्द के पहले 'दि' आर्टिकिल का प्रयोग होने लगा[2]।

रोमन ला में इस शब्द का अर्थ होता है—एक नया आदेश या विधान जो कोडिक्स अर्थात् पहले से बनाये हुए के पूरक रूप में होता है। विशेषकर यह उन नये आदेशों या विधानों के लिए प्रयुक्त होता है जिन्हें सम्राट जस्टीनियन ने बनाया था। जिस अर्थ में रोमन ला में 'नावेल' का प्रयोग होता था, उस अर्थ में इसका अंग्रेजी में प्रयोग सन् १६१२ ई० में प्रारंभ हुआ।

नावेल शब्द का शाब्दिक अर्थ

अंग्रेजी भाषा में विशेषण के रूप में 'नावेल' शब्द पुरानी फ्रेञ्च भाषा से लिया गया है। इसका रूप आधुनिक फ्रेञ्च में (Nouvel, nouveau) जो लैटिन के (Novellum) से बना है और (Novum) पर आश्रित है जिसका अर्थ है नया। १६०० ई० के प्रथम इसका प्रयोग बहुत कम पाया जाता है।[3] 'नावेल' शब्द का नया के अर्थ में विशेषण रूप से इस प्रकार प्रयोग होता है—

'नावेल' = नया (New), युवा (young), ताजा (fresh) = आज-कल का (recent), अथवा आज-कल में उत्पत्ति वाला[4] (of recent origin) १७२७ ई० नया (New), नए स्वभाव या नई प्रकृति के प्रकार वाला (of a new kind of nature), विचित्र (strange), जैसा आज तक कभी जानने में न आया हो (hitherto unknown) इस अर्थ में इसका प्रयोग १४७५ ई० से चला आरहा है।[5]

---

1 "This is no mere amatorious novel." *Milton.*

2 "England has hardly received the honour she deserves as the birth place of the modern novel". 1871.

3 Late middle English adaptation of old French novel—modern French Nouvel, Nouveau—Latin—N

4 "Novel disseisin of a fresh or recent date.

5 "a style of decoration more novel than elegant (1870) novel constitution.—*Shorter Oxford English Dictionary*, p. 1341.

नावेलेस (Novelese) शब्द १६०० ई० से निम्नकोटि के उपन्यासों में प्रयुक्त होने वाली भाषा की शैली (the style of language characteristic of inferior novels) के लिये प्रयुक्त हुआ।

'नावेल' शब्द से निकले हुए कतिपय शब्द इस प्रकार[1] हैं—

१—नावलेट (Novelette) १७८० ई० से लघु-उपन्यास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। यह संगीत में पियानो की स्वतन्त्र शैली की स्वर-लिपि के लिये भी प्रयुक्त हुआ। इस लिपि में बहुत से या विविध प्रकार के विषय नहीं होते थे।

२—'नावेलिज्म' (Novelism)—१६२६ ई० (अ) नई बात (यह अर्थ सन् १७०३ ई० में गृहीत हुआ)। (या) सन् १८२८ ई० में यही शब्द उपन्यास लिखने के अर्थ में गृहीत हुआ।

३—'नावेलिस्ट' (Novelist)—१५८३ ई० (अ) सन् १७२७ ई० तक इसका अर्थ नई बात निकालने वाला अथवा नई बात का समर्थन करने वाला हो गया। (अ) १८ वीं शताब्दी में प्रचलित इसका एक और भी अर्थ था—खबरें इधर से उधर फैलाने वाला, खबर ले जाने वाला। इस अर्थ में यह शब्द सन् १७६४ ई० में गृहीत हुआ। (इ) सन् १७२८ ई० में यह शब्द 'उपन्यासों को लिखने वाले' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

४—'नावेलाइज़' (Novelize)—१६२५ ई०। सन् १६६० ई० में इसका अर्थ 'नया बनाना' अर्थात् नयापन के प्रयोग का आरंभ हुआ। सन् १८२८ ई० से उपन्यास के स्वरूप या शैली में परिवर्तित करने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रारंभ हुआ। सन् १८३३ ई० में इतिहास को उपन्यास का सा स्वरूप देने के प्रयत्न के लिये भी इसी शब्द का प्रयोग हुआ।

यद्यपि अभी तक हमें कोई ऐसी बात नहीं मिली, जो 'नावेल' की परिभाषा को एक निश्चित 'घेरे' में बाँध दे, पर इस स्थान पर यह सुविधाजनक होगा कि हम उन सब परिभाषाओं पर विचार कर लें, जो समय-समय पर अंग्रेजी नावेल का स्वरूप स्थिर करने के लिए गढ़ी गई थीं। उन्हीं में से हिन्दी में अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेने के लिए एक-दो को चुन लेना होगा। ऐसा करते हुए हम देखेंगे कि कुछ परिभाषाएँ हमारे लिये बिल्कुल व्यर्थ हैं, क्योंकि

---

1 *'Shorter Oxford English Dictionary'*, p. 1342.

'नावेल' का आधुनिक प्रकार प्राचीन प्रकार के तत्सम्बन्धी स्वरूपों से बहुत अधिक बदल गया है। इस क्रिया द्वारा हमें यह भी पता चल जायगा कि अमुक प्रकार क्यों व्यर्थ सिद्ध हो गया। जब कि दूसरा प्रकार समयोचित माँग को पूरा करता हुआ अब भी शेष है। जितनी भी परिभाषायें नावेल अथवा गद्यात्मक कथा-काव्य को लक्ष्य करके बनाई गई हैं, उन सबमें विचारान्तर्गत क्षेत्र की दृष्टि से विचित्र प्रकार की अनुकूलता का भाव है। बेकन के अनुसार 'नावेल' अथवा 'झूठा इतिहास' काव्य के प्रकार का नामकरण था, जो गद्य में लिखा जा सकता था और पद्य में भी।[1] यदि उसके रचना-संदर्भ में इस परिभाषा को देखें तो कविता से इसका बहुत कम लगाव मिलेगा, वरन् इस परिभाषा का लगाव काव्य के उस अंश से अधिक है जिसे किसी भी रूप में कविता नहीं कह सकते। इस प्रकार समझने का प्रयत्न करने से यह पता चलता है कि यह वाक्यांश निरर्थक नहीं है। इसमें उपयुक्त संकेत है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। 'फील्डिंग' की सहज भाव से की हुई परिभाषा 'नावेल' को गद्य के महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत करती है[2]। यह परिभाषा एकांगी प्रतीत होती है। क्लारारीव की परिभाषा 'वास्तविक जीवन और उसके ढंग के तथा जिस समय में वह लिखा गया है, उसके चित्र के रूप में नावेल को दूसरी दिशा में संकुचित बनाती है[3]। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक प्रयास के परिणाम-स्वरूप अन्य परिभाषायें भी हैं। यथा :—'नावेल' को नाटक की व्याप्ति को सीमित करने वाली गद्य की विधा आदि। पर अब जब हम साहित्य के आलोचनात्मक ज्ञान में बहुत आगे बढ़ गये हैं—ये परिभाषाएँ बचकानी-सी लगती हैं। प्रोफेसर वारेन का वक्तव्य—'कि नावेल कल्पना-जन्य वर्णनात्मक आख्यान है, जिसमें एक कथावस्तु भी होती है[४]—साहित्यक्षेत्र में किसी मत

1 Bacon's "feigned history" was meant to designate "poesy" which, as he put it 'may be styled as well in prose as in verse.

2 Fielding's offhand definition "a comic epic in prose is of course too narrow in one direction.
—E. A. Baker.' '*The History of the English Novel*'. p. 13.

3 Clara Reeve "Picture of real life and manners and of the times in which it is written.

4 Professor Warren's statement, "A novel is a ficticious narrative which contains a plot." is dogmatic...

विशेष के दूराग्रह को पकड़कर चलने के समान है और ऐसा जान पड़ता है कि जान-बूझ कर इस साधारण मान्यता को भी दृष्टि से परे कर दिया गया है कि 'नावेल' को मानव-जीवन का चित्र होना पड़ता है। स्टीवेन्सन का 'ए हम्बुल रिमान्सटेन्स' (A humble remonstrance) नामक लेख इस विषय में बड़े सुन्दर विचार प्रस्तुत करता है। उसमें सर वाल्टर विसेन्ट के वाक्यांश को सुधार कर प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार उपन्यास गद्य में कल्पनामूलक अथवा वर्णनात्मक आख्यान की कला[1] है। कथात्मक गद्य साहित्य के वर्णन के रूप में नावेल की रचना के विशेष वर्णन के रूप में यह वाक्यांश अपर्याप्त है। कदाचित् उसने विचारगत विषय पर कुछ कहना अनावश्यक समझा यह मानकर चलते हुए कि यह तो पूरी तौर पर समझा ही जाता होगा कि वर्णनात्मक आख्यान मानव जीवन से सम्बन्ध रखता ही होगा। ऐसा होने पर भी इस बात का उल्लेख न करना कि नावेलिस्ट को जीवन चित्रित करना पड़ता है और जीवन की गाथा भी कहनी पड़ती है—एक बड़े महत्वपूर्ण अंग को छोड़ देना होता है। जैसी कि स्टीवेन्सन से आशा की जा सकती है, वह जन्मजात कथाकार होने के कारण कहानी को कल्पनात्मक आख्यान 'फिक्शन' के अन्य सब अंगों के ऊपर ही स्थान नहीं देता, वरन् 'ऐरेन के राड' की भाँति उसे अन्य अंगों को अपने में दबा देने देता है।[2] फिक्शन सबसे पहले कहानी होता है; पर महान् फिक्शन में कहानी जीवन की उद्धरणी के पश्चात् स्थान पाती है। विचारशील कलाकार स्टीवेन्सन विशुद्ध वर्णनात्मक आख्यान को कोरे वर्णन, मानसिक विश्लेषण एवं परस्पर संभाषण से बढ़कर कलात्मक ढंग समझता है। वह इन आवश्यक अंगों' का महत्व नहीं घटाता है। वह उन्हें इस विशुद्ध वर्णनात्मक-आख्यानेतर समस्त स्थानों में महत्वपूर्ण स्थान देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसे निस्संकोचभाव से यह स्वीकार करना चाहिये था कि एक सफल वर्णनात्मक आख्यान (फिक्शन) का नितान्त वर्णन का स्थान उसके अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ है। क्योंकि नाटक का वास्तविक महत्व घटनाओं और कृत्यों की सुनियोजना में ही निहित है। पर स्टीवेन्सन उसी

---

1 "The art of fictitious narrative in prose". (Sir Walter Vicent's phrase unproved).

2 Aron's rod–a rod with a serpent twined about it, used as an ornament.

Holy Bible (Exodus vii—9)

परिभाषा से संतुष्ट हो जाता है जो एक प्रकार से 'कला के लिये', वाले सिद्धान्त से मेल खाती है। वह यह नहीं स्वीकार करता कि अन्य कलाओं की भाँति फिक्शन की भी अभिव्यक्ति का लक्ष्य होना आवश्यक है, और वर्णनात्मक आख्यान अभिव्यक्ति का स्वरूप विशेष मात्र है।

किन्तु स्टीवेन्सन के निबन्ध का आलोचनात्मक अध्ययन हमें नावेल की अधिकार पूर्ण परिभाषा का संधान-सूत्र प्रदान करता है। इस निबन्ध का प्रमुख विषय है—नाविलिस्ट के द्वारा व्यवहृत किये जाने वाले क्रियात्मक ढंग—नावेल क्यों लिखा जाता है ? किस लिये उसकी रचना होती है ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध की ध्रुव-धारणाएँ उसके मस्तिष्क की पृष्ठभूमि में रहती हैं। यह परिभाषा नावेल-लेखन के उन सभी प्रकारों के उदार अध्ययन से मेल खाती है जो कहानी कहने की प्राचीन कला से समय के अन्तर पर प्रस्फुटित होते रहे हैं। 'फिक्शन' गद्य में होने के कारण गद्य में रूपांतरित होता है—अर्थात् नावेल में जीवन का गम्भीर, मेधावी तथा कुछ अंशों तक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक रूपान्तरण अपने प्रकृत रूप में ही होता है। उसे वस्तुओं अथवा घटनाओं का पुनरुत्पादनमात्र नहीं होना चाहिये, प्रत्युत उसे व्याख्यात्मक भाष्य के रूप में होना चाहिये[1]। स्टीवेन्शन कहता है कि 'नावेल जीवन की प्रतिलिपिमात्र नहीं है, जिसे उसके विवरणों की यथावत् पुनरावृत्ति से जाँचा जा सके, वरन् वह जीवन के किसी पक्ष अथवा जीवन के वैशिष्ट्य का साधारणीकरण होता है जो इसी महत्वपूर्ण साधारणत्व के सहारे टिकता है अथवा गिरता है।'[2] एक श्रेष्ठ नावेल (उपन्यास) के प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पृष्ठ एवं प्रत्येक परिच्छेद से जीवन विधायक एवं जीवन नियामक विचारों की ध्वनि प्रतिध्वनित होती रहती है। समस्त कल्पनामूलक वर्णनात्मक आख्यान का एकमात्र उद्देश्य होता है। जीवन के मर्म

---

1 "It should be no mere re-production of things or events, so far as words can reproduce them, but an interpretation."
—E. A. BAKER : *The History of the English Novel*, Volume 1. p. 15.

2 The Novel, says Stevenson is not a transcript of life, to be judged by its exactitude; but a simplifiction of same side or point of life, to stand or fell by its significant simplicity."
- STEVENSON : *Memoirs and Portraits*, p. 297.

का ऐसा उद्घाटन जो जन-सर्व-साधारण के लिये अत्यन्त सुलभ हो सके। हेन्स एन्डरसन अथवा लुईकैरोल पक्षियों तथा पशुओं अथवा परियों एवं सजीव किये हुए मे खिलौनों के कृत्यों के वर्णन में किपलिंग के हाथियों और स्टीम इंजिन के साहसिक अभियानों के उल्लेख आदि में प्रकारान्तर से मानवीय जीवन की विभिन्नरूपों में व्याख्या उपस्थित की गई है। अतः यह निर्भ्रान्त सत्य है कि फिक्शन-विशेषरूप से 'नावेल' जीवन-गाथा के ही विविध रूपों का अंकन करता है।

'नावेल' पर कुछ भी लिखने के पूर्व उसकी परिभाषा निर्धारित करना आवश्यक समझ कर ई० एम० फार्स्टर एक फ्रेञ्च लेखक एम० एवेल शेवेली का उल्लेख करते हुए उन्हीं के शब्दों में नावेल की परिभाषा लिखते हैं। उनके अनुसार यदि एक फ्रेञ्च आलोचक अंग्रेजी नावेल की परिभाषा नहीं लिख सकता तो यह काम भला दूसरा कौन कर सकता है? फ्रेञ्च लेखक कहता है कि— "युनफिक्सियां ओं प्रोज ड्यु्न सरतां एतान्द्यु"[1] (ए फिक्शन इन प्रोज आव ए सरटेन एक्स्टेन्ट) अर्थात् कुछ विस्तार वाला गद्य में कल्पनात्मक आख्यान फिक्शन है। वह इस विस्तार की सीमा भी निर्धारित करता है। उसके विचार से पचास हजार शब्दों से अधिक विस्तार वाला कोई भी कल्पनात्मक एवं गद्यात्मक आख्यान नावेल के रूप में लिया जा सकता है। साथ ही उसका यह भी दावा है कि यदि कोई इस परिभाषा को अशास्त्रीय कहे तो फिर वह आपत्तिकर्ता से इसके स्थान पर ढूँढ़कर ऐसी परिभाषा लाने का आग्रह करेगा जो अपने में पिलग्रिम प्रोग्रेस, मैरियस दि इपीक्युरियन, दि एडवेन्चर आफ ए यंगरसन, दि मैजिक फ्ल्यूट, दि जरनल आफ दि प्लेग, जुलेखा डाव्सन, रैसलस, यूलिसेस और ग्रीन मैन्सन्स को समेट ले अथवा (यदि इन्हें नावेल न मानें तो) इनको नावेल की कोटि से निकालने का कारण उपस्थित करें वस्तुतः ये ग्रन्थ[2]

---

1 "One fiction on prose d'une certsin e'tendue" ('a fiction in prose of a certain extent')

—M. Abel Chevalley : *Le Roman Anglais de Notre-Temp.*

2 The Pilgrim's Progress' (1678)—John Bunyan
'Maruis the Epicurins' (1885)—Walter Moratio Pater
'The Adventure of a Younger Son' (1831)—E. J. Trelawny
'The Magic Flute' (1920)—C. Lowes Dickinson.
'The Journal of the Plague year (1722)—Daniel Defoe

उपन्यास रचना की आधारशिला के रूप में है। यह सम्भव है कि इस विशाल क्षेत्र में कोई भू-भाग अधिक दलदली हो अथवा कहीं बीच में घास का मैदान भी दिखाई पड़े जिसमें एमा[1] को लिये हुए मिस जेन आस्टिन और ऐज़मन्ड[2] का हाथ पकड़े हुए थैकरे देख पड़ें। लेकिन फार्स्टर के अनुसार इससे व्यापक कोई भी उक्ति नहीं जो समस्त क्षेत्र को अपनी परिभाषा की परिधि में ला सके। इसकी सीमा निर्धारित करने के लिये लेखक केवल इतना कहता है कि यह क्षेत्र दो पर्वतमालाओं से घिरा है जो कि एकदम से उठती हुई भी नहीं मालूम पड़तीं। ये दोनों कविता और इतिहास की परस्पर विरोधिनी पर्वत-श्रेणियाँ हैं। तीसरी ओर यह क्षेत्र वह समुद्र से घिरा हुआ बतलाता है जिसका अनुमान पाठक को मोबीडिक[3] के समान रचनाओं के पढ़ने से लगाया जा सकता[4] है।

लेखक अपनी दी हुई परिभाषा के सम्बन्ध में कितनी ही व्यापकता का दावा क्यों न करता हो, पर उसके साथ ही यह भी सत्य है कि ई० एम० फार्स्टर की दी हुई परिभाषा किसी देश के नक्शे की 'आउट लाइन्स' के समान है जिसमें हम आवश्यकतानुसार कोई भी रंग भर सकते हैं और उसे किसी भी प्रकार के उत्पादक क्षेत्र या भूगोल के प्राकृतिक-भागों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

"एन इन्ट्रोडक्शन टु दि इंगलिश नावेल" के लेखक आर्नल्ड कैटिल ने भी पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में गड़बड़ न हो इस विचार से उपन्यास की परिभाषा देना अभीष्ट समझा है। जिस अर्थ में वे उपन्यास शब्द का प्रयोग करते हैं वह है 'गद्य में लिखी हुई यथार्थ जगत की कल्पित गाथा जो एक विस्तार में

'Zuleika Dobson (1911)—Max Beer bohm
'Resselas' (1759)—Samuel Johnson
'Ulysses' (1922)—James Joyce
'Green Mansions' (1904)—William Benry Hudson.

1. 'Emma (1816)—Jane Austen
2. 'Ramond (1852)—William—Nskepeace Thackersy.
3. 'Moby Dick' (1851)—Hermon Melville
4. —E. M. Forster 'Aspects of the Novel'

सीमित और अपने में पूर्ण होती है।'[1] एक ऐसा शब्द जो इतने अधिक समय से स्वतन्त्रतापूर्वक विविध अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है, उसकी परिभाषा करने में वैयक्तिक स्वेच्छा का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है। 'नावेल' (उपन्यास) की लम्बाई (विस्तार) का प्रश्न तो 'कैटिल' भी यों ही छोड़ देता है (उसके अनुसार इसके विषय की भी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती, पर इतना तो वह निश्चित रूप से कहता है कि उपन्यास एक जीवन की निजी घटना (ऐनेकडोट) से बढ़ कर है और सबसे अलग किसी एक घटना (एपीसोड) की खोज की गाथा से भी कहीं बढ़ कर है। उदाहरणार्थ पीकाक[2] के 'नाइटमेयर एबे' को छोटा होते हुए भी वह एक उपन्यास के रूप में लेता है और कानराड[3] के 'हार्ट आफ डार्कनेस' बड़ा होते हुए भी लम्बी-छोटी कहानी के रूप में लेता है। पर ऐसे ग्रन्थों की समस्या को जो दोनों की सीमाओं पर हैं अर्थात् जिन्हें छोटा उपन्यास भी कह सकते हैं और लम्बी-छोटी कहानी भी। उसकी समस्या को लेखक कोई बड़ी समस्या नहीं मानता।

इसके साथ ही जो दूसरी महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि उपन्यास को वह प्राणवती साहित्यिक विधा मानता है, अपने में सम्पूर्ण और सजीव पदार्थ अथवा केन्द्रिय प्राणी की भाँति उसके प्रत्येक अंग में दूसरे अंग का भी कुछ न कुछ अंश अवश्य[4] है। कैटिल की नावेल शब्द की परिभाषा सफल नावेल में पाई जाने वाली जीवन की स्पन्दनशीलता एवं सुव्यवस्थित गठन के साथ साथ उसकी यथार्थता पर बड़ा बल देती है।

---

1 "The novel—as I use the term in this book—is a realistic prose fiction complete in itself and of a certain length."

—ARNOLD KETTLE. *An Introduction to the English Novel'* p. 28.

2 THOMAS LOVE PEACOCK: '*Nightmare Abbey*' (1818).

3 Joseph Conrad : '*Heart of Darkness* (1902).

4 "A novel is a living thing, all one and continuous like any other organism, and in proportion as it lives will it be found, I think, that in each of the parts there is some thing of the other parts."

—ARNOLD KETTLE : *Introduction to the English Novel'*, p. 12.

"दि नावेल ऐण्ड दि पीपुल" का विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न लेखक "रैल्फ फाक्स" 'नावेल' को अपने आधुनिक बुर्जुआ सामाज का महाकाव्यात्मक कला का स्वरूप मानता है इस समाज के युवाकाल में यह अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच गया और हमारे अपने ही समय में बुर्जुआ समाज के ह्रास ने भी इसे कुछ कम प्रभावित नहीं किया है।... नावेल बुर्जुआ साहित्य की सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि रूप साहित्यिक सृष्टि ही नहीं है वरन् यह उसकी महान्‌तम सृष्टि है। यह कला एक नया स्वरूप[1] है।

रेल्फ फाक्स उसे केवल कल्पना पूर्ण आख्यान से युक्त गद्य ही नहीं मानता। वह तो उसे मानव के जीवन का गद्य मानता है। उसे (नावेल को) वह उस प्रथम कला के रूप में देखता है जिसने सम्पूर्ण मानव को स्वीकार कर उसे अभिव्यक्ति प्रदान की है। अन्य कलाएँ वास्तविकता के जिन पक्षों को व्यक्त करती हैं वे भले ही उपन्यास की पहुँच के बाहर हों, पर कोई भी कला पुरुष, स्त्री अथवा बच्चे के व्यक्तिगत जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति पूरी सफलता के साथ अथवा पूर्ण सन्तोष के साथ नहीं कर सकती।[2]

'रैल्फ फाक्स' का विचारक्रम विशुद्ध व्यवहारवादी विचारक्रम है। उस पर मानव की महत्ता को गौरीशंकर तक ले जाने वाली समाजवादी विचारधारा ने बहुत अधिक प्रभाव डाला है।

इमर्सन के समान कुछ दार्शनिक और विचारक नावेल को गम्भीरता से न लेकर उसे 'बनावटी इतिहास'[3] बताते हैं। वे इतिहास को भी पूर्णरूप से

---

1 "The novel is the epic art form of our modern bourgeois society ; it reached its full stature in the youth of that society, and it appears to be affected with bourgeois society's decay in our own time......not only is the novel the most typical creation of bourgeois literature, it is also its greatest creation. It is new art form.'
—RALF FOX. '*The Novel & The People*', p. 80.

2 "The novel is not merey fictional prose, it is the prose, it is the prose of man, life, the first art to attempt to take the whole men and give him expression".
—RALPH FOX : *The Novel and the People*, p.62.

3 "Novel is fictitious history "
—AUSTIN WARREN AND RENE WELLEK '*Theory of Literature* p. 225.

वास्तविकता की परिधि में नहीं समझते थे। पर वास्तव में परंपरा का पालन करते हुए नावेल समय के आयाम को गम्भीरता से ग्रहण करता है। अति प्राचीन काल से ही प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध जो कल्पित (मिथ्या) होने का आरोप लगा दिया था वही भावना अब तक दार्शनिक और नैतिक परम्परा में चली आती है। इस आरोप का उत्तर सर फिलिप सिडनी और डाक्टर जान्सन ने बहुत पहले ही दे दिया था कि साहित्य कभी भी उस (अर्थात् दार्शनिक) अर्थ में वास्तविक होने का दम नहीं भरता। इसी कारण जब कोई आज भी नावेल के प्रति झूठे होने का आरोप लगाता है तो गम्भीर प्रकृति वाला नावेलिस्ट इसको बहुत बुरा मानता है, क्योंकि उसकी निश्चित धारणा होती है कि कल्पनात्मक आख्यान सत्य से कम विचित्र उससे कहीं अधिक वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है।[1]

नावेल की इन्हीं परिभाषाओं की प्रतिक्रिया गतानुगतिक क्रम से साहित्य के क्षेत्र में होती रहती रही है। नावेल की एक परिभाषा 'वर्ल्ड आफ फिक्शन' के लेखक बर्नार्ड ड वोटो ने उन लोगों के दृष्टिकोण से भी दी है जो नावेल को साहित्यिक ग्रन्थ के रूप में नहीं पढ़ते, वरन् वह उसे एक 'इन डिफरेन्ट' वृत्ति वाले पाठक की आँखों से पढ़ते हैं और पुस्तक पढ़ कर मौज लेना जिनके अवकाश के अवसर के उपयोग का एकमात्र उद्देश्य होता है। ऐसे पाठक उपन्यासों में शाश्वत तत्वों की अपेक्षा नहीं करते। उनके अनुसार नावेल काल्पनिक घटनाओं की कहानी है जो काल्पनिक स्रोतों के जीवन में घटित होती है और उस कहानी के साथ पाठक का भी योग रहता है जो कहानी में वर्णित पात्रों से परिचित होता हुआ विचित्रता का अनुभव करता है। सभी नावेल साहसपूर्ण अभियान के कथानक से युक्त होते हैं, वे विचित्र घटनाओं का विचित्र देश में घटित होने का संयोग उपस्थित करते हैं—ऐसी घटनाएँ जिनसे हमारी नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है और सांस लेने का क्रम आगे क्या होगा इसको सोच कर रुक सा जाता है। जासूसी कथानक होते हैं, वे किसी रहस्योद्घाटन की ओर प्रवृत्त होते रहते हैं। वे सब परियों की कहानी के रूप में भी होते हैं और उनमें दृष्टांत की नैतिक और धार्मिक कथाओं का अंश भी होता है[2]।

---

1 "The earnest writer of novels, who knowes well that fiction is less strange and more representative that truth.—*ibid*. p. 220.

2 Bernard De Voto '*The World of Fiction*', p. 50.

साधारण पाठक की दृष्टि से इस परिभाषा में नावेल को घटनाओं की भानमती की पिटारी का रूप देने का प्रयत्न किया है और सच पूछिए तो केवल साक्षर पाठक उपन्यास से इससे अधिक और कुछ चाहता भी नहीं है।

'रीडिंग ए नावेल' नामक पुस्तिका में वाल्टेर एलेन ने नावेल की एक और मजेदार परिभाषा दी है। वे लिखते हैं कि मैं नावेल की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं करूंगा क्योंकि जिस कार्य में प्रत्येक आलोचक असफल रहा है वहाँ यह अनहोनी सी बात होगी कि मैं सफल होऊंगा। वे परिभाषा के रूप में केवल यह मान कर चलते हैं कि नावेल मुख्यतया लोगों के विषय में ही होते हैं।

किसी परिभाषा को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने का इससे अच्छा और सस्ता ढंग और क्या हो सकता है ?

हिन्दी में उपन्यास की परिभाषा, लक्षण और स्वरूप

परिभाषिक शब्द की उत्पत्ति

किसी पारिभाषिक शब्द की उत्पत्ति कभी तो अस्पष्ट वातावरण और संदिग्ध संदर्भ के साथ होती है और कभी अनजाने में व्यंग और शिष्ट हास्य के रूप में। पर यदि आलोचक किसी नए पारिभाषिक शब्द को सृष्टि करता है तो फिर वह पूर्वापर संबंध से साहित्यिक विधाओं की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखता हुआ किसी नई विधा को नई संज्ञा देता है उपन्यास के विषय में कुछ ऐसा ही हुआ है। उपन्यास का धात्वर्थ होता है—सम्यक् रूप से स्थापन करना। इसका प्रयोग अनेकार्थों में हुआ है[२]।

---

1 "I shall not attempt to define the novel, for where everyone else has failed it is improbable that I would succeed. I am going to assume that novels are mainly about people.
—WALTER ALLEN' *Hending a Novel'*, P, 15.

२ 'उपन्यास' शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता हैं—'रखना' (असुक्षेपणे)। इसमें 'उप' और 'नि' उपसर्ग है और घञ् प्रत्यय का प्रयोग है। 'उपन्यास' का मुख्यार्थ है—सम्यक् रूप से 'उपस्थापन' किन्तु बाद में अनेक लाक्षणिक अर्थ भी इस शब्द ने ग्रहण किए। 'उपन्यास' शब्द के निकट के शब्द और उनके अर्थ इस प्रकार हैं।

उपन्यास के लिए मराठी[1] में उस शब्द को लिया गया जिसमें उपन्यास की प्रवृत्ति मौलिक रूप प्रारंभ ही थी। बंगला में जहाँ इस शब्द का प्रयोग

उपन्यास—परस्मैपद (१) टु ले अपान, प्लेस और पुट डाउन, पुट नियर, प्लेस बिफोर, (२) टुइन्ट्रस्ट एनीवन विथ, कमिट टु दि केअर आव (३) टु एक्सप्लेन, डिस्क्राइब माइन्यूटली (४) टु प्रपोज़, सजेस्ट, हिन्ट, प्वाइन्ट आउट, स्टेट (५) टु प्रूव, इस्टाब्लिश, आर्ग्यु मेन्टेटिवली।

उदाहरण—(अ) मन्योपन्यस्तेषु मैत्रैषु—हितोपदेश निर्णयसागर संस्करण ३,

(ब) इत्युभयलोकाविरुद्धं [illegible] मालतीमाधव (बम्बई संस्करण) २, स्पोकेन,

(स) सदुपन्यस्यति कृत्यवर्म यः किरातार्जुनीय २, ३, टेल्स और प्वाइंट्सआउट,

(द) किमिदमुपन्यस्तं—शकुन्तला ५, ह्वाट इज़ दिस दैट इज प्रपोज्ड और सेड

(य) द्रष्टव्य—याज्ञवल्क्य माण्डलिक महाशय का संस्करण २, १६.

उपन्यस्त—पास्ट पार्टिसिपुल—(१) प्लेस्ड नियर, डिपाजिटेड, (२) सेड, प्रपोज्ड, (३) प्लेज्ड, इन्टाइटिल्ड–(४) गिवेन, कम्यूनिकेटेड–(५) ब्राट फारवर्ड एज़ एन इक्जैम्पुल, एडेस्ड, हिन्टेड।

उपन्यास (१) प्लेसिंग नियर टु, जक्स्टापोजीशन—२ ए डिपाजिट प्लेज़, (३) स्टेटमेंट, प्रपोजल, पावक: खलु एष वचनोपन्यासः शकुन्तला (बम्बई) ५, मालतीमाधव (बम्बई) १, ८—३ (आ) प्रिफेस, इन्ट्रोडक्शन, निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः अमरूशतक २३ चतुरोमधुरश्चा-यमुपन्यासः, अमरकोष (बम्बई), सो शमं वेणीसंहार, ५, ओवर्चर्स आव पीस—३ (इ) एल्यूजन, रेफरेन्स, हिंटिन्ग एट, आत्मनः उपन्यास पूर्वम्, शकुन्तला (बम्बई) ३, मालविकाग्नि मित्र ४, साहित्यदर्पण ३६३—४ ए प्रिसेप्ट, ला—५, ए काइन्ड आव पीस, हितोपदेश निर्णयसागर संस्करण ४. ११४–६ प्रापोशिएटिंग, प्रसादनम्।

१ मराठी में 'उपन्यास' के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है। उपन्यासः प्रसादनम्।

हुआ, उपन्यास शब्द अँग्रेजी के 'नावेल' शब्द का रूढ़ि पर्याप्त बना। 'नावेल' प्रारम्भ में नवीनता के रूप को लेता हुआ आया प्रचलित परम्परा से भिन्नता प्रदर्शित करता हुआ। फिर यह शब्द अपने चारों ओर एक वातावरण समेटता गया और अब तो नावेल शब्द एक पारिभाषिक शब्द बन गया है जिसके आस-पास अल्प समय में बहुत सी परम्पराएं एकत्रित हो गई हैं। हिन्दी में भी उन्हीं को आत्मसात् करते हुए बंगाल के माध्यम से उपन्यास का अवतरण हुआ और फिर अब अपने ही प्रयोगों से उपन्यास के शब्दार्थ को विस्तार प्राप्त होता जा रहा है।

उपन्यास शब्द का प्रयोग

उपन्यास नामक साहित्यांग आधुनिक युग की देन है और यद्यपि यह शब्द संस्कृत भाषा का है, तथापि प्राचीन संस्कृत साहित्य में उस अर्थ में वह कभी प्रयुक्त नहीं हुआ जिस अर्थ में हम आज इसका प्रयोग करने लगे हैं।

सर मोनियर-विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष में 'उपन्यास' के कुछ अर्थ इस प्रकार दिए हैं—उल्लेख (Mention), अभि-कथन (Statement), सम्मति (Suggestion), उद्धरण (quotation), संदर्भ (reference)

डा० मैकडोनल ने अपने शब्दकोष में उपन्यास के अर्थ किये हैं—विज्ञप्ति (intimation), अभिकथन (statement), उद्घोषणा (declaration) वादविवाद (discussion)

इसके अतिरिक्त संस्कृत के नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में 'उपन्यास' रूपक की प्रतिमुख सन्धि के उपभेद की संज्ञा है। इस संदर्भ में उसका अर्थ प्रसादन का लिया गया है। इसकी दूसरी व्याख्या भी है जिसके अनुसार 'अर्थ' को युक्ति-युक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है।[१]

भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं में भी यह शब्द अन्य अर्थों में प्रयुक्त होता है। दक्षिण की भाषाओं (तेलगू आदि) में यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में हिन्दी के व्याख्यान 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित हैं। 'उपन्यास' का दाक्षिणात्य प्रयोग उतर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा प्राचीन साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक (२३), निर्यातः शनकैदलीकवचनोपन्यास माल्वीजनः में व्यवहृत 'उपन्यास' बहुत कुछ इसी अर्थ का वाचक है।

१—'उपपन्ति कृतोह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः।'

उपर्युक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि यद्यपि 'उपन्यास' शब्द संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से प्रयुक्त होता था, किन्तु फिर भी आज के व्यवहृत उपन्यास शब्द के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं होता था। गद्यबद्ध पर्याप्त लम्बी कथा[1] के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग सर्वथा नूतन उद्भावना है जो हमें आधुनिक युग में उपलब्ध हुई है। समयक्रम से आज उपन्यास का प्रधान तथा अधिकतम प्रचलित अर्थ यही है और इस शब्द के प्राचीन अर्थ केवल संस्कृत काव्य-विचार तक ही सीमित है।

दक्षिण की भाषाओं में (तेलगू, गुजराती आदि) अंग्रेजी 'नाविल' शब्द के लिए उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द रूढ़ि अर्थ में परिवर्तित कर दिया गया है। यह शब्द है 'नवल'। गुजराती में इसके साथ कथा शब्द को जोड़कर नवल-कथा कहा जाता है। यह वस्तुतः उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है। उपन्यास वस्तुतः 'नवल' अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है, परन्तु फिर भी जिस मेधावी ने 'कथा आख्यायिका' आदि शब्दों को छोड़ कर अंग्रेजी 'नाविल' का प्रतिशब्द 'उपन्यास' माना था। उसकी सूझ की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। जहाँ उसने इस नये शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया कि यह साहित्यांग पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है, वहीं इसके शब्दार्थ के द्वारा (उप = निक, न्यास = रखना) यह भी सूचित किया कि इस विशेष साहित्यांग के द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि उपन्यास शब्द कथा अथवा आख्यायिक की प्राचीनतम-परंपरा के अनुकूल नहीं है, फिर भी उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के नितांत विरुद्ध भी नहीं है।

उपन्यास शब्द एवं उसकी परम्परा के बंगला के माध्यम से आने के कारण हमें उपन्यास शब्द के प्रारम्भिक प्रयोग एवं तद्गत नवीन अर्थ के आविष्कार

१—'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' में उपन्यास को परिभाषा की सीमा में बाँधने का प्रयास इस प्रकार किया गया है—'उपन्यास एक काल्पनिक गद्य-कथा अथवा इतिवृत है जो पर्याप्त दीर्घ होता है और जिसके कथानक में उन चरित्रों और कार्य-व्यापारों का चित्रण होता है जो वास्तविक जीवन के चरित्रों और कार्य-व्यापारों को निरूपित करने का प्रयास करते हैं।

का क्रम बंगला में ढूँढ़ना पड़ेगा। 'उपन्यास' शब्द का कथा के अर्थ में सबसे पहला प्रयोग बंगला में मिलता है। सन् १८५६-५७ में भूदेव मुखोपाध्यायकृत एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'ऐतिहासिक उपन्यास'। बंगला साहित्य के इतिहासकारों ने इसे ही बंगला का प्रथम उपन्यास माना है। सन् १८६१ ई० में रामसदय भट्टाचार्यकृत एक दूसरी कृति प्रकाशित हुई, जिसका नाम था अद्भुत 'उपन्यास' यद्यपि यह बंगला का दूसरा उपन्यास नहीं था, क्योंकि 'अलालेरघरेरदुलाल' नाम की इस प्रकार की एक और रचना प्रकाशित हो चुकी थी फिर भी इससे यह तो पता चलता ही है कि सन् १८६१ ई० तक उपन्यास शब्द इतना चल चुका था कि अन्य लेखकों द्वारा भी इसका नवीन अर्थ में प्रयोग होने लगा था। 'उपन्यास' शब्द से पूर्व कथा, कहानी, आख्यान, उपकथा, उपाख्यान आदि शब्द बंगला में प्रचलित थे। यह भी निश्चित है कि उस समय तक बंगला के लेखक अंग्रेजी से प्राप्त साहित्य की एक सर्वथा नवीन विधा 'नावेल' से पर्याप्त रूप में परिचित हो चुके थे। सन् १८७६ ई० में प्रकाशित एक पुस्तक में भूदेव मुखोपाध्याय ने एक स्थल पर लिखा है कि 'मैंने लगभग २० वर्ष पूर्व अंग्रेजी के 'नावेल' के अनुकरण पर बंगला में एक पुस्तक लिखी थी।' स्पष्ट है कि संकेत 'ऐतिहासिक उपन्यास' नाम की रचना की ओर ही है। वस्तुतः इस पुस्तक में एक कथा नहीं, अपितु 'अंगरि विनिमय' और 'सफल स्वप्न' नामक दो कथाएँ संकलित हैं। यद्यपि 'उपन्यास' की आज की परिभाषा के अनुसार इन कथाओं में औपन्यासिक तत्व प्रायः शून्य के बराबर ही हैं, फिर भी चूंकि लेखक ने 'नावेल' के ढंग पर इसे लिखने का दावा किया है, इसमें सन्देह नहीं कि कृति के नाम में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग 'नावेल' के ही अर्थ में किया गया है। भूदेव मुखोपाध्याय से पूर्व भी इस शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग होता था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सन् १८५६-५७ की इस घटना से पूर्व 'नावेल' के अर्थ में 'उपन्यास' शब्द का उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। समुचित सामग्री के अभाव में यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'उपन्यास' को एक नवीन अर्थच्छाया प्रदान करने के बदले स्वयं 'आख्यान', 'आख्यायिका' आदि परम्परागत शब्दों के ही अर्थ का विस्तार क्यों नहीं किया गया।

जहाँ तक पत्र-पत्रिकाओं का प्रश्न है, 'बंग-दर्शन' नामक बंगला पत्रिका में 'उपन्यास' का सबसे पहला प्रयोग कदाचित् सन् १८६४ में हुआ।

बंकिम के युग (१८७२-९३ ई० तक) बंगला साहित्य का निर्माण-युग

कहा जाता है इस काल में 'उपन्यास' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग प्रायः सर्व-साधारण में होना प्रारम्भ हो गया था।

हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का सब से पहला प्रयोग संभवतः सन् १८७१ में एक कथा-पुस्तक के नामकरण में ही—'मनोहर उपन्यास' के रूप में हुआ। डा० माताप्रसाद गुप्त हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों की सूची में इसे शीर्ष स्थान प्रदान करते हैं[1]। आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, डा० वार्ष्णेय आदि प्रमुख इतिहासकारों की कृतियों में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता है। 'मनोहर उपन्यास' के लेखक के नाम से इसके दो संपादकों का उल्लेख मिलता है। डा० गुप्त के मत में 'मनोहर उपन्यास' किसी इतर भाषा की कृति का अनुवाद नहीं है। किन्तु क्या वास्तव में यह अनुवाद नहीं है ? इसका लेखक कौन है ? इसकी वस्तु क्या है ? इसमें उपन्यास के तत्व किस सीमा तक हैं ? आदि प्रश्नों के लिए विस्तृत अनुसंधान कार्य की अपेक्षा है। परन्तु इस प्रसंग में कदाचित् इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सर्वप्रथम सन् १८७१ में हिन्दी में उपन्यास शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

कुछ लोगों का मत है कि उपन्यास शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रचलन मराठी से आरम्भ हुआ, किन्तु यह मत अग्राह्य है क्योंकि स्वयं मराठी में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रचलन के पीछे यह मान्यता रही होगी कि संस्कृत का प्रसिद्ध गद्य काव्य 'कादम्बरी' पश्चिम के 'नावेल' से मिलती-जुलती चीज है।

जैसा पहले कह आये हैं कि गुजराती में उपन्यास के लिये 'नवल कथा' शब्द प्रचलित है। यह प्रचलन 'नावेल' के प्रभाव से ही हुआ प्रतीत होता है। इस प्रभाव का कारण ध्वनि-साम्य ही माना जायगा। 'नावेल' में 'नवल और कथा' दोनों का अर्थ सम्मिलित है, पर 'नवल' में ऐसा नहीं है, अतः 'नवल' के साथ कथा शब्द संयुक्त किया गया और शब्द बना 'नवल-कथा'।

यहाँ पर यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि उपन्यास का आधार भूत अंग्रेजी शब्द 'नावेल' लैटिन के विशेषण 'नवेला', इतालियन और स्पेनिश शब्द 'नावेला' एवं फ्रान्सीसी शब्द 'नावेल' से ग्रहण किया गया[2] है। जैसा कि

---

१ **डा० माताप्रसाद गुप्त "हिन्दी पुस्तक साहित्य", पृ० २७**

2 English: Novel, Latin, Novella, Italian & Spenish Novelle, French, Nouvelle.

पहले ही विस्तार से बताया जा चुका है, पुनरुत्थान-युग (रिनांसां) के आरम्भ काल से अपने विभिन्न रूपों में इस शब्द का प्रयोग एक काल्पनिक लघु कथा के अर्थ में पश्चिमी यूरोप की अधिकांश भाषाओं में होता था। इन लघु-कथाओं में साधारण जीवन की घटनाओं एवं रहस्यों का वर्णन मुख्यतः गद्य में किया जाता था। १६वीं शती में इंगलैंड में भी इसका प्रयोग इतालियन लघु कथाओं के अनुवादों के साथ साथ किया जाने लगा। किन्तु अगली शताब्दी में इन कथाओं का आकार विस्तृत हो गया, यद्यपि 'नावेल' शब्द का प्रयोग इन दीर्घ कथाओं के लिये भी होता रहा।

हिन्दी में उपन्यास की वृत्ति का विकास

उपन्यास की वृत्ति अपने निम्न रूप से हट कर ऊर्ध्वगामिनी-शक्ति का रूप पा रही है। पहले उपन्यास मनुष्य की वासना-पूर्ति के साधन रूप में लिखे गये। इसी वृत्ति से उद्भूत कथा तथा आख्यायिकायें, 'स्टोरीज' और किस्से पहले भी पाये जाते थे। उनकी शैली में न तो साहित्यिकता का तकाजा ही होता था और न साहित्यिकों के लिये उनमें कोई आकर्षण ही होता था। उपन्यास का अवतार इसी साहित्य द्वारा उपेक्षित पर जन-साधारण द्वारा पोषित और परिवर्द्धित-वृत्ति के विकास के रूप में हुआ। जो पहले अलौकिक तथा मनुष्य के अनुभव के परे की चीजों में, घटनाओं में उत्सुकता की शान्ति का साधन ढूँढ़ते थे वही अब अपने आस-पास के जीवन में अपने आनन्द का साधन ढूँढ़ने लगे। आस-पास के जीवन से दूर कल्पना के राजकुमार और ख्याली दुनियाँ के ज्जैक दि जायन्ट किलर अथवा 'सोहराब' और 'रुस्तम', किंग आर्थर और उनकी सभा के एक-एक से बढ़ कर वीर लोगों के क्रिया-कलापों में आँख मूँद कर विश्वास को जमा कर हम रस ले चुके थे। अब तो उपन्यास के नवीन रूप ने जीवन के पुराने साधारण स्वरूप को नया महत्व दिया। दिन-प्रतिदिन के जीवन में हम नल-दमयन्ती और कालिदास के यक्ष के ढंग पर 'मेघदूत' एवं हंसदूत के स्थान पर 'पत्रदूत' भेज कर अथवा यों ही आंख-मिचौनी खेल कर लोगों को बिरमाने लगे। पर समाज की समस्याओं ने भी कतिपय लेखकों का ध्यान खींचा और उन्होंने उपन्यास को जन-साधारण के जीवन का महाकाव्य बना दिया। विधवा-विवाह, छूत-विचार, वर्ग-संघर्ष, मानव के अन्तर का द्वन्द्व, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की समस्यायें सभी तो उपन्यासकार के स्पृहणीय विषय बन गये। उपन्यास ने मनोरंजन के साथ ही साथ जीवन की गम्भीरता का अपने में समावेश किया। उपन्यास रूसी स्पुतनिक के सफल प्रयास की भांति कल्पना लोक के चन्द्र साहित्य की सीमा में प्रवेश कर गया। उसन्यासकार भी साहित्यिक समझा जाने लगा।

किसी भी साहित्यिक विधा का विकास पाठक के विकास, लेखक की जागरूकता और वातावरण के परिवर्तन पर निर्भर रहता है। जैसा लेखक का अध्ययन होगा, जैसा उसके मस्तिष्क पर तत्कालीन आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा होगा, जिस प्रकार के पढ़ने वाले होंगे। उसी के अनुरूप उस साहित्यिक विधा के वर्ण्य-विषय और स्वरूप का निश्चय होगा। उदाहरणार्थ उपन्यास को ही लीजिये। प्रारम्भ में कुतूहल शान्तिमात्र उपन्यासकार का उद्देश्य था। पाठक केवल कुछ समय के लिये विचित्र दुनियाँ की सैर करना चाहता था। वैज्ञानिक विकास के प्रभाव में लोगों का विश्वास देव और राक्षस दोनों ही में था। राजा-रानियों के ही जीवन में विविधता सम्भव थी। बहुत आगे बढ़े तो मंत्री के पुत्र और किसी दरबारी की पुत्री का प्रेम सम्बन्ध कथा का विषय बन गया। जिसके हाथ में तलवार थी, उसके हाथ में अधिकार भी था। प्राचीनकाल में 'अष्टवर्षाभवेत् गौरी'[1] के सिद्धान्त के अनुसार छोटी वय में विवाह सम्बन्ध स्थापित हो जाने से और 'अन्धा बधिर क्रोधी'....[2]। पति के प्रति जन्म-जन्म का संबंध स्थापित हो जाने से विवाहित प्रेम में बाहर की हवा लगना दुष्कर था। हाँ, विधवा के जीवन में युवावस्था के भाव आते थे पर व्रत-उपवास और सादगी के जीवन में उन भावों को दबा दिया जाता था। कभी-कभी आश्रयदाता की कुवासना और किसी कुटिल या कुटिला के कुचक्र में फँस कर भोलेपन की पहली भूल जन्म भर के प्रायश्चित् और वेश्या जीवन का प्रारंभिक रूप ले लेती थी। उपन्यासों का वर्ण्यविषय था बस यही राजाओं के विकास का नंग-नाच और विधवाओं का दबा प्रेम, जिसे सास ननद की घुड़कियों से सिंच-सिंच कर बढ़ना-पड़ता था और अन्त में विधर्मी वेश्याओं की चौखट पर सर पटक-पटक कर मरना पड़ता था। सरदारों, जमींदारों तथा

---

१ अष्टवर्षा भवेत् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी।
दश वर्षा भवेत्कन्या, अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥
—पाराशर स्मृति अध्याय-७, श्लोक-६
इसी प्रकार का वर्णन 'संवर्त–स्मृति' के ६६ वें श्लोक और ब्रह्म-स्मृति के अ० ३ श्लोक २१ में आया है।

२ वृद्ध रोगवश जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना ॥
—तुलसीदास, रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड

महन्तों की दिनचर्या भी जो अहर्निशि विविध षड़यंत्रों में पूर्ण होती थी, उपन्यास की कथावस्तु बना करती थी। कभी किसी निराश्रिता बालिका के आश्रयदाता के रूप में रुपये के लोभ से उस पर अत्याचार होने की कहानी पाठकों की सहानुभूति जगाने में बड़ी सहायक होती थी। सरकारी नौकर या गुलामी, अंग्रेजों के जीवन को दूर से देखने की भावना, मुसलमानी विशेषकर नवाबी एवं शाही जिन्दगी के ताजे अनुभव, शराब के दौर की कहानी, मुसलमानी सभ्यता की पुरलुत्फ और बातहजीब जिंदगी----ये सब दूसरी ओर एक और प्रकार की उपन्यास सामग्री प्रस्तुत करती रहीं। जिन्दों, परियों और तिलिस्मों की कहानी, खोजों, दूतियों और हरम की चालबाजियों पर उतर आईं। जिन्दगी मिल रही थी। पंडित जी की संतान संस्कृत तथा पुरानी हिन्दी की प्राचीन परम्परा से पूर्ण रूप से परिचित हुए बिना ही अथवा पूर्ण रूप से अपरिचित अवस्था में अंग्रेजी के सर्किल में आ पहुँची। उधर मौलाना साहब की औलाद रटी कुरान की पूँजी के साथ पूरी अंग्रेजीयत के दायरे में उतर आई। अंग्रेजी लिबास और अंग्रेजी चाल-ढाल ने हिन्दू-मुसलमान दोनों की चोटी-दाढ़ी के भेद को मिटा कर कोट पैन्ट और टाई में एक कर दिया। आपसी व्यवहार में मेम और साहब की ऊपरी जिन्दगी की नकल होने लगी। विलायत की जिन्दगी की उड़ती हुई बातें सुन कर यहाँ के साहब 'मेड-इन-इन्डिया' और 'ऐंग्लोइंडियन' लोगों का जीवन, आई० सी० एस० जाति के लोगों का जीवन, एक अजीब ढर्रे में बहने लगा। पुरानों को उनके ढर्रे के विरुद्ध शिकायत होना स्वाभाविक था। उपन्यास का यही विषय बन गया (रवीन्द्र के) बंगाल में ब्रह्म-समाज ने इसका मोर्चा लिया—अंग्रेजियत पहले वहाँ आई—जिस प्रकार पहले नवाबियत का बोल बाला था, उसी प्रकार अंग्रेजियत वहाँ के जीवन पर छा गई और बस देशी और विलायती, गंगाजमुनी ढंग की जिन्दगी लोगों की जिन्दगी बन गई। इसका टक्कर प्रत्येक परिवार में पुराने ढंगों से हुआ। सम्मिलित परिवार प्रथा में घूँघट और चाय-पार्टी का मेल न मिलने से परिवार छिन्न-भिन्न होने लगा। चौका और पूजा स्थान की पवित्रता की जगह डाइनिंग रूम और ड्राइनिंग रूम की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। पारिवारिक जीवन का केन्द्र गोल कमरे के जीवन की समस्याओं पर आ गया, पर अभी भी दादी और सास के रूप में ऊपर का पुराना अनुशासन बाकी था। घर का संघर्ष बाहर के संघर्ष का अनुकरण कर रहा था। समाज में ऊँच-नीच का, धनी-निर्धन का भी संघर्ष था। मजदूरों और हरिजनों की समस्या, स्त्री-संबंध तथा पारिवारिक सम्बन्ध से कम महत्वपूर्ण न रही और तदनुरूप ही

उपन्यास को आसमानी कुकाचें न लगा कर इन्हीं शतरंजी वालों-वाली [illegible] और बौद्धिकता के खेल में योग देना पड़ा। संघर्ष व्यक्ति के बाहर ही न था। यौन समस्याओं और सम्बन्धों को लेकर, पुराने सम्बन्धों और मूल्यों कि वैधता को लेकर व्यक्ति के मन का अंतर-द्वन्द्व आज के जीवन की विशेष बीमारी बन कर सामने आया। अब तक लोग वर्ग-प्रकार एवं व्यक्ति के स्वरूप का अंकन करते थे। आगे से लोग व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का अभिनवपूर्ण दृश्य उपस्थित करने लगे। कभी-कभी तो जीवन खण्डों के भीतरी रूपों का दर्शन मनोविज्ञान की प्रयोगशाला के भीतर की स्थिति की भाँति कराया जाने लगा। उपन्यासकार दिखाने और बताने के स्थान पर मानो कहने लगा—देख लो स्वयं और गुन लो स्वयं। उपन्यास आधुनिक प्रगतिवाद के क्रम से नंगे माडलों के अनुरूप अमृत शेरगिल[1] की पेंटिंग के अनुरूप मनुष्य के भावों के अनावृत रूप में प्रकट हुआ।

उपन्यास की तीर्थ-यात्रा

उपन्यास की वृत्ति गंगोतरी-सी प्राचीनता के साहित्यिक स्तर की ऊँचाई पर दृष्टान्तात्मक कथा-वृत्ति के रूप में वेद मुख से एक धार के रूप में निकलकर फिर वृत्रासुर संग्राम, देवासुर संघर्ष, साधु एवं असाधु प्रसंगों से होते हुए कल्पना के कुञ्ज में विहार करते हुए यक्ष तथा गंधर्व लोक में अधिष्ठित स्थान को प्राप्त करती है पर यह उपन्यास डोम के राज की भाँति राजत्व से युक्त होते हुए भी सम्राट् के पद का प्रार्थी अथवा अन्य छोटे एवं नगण्य राजाओं की समता का भी नहीं माना जाता। फिर इसकी यह वृत्ति नीति के सहारे चलती हुई भी मनुष्य की प्रबल-प्रवृत्तियों की सीधी परिवारिका बन जाती है और कथा तथा आख्यायिकाओं के रूप में वह अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त होती है। 'दशकुमार चरित', 'कादंबरी और 'कथा सरित सागर' के रूप में उपन्यास की वृत्ति अपनी एक यात्रा पूरी करती है जिसमें बाण के-से साहित्यिक जनों की कल्पना अपने को साहित्यिक सौन्दर्य के प्रसाधनों से सवांरती है।

हिन्दी में तो उपन्यास की परम्परा का आधार यही कथा-वृत्ति 'कादम्बरी' के मद से माती तथा अरबी-फारसी की किस्सा गोई से सनाशाई हासिल करती

---

१ यह एक प्रसिद्ध महिला चित्रकार है जिसने मानवीय आकृतियों को घन और वर्ग के रूपों में व्यक्त किया है।

हुई अपने पड़ौसी बंगला साहित्य एवं अंग्रेजी साहित्य में प्रचलित वर्तमान-कालीन उपन्यास शैली से पूर्ण रूप से प्रभावित होती हुई एक साथ अनुशीलन, अनुकरण एवं सीधे अनुवाद के रूप में प्रकट होती है। फिर तो एक सजग कलाकार के मिल जाने से उपन्यास हिन्दी में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लेता है और परम्परा को लेकर कई सशक्त कलाकार उपन्यास को आधुनिकता के संगम स्थल तक ले आते हैं। अब कई धारायें मिलकर उपन्यास साहित्य में एक साथ विस्तार के साथ प्रवाहित हो रही हैं। तीर्थयात्रा मैदानों में समतल की गहराई से होकर हो रही है।

उपन्यास का उद्भव एवं उपन्यास का विकास बहुत धीरे-धीरे और प्रच्छन्न रूप में हुआ। जब अच्छी नाटकीय परम्परा का अभाव हुआ और कविता का ह्रास हुआ तब बौद्धिक व्यक्तियों के अवकाश के अनुरंजन के रूप में भी उसी कथा-साहित्य का सहारा लिया गया तो साक्षर व्यक्तियों के विरमाने का साधन थी। अपने यहाँ उपयुक्त सामग्री प्रचुर मात्रा में न होने से जहाँ यह सामग्री थी वहां से उसको हिन्दी में लाने का प्रयत्न किया गया। उर्दू, फारसी, संस्कृत, बंगाली, अंग्रेजी और अंग्रेजी के माध्यम से कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थ भी अनूदित हुए। इन अनुवादों से मौलिक लेखकों को प्रेरणा मिली और पुस्तक प्रकाशकों को एक नई व्यापारिक योजना के आरम्भ का सूत्र प्राप्त हुआ। अनुवाद धड़ाधड़ निकलने लगे और सब ओर छा गए। तब तक मौलिक प्रतिभा ने अपनी शक्ति तौल ली और उपन्यास का बाजार गरम हो गया।

हिन्दी में उपन्यास एक महत्व की वस्तु बन रहा है। पहले उपन्यास के प्रति विद्वज्जनों का वही भाव था जो एक अछूत वेश्या के प्रति एक कर्म-काण्डी पंडित का होता था। चुरा कर उसका उपयोग भले ही कोई कर लेता था, पर विद्वत् समाज अथवा संरक्षक समुदाय उपन्यास को निठल्लों के समय काटने के कुसाधन के रूप में ही देखता था। उसका महत्व नौटंकी देखने, ठेटर (थियेटर) देखने और मुजरा सुनने से बढ़ कर कुछ नहीं था। २०वीं सदी की प्रथम दो दशाब्दियाँ यों ही बीत गईं पर इस समय से पहले ही १९वीं शताब्दी के चतुर्थांश में लोगों का ध्यान इसकी ओर जाने लगा था और पाश्चात्य ढंग पर कुछ उपन्यास लिखे भी जाने लगे थे। प्रेमचन्द ने उसी परम्परा को आधुनिकता की पृष्ठभूमि लेकर आगे बढ़ाया। एकदम से आगे बढ़ाया। एक स्टैन्डर्ड की स्थापना कर दी। उपन्यास प्रयोजनहीन नहीं रहा। उपन्यास की रचना साहित्य-रचना का अंग बन गयी। उपन्यास का अध्ययन तथा पठन सुरुचिपूर्ण

व्यक्तियों के विद्या-व्यसन का खुला रूप हो गया। वेश्या को चकले से हटा कर 'सेवा-सदन' ऐसे सुधारगृहों में 'सुमन' के साथ ला बिठाया गया। आधुनिकता के इष्ट साहित्य-देवता का जन्म-दिवस मनाया गया।

हिन्दी उपन्यास क्या है? परिभाषा

इस पृष्ठभूमि में यह समझना सहज होगा कि उपन्यास क्या है? हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास की परिभाषा लिखने का उपक्रम करते हुए कहा है—"नाना जाति की जितनी पुस्तकें उपन्यास नाम से प्रचलित हैं उन सबको दृष्टि में रख कर अगर उपन्यास की परिभाषा की जाय तो एक मात्र उपयुक्त परिभाषा शायद यही होगी कि 'उपन्यास उस कथा-कहानी की पुस्तक को कहते हैं जिसे उसका लेखक या प्रकाशक 'उपन्यास' कहना पसंद करे। इसी एक परिभाषा के बल पर 'किस्सा गुल बकावली,' 'भूतनाथ,' 'गोरा,' और 'गोदान' को एक सूत्र में बाँधा जा सकता है। परन्तु यह परिभाषा स्पष्ट ही गलत है, इसलिए इन सभी जाति की पुस्तकों को एक ही नाम देना भी गलत है। फिर भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास एक प्रकार की कहानी है। या यों कहें कि उपन्यास में और कुछ हो या न हो उसमें एक कहानी जरूर रहेगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिसे हम आजकल 'कहानी' कहने लगे हैं उसमें 'कहानी' का अंश कभी-कभी इतना कम हो जाता है कि उसे 'कहानी' कहने में संकोच होता है। पर आज तक उपन्यास ऐसा नहीं लिखा गया जिसमें कम-से-कम एक पूरी कहानी न हो। नाटक में कहानी होती है पर नाटक विशुद्ध साहित्य नहीं है, उसे स्टेज की सहायता लेनी पड़ती है जब कि उपन्यास विशुद्ध साहित्य है और अपने 'पाकेट' में स्टेज लिये फिरता है। 'इसी बात को किसी ने और ढंग से कहा है कि नाटक अत्यन्त ठोस जाति का साहित्य है, जब कि उपन्यास अत्यन्त श्लथ जाति का।

तो यह तय है कि उपन्यास में नाटक की भाँति एक कहानी होती है और इस कथन का यह अर्थ है कि उपन्यास में कम-से-कम पाँच चीजें अनिवार्य रूप से रहेंगी—प्लाट, चरित्र, बातचीत, स्थान-काल और शैली। जो बात उक्त कथन के अर्थ में नहीं आती वह छठी है, लेखक का अपना वैयक्तिक दृष्टिकोण। यह छठी बात 'कहानी' से बाहर की है। कहानी में इस बात को जोड़ देने से उपन्यास बन जाता है। परन्तु 'कहानी' शब्द का व्यवहार यहाँ 'कहानी' नाम से चलने वाले साहित्यांग के अर्थ में नहीं हो रहा है। कहानी अर्थात् कथा। जिस कहानी में लेखक का अपना विशेष दृष्टिकोण व्यक्त नहीं किया जाता है,

जिसमें दृश्यमान जगत के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जाती उसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता है।

हम स्वयं तो यह जानते हैं कि 'प्रेम' क्या है,' जीवन' क्या है, पर दूसरों को सरलता से नहीं बता सकते कि 'प्रेम' और 'जीवन' क्या हैं। 'पृथ्वी थियेटर' द्वारा अभिनीत खेलों में 'दीवार' भी है। उसमें दो भाइयों की कथा है। एक भाई निरक्षर है और दूसरा भाई अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक। नाटक के एक दृश्य में कहीं से एक तार आता है। बड़ा भाई छोटे भाई को तार पढ़ने को देता है और फिर आशा करता है कि छोटा भाई उसे बताएगा कि तार में क्या लिखा है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद बड़ा भाई झुंझला कर कहता है, 'बोलो न, क्या लिखा है ?' छोटा भाई सर के पीछे के भाग को खुजलाते हुए कहता है, 'मैं समझ तो गया पर समझा नहीं सकता'। बड़ा भाई कुछ देर तक उसकी ओर देखता है और फिर अपना सर हिला कर छोटे भाई की नकल करते हुए खुद भी कहता है, समझ तो गया पर समझा नहीं सकता। जहाँ तक उपन्यास की परिभाषा करने का तकाजा है सभी उपर्युक्त खेल के बड़े भाई की स्थिति में हैं और पाठक या आलोचक अपने को परिभाषा पूछे जाने पर छोटे भाई की-सी विषम स्थिति में पाते हैं।

जिस प्रकार 'साहित्य' अथवा 'कविता' की परिभाषा करने के अनेक प्रयत्न सर्वत्र सदा से किए गए हैं, किन्तु कोई भी एक परिभाषा संपूर्णतः स्वीकृत नहीं हुई है, उसी प्रकार 'उपन्यास' की अनेक परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों ने की हैं, किन्तु कोई भी एक परिभाषा उपन्यास के सब अंगों और सब पहलुओं को सीमाबद्ध नहीं करती।

उदाहरणार्थ हम कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

डा० श्यामसुन्दरदास 'उपन्यास' को 'वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा' के रूप में देखते हैं। यह परिभाषा बहुत कुछ छोड़ कर चलती है। उपन्यास वास्तविक जीवन के परे की संभावनाओं को भी अपने में अंकोरता चलता है और कभी कभी कल्पना का आवरण इतना झीना होता है कि हम उपन्यास और जीवन-चरित्र में कुछ अन्तर नहीं पाते हैं। वृन्दावनलाल जी वर्मा का 'झांसी की रानी' शीर्षक उपन्यास इसका अच्छा उदाहरण है। दूसरी ओर अनेक तिलिस्मी, जासूसी और रोमांस के उपन्यास हैं जिनका संबंध वास्तविक जीवन से नहीं के बराबर है।

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द 'उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझते हैं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना उपन्यास

का मूल तत्व स्थिर करते हैं।[1] यह सत्य है कि जिस प्रकार सृष्टि में मानव का महत्व सर्वोपरि है उसी प्रकार उपन्यास में मानव-चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। कदाचित् इसीलिए प्रेमचन्द जी ने उपन्यास की परिभाषा करते हुए उपन्यास के सब से महत्वपूर्ण करणीय की ओर ही संकेत किया है। उपन्यास का और सब कुछ उन्होंने विना कहे हुए ही समझने को छोड़ दिया है।

हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उपन्यास पर विचार प्रकट करते हुए कहा है—"...समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रहीं हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं।—लोक किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।' उपन्यास की यह परिभाषा विश्लेषणात्मक है और हमें उसकी आत्मा तक पहुँचाने में सहायक होती है। पर इस परिभाषा में अति गम्भीरत्व का दोष है। उपन्यास का उद्देश्य और कुछ भी हो पर मनोरंजन तो होता ही है। इस व्याख्या में उसे ही सम्मिलित नहीं किया गया। यह परिभाषा हेनरी जेम्स और डा० मुलर की परिभाषाओं के निकट है। हेनरी जेम्स के अनुसार 'उपन्यास अपनी व्यापकतम परिभाषा में जीवन का वैयक्तिक और प्रत्यक्ष प्रतिविम्ब[2] है।' डा० हरबर्ट जे० मुलर की परिभाषा भी इसी से ही कुछ मिलती-जुलती इस प्रकार है—"उपन्यास मूलतः मानवीय अनुभव का निरूपण है, चाहे वह यथार्थ हो अथवा आदर्श। और इस प्रकार उपन्यास में अनिवार्यतः जीवन की आलोचना रहती है"।[3]

---

१ प्रेमचन्द—कुछ विचार पृष्ठ ४२

2 "A novel is, its broadest definition a personal, a direct impression of life."

—HENRY JAMES : '*The Art of Fiction.*'

3 "The Novel is typically a representation of human experience whether liberal or ideal and therefore inevitably a comment upon life."

—*Herbert J. Muller. Ph. D.*

—'*Modern Fiction*'—*A Study of Values*, p. Foreward xiv.

'हिन्दी उपन्यास साहित्य' के लेखक बृजरत्नदास के उपन्यास सम्बन्धी विचार इससे बहुत मिलते-जुलते हैं। उनका कथन है कि उपन्यास मानव जीवन के छोटे या बड़े चित्र हैं और उनमें जीवन ही की व्याख्या की जाती है। संसार में धनी-दरिद्र, विद्वान-मूर्ख सभी प्रकार के मनुष्य हैं और उन सभी का जीवन निर्वाह भी होता है। अवस्थानुसार इनमें भेद होते हुए भी मनुष्यमात्र में प्रायः एक ही प्रकार के राग-द्वेष, भावना आदि रहती है अर्थात् प्रेम, द्वेष, दुख, सुख, दया, निष्ठुरता आदि सभी मनुष्यों में समानरूपेण पाई जाती हैं। सुख-दुख दरिद्रता-सम्पन्नता, मित्रता-शत्रुता आदि युग्म सभी मनुष्यों में प्रायः एक से मिलते हैं और घटनावश एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। उपन्यासों में जीवन की इन्हीं सब अवस्थाओं में से एक या अनेक का चित्रण होता है और उनमें से किसी एक की प्रमुखता होते हुए भी जीवन को साधारण बातों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि चित्र को पूर्ण करने के लिये सभी बातों की आवश्यकता होती है। अवश्य ही अन्तिम बात गौण रूप से रहती है और जीवन के उदात्त उच्च तथा महत्वपूर्ण भावों ही का प्रधान रूप से विश्लेषण रहता है। इसी में उपन्यासों की महत्ता है और वे पाठकों पर अपना प्रभाव डालते हुए उनके जीवन को उत्साह पूर्ण, दृढ़ तथा गम्भीर बनाते हैं[1]। इस परिभाषा में जीवन की व्यापकता तथा महत्ता को समेटने का प्रयास अवश्य किया गया है पर जीवन के साधारण महत्व को द्वितीय स्थान देने से यह परिभाषा आधुनिकतम उपन्यासों को अपने में अंकोर नहीं पाती।

श्री शिवदानसिंह चौहान का स्थान प्रगतिशील आलोचकों में बहुत ऊँचा है। वे इस रूप-विधान को आधुनिक युग की संश्लिष्ट वास्तविकता के अनुरूप ही मानते हैं। उनके अनुसार 'आधुनिक उपन्यास साहित्य का एक नया और संलिष्ट रूप-विधान है जिसका विकास सबसे पहले यूरोप में हुआ, भारत में नहीं। अनेक विद्वानों ने उपन्यास की परिभाषा करते हुए उसे आधुनिक युग का महाकाव्य बताया है। इस कारण नहीं कि उपन्यास में पूर्वीय या पाश्चात्य काव्य-शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य की रचना-पद्धति का पालन होता है, बल्कि इसलिये कि रूप-विधान के अन्तर्गत रचनाकार को आधुनिक युग की संलिश्ट वास्तविकता के अनुरूप ही विषय-वस्तु, कथानक, चरित्र-चित्रण और व्यक्ति पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थितियों और प्रतिक्रियाओं आदि की संलिष्ट और मूर्त

---

१ **ब्रजरत्नदास—हिन्दी उपन्यास साहित्य, पृष्ठ १०–१६ प्रथम संस्करण (सं० २०१३)**

योजना करके समस्त जीवन को कलात्मकरूप मे प्रतिबिम्बित करने का एक ऐसा साधन या माध्यम प्राप्त हुआ है जिसके क्षेत्र एवं सम्भावनाएँ अपरिसीमित हैं।[१] उपन्यास की संभावनाओं का निर्देश इस विचार में बहुत स्पष्टता मे किया गया है।

डा० सत्येन्द्र की परिभाषा भी उपर्युक्त परिभाषा के अति निकट है। वे कहते हैं—"उपन्यास नए युग की नई अभिव्यक्ति का नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध में यह एक अखन्ड सत्य है कि वे व्यक्ति और युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते हैं।"[२]

कहा गया है कि लचर इतिहास में तो तिथियों और संवत् के सिवाय और सब कुछ गलत होता है और सफल उपन्यास में तिथि और संवत् को छोड़ कर सब कुछ ठीक होता है। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में यही विचार प्रतिध्वनित होते हैं।

'हिन्दी उपन्यास' के लेखक शिवनारायण श्रीवास्तव 'कहानियों के विकसित रूप को ही उपन्यास' की संज्ञा देते हैं। "उपन्यास परिवर्तित, सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थिति की देन है। बाद में विकसित होकर भी साहित्य के इस अंग ने अपना एक प्रधान स्थान बना लिया है और उसकी वर्तमान प्रगति को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि अभी वह साहित्य क्षेत्र में इससे भी अधिक गौरव प्राप्त करेगा। उपन्यासों के इतने 'अधिक प्रचार का कारण यह है कि वह सर्वथा मानव जीवन से सम्बद्ध है और अभिव्यञ्जना का बिल्कुल निजी तथा संवेदनापूर्ण साधन[३] है'।" श्रीवास्तव जी के इस अनुमान को तो सभी स्वीकार कर सकते हैं कि उपन्यास का भावी रूप बहुत महत्वपूर्ण है, परन्तु इस बात को सरलतापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक उपन्यास प्राचीन कहानियों का विकसित रूप है। कहानी और उपन्यास साहित्य की दो पृथक् विधाएँ हैं और उपन्यास को कहानी का विकसित रूप कहना ऐसा ही है जैसे चींटे को चींटी का विकसित रूप में फलित होना कहना। उपन्यास की वृत्ति कहानी के निकट से

---

१ शिवदानसिंह चौहान—हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष, पृ० १४१, सं० ५४

२ श्री सत्येन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी० 'साहित्य संदेश' (आधुनिक उपन्यास अंक) (जुलाई-अगस्त १९५६) पृ० ५–७।

३ शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास'—पृ० २, संस्करण सम्वत् २००७।

होती हुई अवश्य आई है, पर विकसित रूप में उपन्यास विधा के रूप में स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ है। 'कलात्मक साहित्य में वर्णित वस्तु जीवन, जीवन और प्रकृति के क्षेत्र में चार प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं और उनके आधार पर कथाओं का वर्गीकरण हो सकता है। दुर्लभ और असम्भव, सम्भव, सुलभ बन सकता है। आज की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास उत्पन्न हुआ है रोमांस से ही, पर अपनी पृथक् सत्ता की घोषणा के लिये और रोमांस तथा अपने बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचने के लिये यही कहता है कि जहाँ रोमांसकार प्रथम दो प्रकार के सम्बन्धों को उपजीव्य तथा आधार के रूप में ग्रहण करते थे वहाँ हमने उन्हें सर्वथा असंगत समझ कर त्याग दिया है। हमारा सम्बन्ध जीवन के तृतीय तथा चतुर्थ प्रकार से ही है। अतः हम कह सकते हैं कि इस यथार्थवादी दृष्टिकोण की सवारी रोमांस के रथ पर चढ़ कर जीवन के पथ पर निकली तो धीरे-धीरे परिस्थितियों के बीच में पड़ कर सारा दृश्य ही बदल गया अथवा यों कहिये कि परिवर्तित होने की विवशता उत्पन्न हो गई। रथ की सामग्री वही थी, पहिये वैसे ही थे, अश्व भी वही, बाग्डोर भी, पर बाहक बदल गया था, उसके विचार दूसरे थे, वह किसी दूसरे उद्देश्य से यात्रा के लिये निकला था, अतः कथा साहित्य के वातावरण में कायाकल्प का दृश्य उपस्थित हो गया [१]।'

इस गद्य-खण्ड में देवराज उपाध्याय ने 'प्रबन्ध काव्य', रोमांस और उपन्यास का अन्तर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इसी विचार को पुष्ट करते हुए डा० रामअवध द्विवेदी ने उपन्यास और यथार्थ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया है। उनका कहना है कि 'गतिमान प्रवाहयुक्त यथार्थ मानव जीवन ही उपन्यास लेखक को सामग्री प्रदान करता है और उपन्यास बहुत अंशों में इसी जीवन की अनुकृति है जिस प्रकार कोई यात्री मार्ग पर किनारों के दृश्यों को देखता हुआ अग्रसर होता है, उसी भाँति काल के अविरल प्रवाह में जीवन क्षण-क्षण आगे बढ़ता जाता है। जीवन में प्रगति भी है और साथ ही साथ विस्तार भी, किन्तु प्रगति ही उसका विशिष्ट धर्म है। उपन्यास भी इसी प्रकार के चित्र उपस्थित करता है जो पल-पल बदलता रहता है और नये रंग, नये रूप, नवीन दृश्य सामने प्रस्तुत करता है।....स्टैन्डल ने उपन्यास की तुलना किसी राज मार्ग पर स्वतः अग्रसर होते हुए विशाल दर्पण से की है जिसमें प्रतिक्षण यथार्थ जीवन

---

१ देवराज उपाध्याय—'आलोचना उपन्यास अंक १३' अक्टूबर, १९५४

की छाया पड़ती रहती है। यह तुलना अत्यन्त समीचीन है, यह बात अनेक उपन्यासों में यथातथ्य निरूपण की प्रवृत्ति से भी सिद्ध होती है। एमिल जोला ने भी प्रयोगशील उपन्यासों के लिये वास्तविक जीवन से अधिक से अधिक तथ्यों के एकत्र करने तथा उनके उपयोग की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया[१] है।'

उपन्यास सम्बन्धी इस विचारधारा में जहाँ एक ओर यह अच्छाई है कि यह जीवन का जैसा जीवन है वैसा ही चित्रण करता है पर दूसरी ओर यही तथ्य उसकी सीमा-बन्धन भी बन जाता है, क्योंकि उपन्यास का उद्देश्य दर्पण का प्रतिबिम्ब एवं 'फोटोग्राफिक रिप्रेजेन्टेशन मात्र न होकर उसको उपन्यासकार के माध्यम की रसायनिक प्रक्रिया के बीच से होकर निकालने का भी होता है। उपन्यास का जीवन के पत्रकार की रिपोर्टिंग से आगे बढ़ा कर एक कलाकार की दिव्य-चेतना का स्पर्श देने का भी उद्देश्य होता है अंग्रेजी में जार्ज मूर की उपन्यास की परिभाषा---"उपन्यास को 'समकालीन' इतिहास ही होना चाहिये ताकि वह हमारे युग की सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक तथा पूर्ण प्रतिकृति हो सके।"—भी इसी सीमा के अन्तर्गत आती है और हमें उपन्यास की 'विकास यात्रा' के एक स्टेज तक ही पहुँचाती हुई प्रतीत होती है।

जीवन की पेचदगी को ध्यान में रखते हुए डा० गुलावराय ने उपर्युक्त परिभाषाओं के अभाव को सुधारते हुए उपन्यास की अपनी नई परिभाषा गढ़ने का प्रयत्न किया है। नपे-तुले शब्दों में और यथासाध्य सतर्क ढंग से वे निम्न-लिखित शब्दों में उपन्यास की अब तक बनाई हुई परिभाषाओं में अपनी एक और परिभाषा जोड़ते हैं—'उपन्यास कार्य-कारण शृंखला में बँधा हुआ वह गद्यात्मक कथानक है जिसमें अपेक्षा-कृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मकरूप से उद्‌घाटन किया जाता[२] है।'

इसी के साथ ही साथ बाबू गुलाबराय का और भी कहना है कि "उपन्यास में कल्पना का पूरा संयम और व्यायाम रहता है। उपन्यासकार विश्वामित्र की सी भाँति सृष्टि बनाता है, किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से भी बंधा रहता

१. डा० रामअवध द्विवेदी—'आलोचना'–१३ उपन्यास अंक, अक्टूबर सन् १९५४ पृष्ठ ३१

२ डा० गुलाबराय—काव्य के रूप—पृ० १५६

है। उपन्यास में सुख, दुख, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, अभिलाषा, महत्वाकांक्षाओं, चरित्र के उत्थान-पतन आदि जीवन के सभी दृश्यों का समावेश रहता है। उपन्यास में नाटक की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है किन्तु नाटक के मूर्त साधनों के अभाव में उपन्यासकार उस कमी को शब्द-चित्रों द्वारा पूरा करता है[1]।"

इन शब्दों में बाबू गुलाबराय जी ने परिभाषा की परिधि में न बँधने वाली साहित्यिक विधा को सब ओर से बाँधने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। परन्तु जहाँ तक विस्तार का प्रश्न है, उपन्यास में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार न होकर अधिक लगता हुआ सा विस्तार होता है जिस प्रकार स्वप्न में थोड़े समय में हम न जाने कितनी दीर्घ अवधि की घटनाओं को एक साथ देख लेते हैं। उसी प्रकार उपन्यासकार कालरिज की-सी सम्मोहनावस्था एवं 'विलिंग सस्पेन्शन आफ डिसबिलीफ' की सी स्थिति उत्पन्न कर उपन्यास की लघु काया में घटनाओं के दीर्घकालीन बहुलसंकुल व्यापार को अटा देता है। साथ ही साथ इस परिभाषा ने चित्र की समता देते हुए उपन्यास में लेखक के द्वारा अस्तित्व में लाये हुए वातावरण को भुला-सा दिया है। यह इस वातावरण का ही प्रभाव होता है जो चित्रित जीवन के व्यक्तियों, वस्तुओं एवं उसके आसपास के शून्य अंतरिक्ष को रंग, प्रकार और ध्वनित प्रभाव देकर एक पाठक की कल्पना के जेबी थियेटर को सजीवता प्राणवता एवं गतिमता प्रदान करता है। और जहाँ तक कल्पना के संयम और व्यायाम का प्रश्न है विद्वान् आलोचक ने कलाकार की साधना की महत्ता को उचित महत्व नहीं दिया है। उपन्यासकार साहित्य-लोक का विश्वामित्र न होकर ईश्वर-प्रत्यादेश-प्राप्त प्रतिभा-संपन्न सजग जीवन का कलाकार है जो अन्य वस्तुओं की सृष्टि करने के साथ-साथ ईश्वर की भी सृष्टि करने का हौसला रखता है। वह ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों को नहीं तोड़ता, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार मेधावी व्यक्तियों ने ब्रह्माण्ड-सी विस्तृत, महासागर सी गहन, साहित्य के शिशु-हिमालय की-सी ऊँची अतः दुर्भेद्य रहस्यमयी विधा को भिन्न-भिन्न पहलुओं से परख कर बुद्धि-सुलभ करने की चेष्टा की है, पर वस्तुतः सभी परिभाषायें किसी विराट रूप के एक-पक्षीय सीमित पक्ष मात्र को प्रस्तुत करती

---

१ **बाबू गुलाबराय—काव्य के रूप—पृ० १५३**

हुई अल्प-व्याप्ति के दोष से मुक्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध में रघुनाथसरन झालानी का वक्तव्य उचित ही है—"आज उपन्यास जीवन की परोक्ष-अपरोक्ष अभिव्यक्ति का सबलतम माध्यम है। यह जीवन की व्यापकता और समग्रता को छू रहा है। उपन्यास की धारा उतनी ही प्रशस्त और विस्तृत है जितनी कि जीवन की धारा। उपन्यास की इस व्यापकता का कुछ शब्दों में परिसीमन असंभवप्राय[1] है।"

यदि उपन्यास की परिभाषा करनी ही हो तो उपन्यास की सबसे उत्तम परिभाषा उपन्यास का अशेष इतिहास ही होगा[2]।

---

१ रघुनाथ सरन झालानी—"जैनेन्द्र और उनके उपन्यास"—पृष्ठ २९-३०
(उपन्यास का क्रिया-कल्प और हिन्दी उपन्यास की रूप रेखा)
१९५६ संस्करण।

2 "The only quite accurate definition of the novel is the history of the novel."
—EDWERD WAGENKNECHT : *Cavalcade of the English Novel*', p. xviii.

उपन्यास तथा साहित्य के अन्य अंग

1. 'May God make this world, my child, as beautiful to you as it has been to me.'

Blake in old age

2. "He beholds the light and whence it flows.,
He sees it in his joy."

साहित्य

साहित्य उच्चतर चेतना की वाणी है जो मनुष्यता के स्वर में सहयोग देती है। साहित्य का अर्थ रचना (क्रिया के अर्थ में संज्ञा के अर्थ में नहीं) नहीं, सतत् साधना का सुवासित सुमन होता है। अन्तर्दीप के प्रकाश में—मन में—प्राणमें साहित्य जगत है और जीवन में संस्कारी तत्वों के साथ पलता है। उस चेतना को जिसका वाहक साहित्य रहा है—रवीन्द्र-सा साहित्यिक निर्माण करता है व्यवसाय के लिये, पर उसकी सृष्टि करता है आत्मा के लिये। जब निर्माण का प्रयोजन बढ़ जाता है, तब सब मार्ग बाजार की ओर हो जाते हैं।

वाङ्मय

मनुष्य की विशेषता उसको विधाता से मिला हुआ वाणी का वरदान है। उस वाणी के उपबृंहण से वाणी के कोष का उद्‌घाटन एवं संवर्द्धन सिद्ध हुआ। वाणी की महत्ता एवं वरिष्ठता के साथ-साथ मनुष्य का सृष्टि, स्वामित्व तथा मनुष्य वाणी के उपयोग-विनियोग की उत्कृष्टता की भी सिद्धि हुई। कतिपय दार्शनिकों की दृष्टि में बाह्य संसार मनुष्य के अन्तःकरण की वृत्ति का विस्तारमात्र है। मनुष्य का संतोष केवल ईश्वर प्रदत्त ज्ञान (वेद-शास्त्रादि ...) से ही नहीं हो जाता, उसमें आदि-प्रवृत्ति की सजगता की भाँति बाह्य-संसार की अनन्तता के प्रति स्वयं अपनी रहस्यात्मक अहंता के प्रति कुतूहल भी जगता रहता है। आनीत अथवा प्रतिबिम्बित के प्रति कुतूहल ही होकर नहीं रह जाता, उससे विकार का सद्‌भाव भी होता है और बारम्बार इसके भावन से अनुभूति भी होती है। जो ज्ञान, जो कुतूहल और जो अनुभूति

होती है उन्हें वह भीतर ही संचित नहीं रखता। अतःकरण से बाहर भी करता रहता है। भीतर से बाहर वाणी या वाक् उन्हें ले आती है। वाक् के इसी बाह्य प्रस्फुटितरूप का आकलन वाङ्मय कहलाता है।

अन्तःकरण की भिन्नता से वाङ्मय की भिन्नता भी होती है। एक ओर अन्तःकरण की तल्लीनता की अभिव्यक्ति होती है तो दूसरी ओर उसकी तटस्थता व्याकृत रहती है। एक में उस वेग या शक्ति का रूप प्रत्यक्ष होता है जिसमें दूसरा भी तल्लीन हो सकता है। दूसरे में स्थैर्य या ज्ञान सुस्थ रहता है जिसमें दूसरे का अन्तःकरण निमग्न नहीं, विचार के लिये उद्यत होता है। एक का प्रयोजन रमण कराना होता है। दूसरे का प्रयोजन अर्थबोध कराना होता है। वाङ्मय की इन स्थितियों को 'शक्ति का वाङ्मय' और ज्ञान का वाङ्मय' कहा गया है। पहले के लिये पारिभाषिक शब्दावली में काव्य और दूसरे के लिये शास्त्र की संज्ञा निर्दिष्ट हुई है।

साहित्य का नाम-करण

'काव्य' की दूसरी संज्ञा 'साहित्य' है। साहित्य' में—शब्द और अर्थ सहित रहते हैं[1]। शब्द या वाणी में किसी न किसी अर्थ,पदार्थ अथवा वस्तु का संकेत निहित रहता है। शब्द और अर्थ में इन दो के कारण त्रिधा-स्थिति

---

१ भारतीय साहित्य में साहित्य का अर्थ है — जो हित के साथ होने का भाव व्यक्त करे (सहितस्य भावः साहित्यम्)। दूसरी व्युत्पत्ति है — शब्द और अर्थ के एक साथ मिलने के भाव को साहित्य कहते हैं (सहित योः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्) इसीलिये शब्दार्थ के सम्बन्ध में विचार करने वाले रीति, वृत्ति, गुण, दोष, वक्रोक्ति, ध्वनि, अलंकार, रस आदि की विवेचना को ही साहित्य मानते हैं। किन्तु एक साथ मिले हुये शब्द और अर्थ के भाव को साहित्य कहने का तात्पर्य ही यह है कि जिस रचना में शब्द और अर्थ इस प्रकार मिले हुए हों कि उन दोनों की उपस्थिति से एक विशेष चमत्कारीभाव उत्पन्न हो वही साहित्य हो। इस दृष्टि से हमारे यहाँ आचार्यों ने जिसे काव्य कहा है वह वास्तव में साहित्य ही है। वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक ने साहित्य की परिभाषा बताते हुये कहा भी है—

साहित्यमनयोः शोभाशालिताम्प्रतिकाप्यसौ।
अन्योन्यान्यतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवथितिः ॥

दिखाई पड़ती है। कहीं शब्द से ही प्रयोजन होता है और कहीं अर्थ से प्रयोजन होता है और कहीं शब्द और अर्थ दोनों ही से प्रयोजन होता है। जहाँ शब्द और अर्थ संपृक्त रहते हैं, उनका यथावत् सहभाव रहता है, वे कहने भर के लिये समझने भर के लिये भिन्न कहे जाते हैं, तत्वतः अभिन्न हो जाते हैं[1], वहीं साहित्य है। उनके संपृक्त होने और सहभाव से जो सृष्टि होती है उसी का नाम 'रस' है। यह सृष्टि 'रस' के आगे नहीं जाती, इसकी चरम विश्रांति रस ही है। पार्वती-परमेश्वर के संपृत-सहभाव से 'कुमारसंभव' हुआ। कुमार के कौमार्य ने सृष्टि का नियमन कर दिया यही वागर्थ (वाक्य और अर्थ) के कुमार रस की भी नीति है। पर साहित्य में 'सहित' एक वचन या द्विवचन तक ही नहीं है, बहुवचन में भी है। यही कारण है कि संसार की कोई विद्या, कोई उपविद्या ऐसी नहीं है जिसे साहित्य अपने आभोग में न ला सके। यहाँ तक कि वह अपना भी निरीक्षण करता है। उसमें काव्य ही नहीं होता, शास्त्र की प्रज्ञा भी रहती है। इसलिये 'साहित्य' में काव्य और उसके शास्त्र का भी साहित्य है। पार्थक्य के लिये काव्य को काव्य और उसके शास्त्र को 'साहित्य' संज्ञा हो गई। फिर यह इतना व्यापक हो गया कि 'वाङ्मय के पर्याय के रूप में भी प्रचलित हो गया जो अधुनातम स्थिति है[2]।

साहित्य की व्याप्ति

'काव्य' के अपर पर्याय 'साहित्य' और वाङ्मय के अपर पर्याय 'साहित्य' के कारण विद्या के क्षेत्र में विषम स्थिति उत्पन्न हो गई। पहले तो साहित्य को काव्य के रूप में विद्या ही कहते थे, पंचमी विद्या साहित्य कहलाती थी, पर मूर्ति, चित्र, संगीत और अभिनय के साथ काव्य को कला कहने का प्रचलन होने से वह उपविद्या की श्रेणी में पहुँचा दी गई। काव्य में उपविद्या का साहाय्य रहता है, उसमें मूर्तितत्व, चित्रतत्व, संगीततत्व, या नादतत्व या अभिनयतत्व या संवाद तत्व सहायक के रूप में आते हैं। इन सहायकों को भी

---

१ "गिरा अरथ जल बीच सम-कहिमत भिन्न न भिन्न"

२ कुन्तक ने भी साहित्य शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिसमें काव्य का प्रयोग किया जाता है। यह उस यूरोपीय साहित्य की परिभाषा से भिन्न है जिसमें 'सम्पूर्ण सुरक्षित लिखित वाङ्मय के संचय को ही साहित्य कह दिया गया है और जिसके अनुसार वे लोग वैज्ञानिक-साहित्य-अर्थशास्त्रीय साहित्य का प्रयोग करते हैं।

काव्य या साहित्य कह देने में हृदय का सम्मान चाहे जितना हो पर बुद्धि का घोर अपमान है। भावुकता में कला को ही नहीं, विज्ञान को भी साहित्य कहने लगे। 'काव्य साहित्य है, कला का साहित्य है, विज्ञान साहित्य है, उक्ति अभिचारित रमणीय हो सकती है विचारित सुस्थ नहीं, कविता कही जा सकती है, पर शास्त्र नहीं। जो काव्य या साहित्य को साहित्येतर से पृथक करते हैं वे शास्त्रचिन्तन के नाते ही। इनमें उनके हृदय का संकोच देखना मनमानी ही कही जा सकती है, बुद्धिमानी नहीं।

काव्य की सत्ता पारमार्थिक या प्रातिभासिक नहीं है, प्रातिबिंबिक है। जो बिंब बाहर है उसका प्रतिबिम्ब भीतर है। जो बिम्ब भीतर है उसका प्रतिबिम्ब बाहर आता है। बिम्ब से प्रतिबिम्ब तथा उस प्रतिबिम्ब का बिम्ब होना तथा प्रतिबिम्ब से हुए बिम्ब का फिर प्रतिबिम्ब सामने आना काव्य-प्रक्रिया में सदा होता रहता है। इसलिये काव्य न तो प्रभा है, न भ्रम, वह कल्पना है। कल्पना की सृष्टि का काम अर्थ के बोध से नहीं चल सकता, बिम्ब के चारुत्व के दर्शन, रमणीयत्व के संवेदन और प्रतिबिम्ब के प्रदर्शन तथा प्रतिवेदन से ही चल सकता है। प्रदर्शन और प्रतिवेदन के लिये परपक्ष की अपेक्षा होती है। इसलिये काव्य या साहित्य केवल निर्माता ही से ही संबद्ध नहीं होता, ग्रहीता या भावयिता से भी संबद्ध होता है। 'केवल नेता से ही नहीं उसका सम्बन्ध अभिनेता से भी होता है। इसलिये साहित्य काव्य और नाट्य का भी साहित्य है।

साहित्य के निर्माण में कभी संकल्प की स्थिति रहती है, कभी अनुसंधान की और कभी निश्चय या विमर्श की। उसकी अहंता संकल्प में, अनुसंधान में और विमर्श में लिपटी रहती है। पर वह अपनी अहंता का विसर्जन करके सर्जन करता है। कविता हो, उपन्यास या नाटक हो, निबन्ध या आलोचना हो, सर्वत्र उसे अपनी अहंता का विसर्जन थोड़ा-बहुत करना ही पड़ता है। अहंता का विसर्जन होता है, विनाश नहीं। इसी से एक की कविता, दूसरे की कविता से, एक का उपन्यास दूसरे के उपन्यास से, एक का नाटक दूसरे के नाटक से, एक का निबंध दूसरे के निबंध से, एक की आलोचना दूसरे की आलोचना दूसरे की आलोचना से भिन्न होती है, पर साथ ही उनमें अभिन्नता भी रहती है, सर्वरूपता या विश्वरूपता की। व्यक्ति-व्यक्ति के उक्त भिन्नत्व को व्यक्तित्व कहते हैं यही अब विशेषरूप में प्रदर्शित होता है तब अधिक आत्मपरक होने के कारण रचना व्यक्तिवादिनी हो जाती है तब अधिक

आत्मपरक होने के कारण रचना व्यक्तिवादिनी हो जाती है। इस प्रकार साहित्य मे अत करण की सभी प्रवृत्तिया काम करती रहती हे, कही प्रधान रूप से कही गारा रूप मे। इसलिये साहित्य मे अन्त करण की (मन, चित्त, बुद्धि, अहकार की) वृत्तियो का साहित्य रहता हे और तत्प्रयत्नस्वरूप कविता उपन्यास, कहानी— नाटक, निबध प्रबध आलोचना, उनकी शाखा प्रशाखा का भी साहित्य रहता हे।

इस प्रकार साहित्य अपने आभोग म जितना अधिक समेट सकता ह उतना अधिक कोई साहित्येतर वाङ्मय कभी नही समेट पाता। साहित्य मे समन्वय की प्रवृत्ति हे और साहित्येतर मे अनन्वय की। साहित्य साहित्येतर का अपने पास ही नही बुलाता, वह साहित्येतर के पास जाता भी है। कभी साहित्य अगी होता हे, साहित्येतर अग, कभी साहित्येतर साध्य होता हे साहित्य साधन। पर यह कभी नही हो सकता कि साहित्य साहित्येतर हो जाय या साहित्येतर साहित्य काव्य ज्योतिष नही हो सकता, ज्योतिषकाव्य नही हो सकता। काव्य मे ज्योतिष बुलाया जाता है और ज्योतिष मे काव्य जाता है। ज्योतिष स्वय काव्य मे नही आता और ज्योतिष काव्य को स्वय नही बुलाता। काव्य की समन्वय वृत्ति उसे ही जाने को प्रेरित करती हे। इसे यो भी समझा जा सकता है कि कोई ज्योतिषी (केवल ज्योतिष ज्ञान के बल पर) साहित्यिक नही हो सकता, साहित्यिक साहित्यिक तो हे ही, ज्योतिषी भी हो सकता है। जब ज्योतिषी ज्योतिष के ग्रथ की रचना करेगा तो उसमे केवल अर्थ बोध का प्रयास रहेगा और जब कोई साहित्यिक ज्योतिषी होगा और वह ज्योतिष के ग्रथ का निर्माण करेगा तो उसमे चारुता और रमणीयता का नियोजन कर देगा।[1] वैद्यक के[2], व्याकरण के[3] कई ग्रन्थ सस्कृत मे चारुता और रमणीयता के नियोजन पूवक रचे गये है। इतने पर भी वे वैद्यक की ही सम्पत्ति है। साहित्य की नही। पुराण काव्य शैली पर लिखे गये है, पर वे पुराण ही ह, काव्य नही। काव्य भी पुराण शैली को ग्रहण करके लिखा जा सकता है, पर वह काव्य ही होगा पुराण नही। रामचरित मानस ने परिष्कार पूवक पुराण शैली को स्वीकार किया, इसलिये वह पुराण नही कहा जा सकता, उसे काव्य

---

१ कालीदास का 'ज्योतिर्विदाभरण'

२ चरक एव सुश्रुत विशेषत पान गोष्ठी के प्रसग।

३ भट्टिकाव्य।

कही कहेंगी। पुराण की शैली साज-सज्जा है, साधन है, वस्त्राभूषण है।[1] विजातीय या विजायती वस्त्राभूषण पहन लेने पर भी कोई भारतीय विजातीय नहीं बन जाता। उसमें विजातीय होने का भ्रम हो सकता है। जो रामचरित मानस को पुराण कहते हैं, उन्हें इसी से शुद्ध भ्रम है, मिथ्या ज्ञान है।

यदि कोई यह कहे कि साहित्य और साहित्येतर पार्थक्य को मान लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य कोई ऊँची वस्तु है अथवा ऊँची वस्तु हो या न हो उसकी साधना से कोई ऊँचा नहीं हो सकता, तो कहना पड़ेगा कि विश्वरूप को समेटने वाले साहित्य के सम्बन्ध में यह भी भ्रांति ही है। किसी साहित्येतर वाङ्मय का उद्देश्य या लक्ष्य अर्थ होगा, काम होगा, धर्म होगा, मोक्ष होगा। साहित्य का लक्ष्य एक साथ चतुर्वर्ग फल प्राप्ति है। यहाँ भी साहित्य की समन्विति ही है। चारों वर्गों का, चारों पुरुषार्थों का साहित्य यहाँ रहता है। जो साहित्य में केवल अर्थ, केवल काम, केवल धर्म या केवल मोक्ष देखते हैं वे साहित्य को साहित्येतर के रूप में समझ बैठते हैं। या साहित्य की शैली में प्रस्तुत साहित्येतर को साहित्य करना चाहते हैं। जिस प्रकार साहित्येतर को साहित्य समझना भ्रम है उसी प्रकार साहित्य को साहित्येतर समझना भी भ्रम है और इस भ्रम को दूसरों को सत्य बतलाना तो भारी भ्रम है, महा भ्रम है। साहित्य में अतिवादी नीति नहीं चलती उसमें समन्वितिवादी नीति ही चलती हैं। इसी से कहा गया है कि साहित्य लोक-साधन ही नहीं करता, पर-लोक-साधन भी करता है। उससे केवल प्रसादन ही नहीं होता, परिष्कार भी होता है। ऐसी स्थिति सत्वोद्रेक के कारण होती है। सत् के जागृत होने पर रज और तम दब जाते हैं। साहित्य-साधना से सात्विकता की वृद्धि होती है। साहित्य की रचना के अनुशीलन से तमोगुण तो एकदम दब जाता है पर कभी-कभी रजोगुण उस सात्विकता के साथ रह सकता है। इसलिये साहित्य में कभी अनुरंजन होता है कभी चिन्मय संवित्ति। इसी से साहित्य में दो प्रकार के प्रवाह चलते हैं—एक को चारुत्व प्रवाह और दूसरे

---

१ सर्गः प्रतिसर्गश्चवंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरिपञ्चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥ (विष्णु पुराण एवं प० पु०)
अत्र सर्गो विसर्गश्च, स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा, विरोधोमुक्तिराश्रयः ॥१॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् (स्कन्ध अध्याय श्लोक
भागवत २।१०।१–२

को अनुभूति प्रवाह कह सकते हैं। चारुत्व प्रवाह के अन्तर्गत अलंकार, गुण-रीति और वक्रोक्ति के मत आते हैं और अनुभूति प्रवाह के अंतर्गत रस, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य के मत। एक का सम्बन्ध काव्य या दृश्यकाव्य की परम्परा से है और दूसरे का सम्बन्ध नाट्य या दृश्यकाव्य की विकास-परम्परा से। साहित्य निर्माण में त्रिकोणात्मक स्थिति होती है। इसके एक कोण में कर्ता या निर्माता रहता है, दूसरे कोण में वर्ण्य का नेता रहता है, तीसरे में ग्रहीता या सामाजिक होता है। नेता के साथ कभी अभिनेता भी आ जाता है, अनुकार्य के साथ अनुकर्ता भी आ जाता है। कर्ता का सम्बन्ध शब्द से, नेता का सम्बन्ध अर्थ से और ग्रहीता का सम्बन्ध प्रधानतः रस से होता है। प्रमुखतया इसका सम्बन्ध सामाजिक से ही होता है। वह कर्ता, नेता, अभिनेता में भी हो सकता है, पर रूप-भेद से। कर्ता में वह बीज रूप में रहता है, नेता में वह जल-रूप में, अभिनेता में वह वृक्ष रूप में और ग्रहीता में फल रूप में।

चारुत्वप्रवाह का सम्बन्ध शब्द से अधिक है, कर्ता से अधिक है। अर्थ से भी है, वर्ण्य से भी है। पर ग्रहीता से उतना अधिक नहीं। इसी से जब कर्ता-विशिष्ट या व्यक्ति-विशिष्ट रचना होती है तो एक ओर तो वह व्यक्तिवादिनी और दूसरी ओर शैली-परक हो जाती है। उस दृष्टि से विवेचन करने पर चारुता का ही विवेचन प्रमुख होता है।

अनुभूति का प्रतिपाद्य यह है कि चारुता के रहने पर भी काव्य में कुछ और अपेक्षित रहता है। इसलिये इसी की अपेक्षा से सबको मानना चाहिये। ध्वनि को आत्मा मानने पर भी वस्तु और रस दोनों की ध्वनि मानी जाती है। वस्तु की ही ध्वनि अपने स्वरूप के कारण केवल वस्तु-ध्वनि भी होती है और अलंकार रूप वस्तु-ध्वनि भी होती है, इस प्रकार ध्वनि के तीन रूप हो जाते हैं। वस्तु का तात्पर्य है तथ्य। किसी तथ्य तक पहुँचना या किसी अनुभूति तक पहुँचना दोनों स्थितियाँ हो सकती हैं। जहाँ केवल तथ्य तक पहुँचना होगा वहाँ अनुभूति न होगी, पर जहाँ अनुभूति तक पहुँचना होगा वहाँ किसी तथ्य तक पहले पहुँचना हो सकता है, फिर अनुभूति तक। पर तथ्य पर पहुँचकर ही अनुभूति तक पहुँच हो पाती है। क्रम होता है, पर वह संलक्ष्य नहीं होता, शतपत्र-भेद-न्यास[1] से सीधे अनुभूति तक पहुँच हो जाती है। अनुभूति प्रवाह

---

१. शतपत्रभेद न्याय-सुई द्वारा एक सौ पद्मपत्र एक ही बार भेदे जाने पर यह पता नहीं चल पाता है कि समस्त पत्तों की छेदन-क्रिया एक ही साथ नहीं हुई है। इस कार्य में इतना अत्यल्प समय लगता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सारा कार्य एक ही साथ हुआ है।

केवल रस का ही नहीं भाव, भावाभास, भाव-संधि, भावोदय, भावशान्ति भावशवलता और रसाभास का बोध भी रसात्मक ही कहाता है। यहाँ तक कि चारुत्व प्रवाह जिसे चारुता कहता है, उस 'नीरस' को भी यह प्रवाह रसात्मक ही मानता है। इसी से खेल-तमाशे को काव्य नहीं माना गया। पहेली काव्य नहीं है, उसमें किसी प्रकार के रसात्मक बोध की स्थिति न देखकर ही ऐसा कहा गया है।

परिणाम यह हुआ कि चारुत्व-प्रवाह और अनुभूति-प्रवाह दोनों के समन्वय से एक विशेष प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई। अलंकार और अलंकार्य का रूप स्पष्ट हुआ। तब यह स्पष्ट किया गया कि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो चारुत्व प्रवाह में हैं वे सब सर्वदा अलंकार ही हैं और जो अनुभूति प्रवाह में हैं वे सब सर्वदा अलंकार्य ही हैं। जो अलंकृत किया जाने वाला होगा वह अलंकार्य और जो अलंकृत करने का साधन होगा वह अलंकार होगा। साहित्य-शास्त्र में 'अलंकार' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त है, उसकी व्याप्ति इतनी अधिक है कि साहित्य-शास्त्र को अलंकार शास्त्र कहते हैं। साहित्य का पर्याय अलंकार' या अलंकार का पर्याय 'साहित्य' नहीं, पर अलंकारशास्त्र और साहित्यशास्त्र अवश्य पर्याय माने गये हैं। उक्त सब प्रकार के प्रवाहों का मेल या उनका समन्वय भी साहित्य या साहित्यत्व के कारण हैं।[१]

'साहित्य हृदय से हृदय का व्यवसाय है'—जिनके कारण साहित्य अन्य सभी वाङ्मयों से अलग छूट जाता है और जिनके कारण साहित्य-साहित्य है—वह हृदय का संवेदन तत्व है। संसार के असंख्य प्राणियों के सुख-दुख की परिस्थितियाँ और कारण भिन्न हो सकते हैं पर सुख-दुख की संवेदना का रूप सब में एक ही है। संवेदना वह तार है जो प्राणिमात्र के भीतर से आर-पार निकला चला गया है। इसका एक छोर वहाँ है जहाँ से सृष्टि के धुंधले प्रभात का प्रारम्भ होता है और दूसरा वहाँ है जहाँ सृष्टि काल रात्रि में अन्तर्हित होता है। साहित्य इसी तार को झटका देकर प्राणियों में परस्पर सहानुभूति की झनझनाहट उत्पन्न करता है। बौद्धिक वात्याचक्र में इधर-उधर भटकने वाले बुद्धिजीवियों को एक सीधी पंक्ति में लाने के लिये साहित्य इसी

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी की 'स्थापना'—शंकरदेव अवतरे के 'साहित्य' (शास्त्रीय समाधान) से संकलित।

तार को कसता है। जो व्यक्ति, ईश्वर या किसी परात्पर शक्ति को न माने उमे हम मानने के लिये तैयार है। पर जो प्राणिया की एकता प्रमाणित करने वाले सवेदन तत्व को न माने उस पर बहुत दया आती है। केवल बौद्धिक परीक्षण अपने निर्माण मे भी ध्वसात्मक होते है। पचतन्त्र की एक कथा मे कुछ वैज्ञानिक पडितो ने अपनी विद्या के परीक्षण मे एक मृत सिह को जिला लिया था जिसका परिणाम यह निकला कि सिह ने उठकर उनका अन्त कर दिया। आज के विज्ञानवादियो के सम्बन्ध मे भी इस प्रकार की आशका होना अस्वाभाविक नही हे। आशका ही नही, इस बुद्धिमूलक भोतिक विकास ने मानव जाति को बुरी तरह त्रस्त कर दिया हे। क्योकि यह किसी ऐसे सिह का आविष्कार कर सकता हे जो सौ पचास प्राणियो का नही, प्राणिमात्र का बीज खोद कर खा जाय।

बुद्धि का जितना ही विकास होता जा रहा है सवेदना की उतनी ही अधिक आवश्यकता जीवन के लिये महसूस हो रही हे। बुद्धि के माध्यम से हम जितने अलग-अलग फैल रहे है, सवेदन के माध्यम से उतनी ही एकता की गहराई चाहिये नही तो मानवता का वट वृक्ष अपने ही भार को न सम्हाल सकेगा ओर विषम झझावत का एक हल्का सा झटका ही इसके लिये काफी होगा। बुद्धि अह का पुत्र है और बुद्धि का विकास 'मम' का। इसीलिए मैं और तू का भेद और मेरे तेरे का झगडा बुद्धि ही कराती है। सवेदन अपने प्रत्यक्षरूप मे भी हमे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति की सात्विक प्रेरणा दे सकता है जो इसकी सव साधारणता का प्रमाण है। जब किसी की आपत्ति हमारे लिये भी सवेद्य होगी तभी हम उसके और अपने बीच एक साधारण सूत्र की स्थापना करते हुए सहानुभूति और सहयोग के लिये आगे बढेगे। जब सवेदन के इस सात्विक रूप का अनुभव हमे प्रत्यक्ष लोक मे भी होता है, तब साहित्य के क्षेत्र मे इसके लिये जो कुछ भी कहा जाय कम है। साहित्य मे सभी भाव अप्रत्यक्ष रूप से सामने आते हे। यहा न तो भावो की अपवित्रता की शका है और न उनके दुरुपयोग की, जैसा कि प्रत्यक्ष जगत मे कभी कभी देखने को मिल जाता है। यहा इसीलिये सवेद्य के साथ एक साधारण सूत्र की तीव्रता इतनी सघन हो जाती है कि सामाजिक, सहानुभूति और सहयोग का पाठ ही नही पडता अपितु वह अपनी वैयक्तिक सीमाओ को एक क्षण के लिये भूल ही जाता है और उसकी अस्मिता गायब हो जाती है यही मनुष्य के सात्विक रूप की पराकाष्ठा है जिनको अनुभव और आचरण का अभ्यास सबसे अधिक

और अत्याधिक सरलता से साहित्य ही कराता है। हम नहीं समझते कि संसार में जीने के लिये और दूसरों को जीने के लिए उस सात्विक जीवन से भी ऊँचा कोई प्रयोजन या पुरुषार्थ है जिसकी स्थापना साहित्य में संवेदनामूलक साधारणी-करण के द्वारा ब्रह्म-स्वाद-सहोदर रस के रूप में यहाँ के महामनीषियों ने की है।

साहित्य और प्रयोजन

इसके साथ ही साहित्य प्रयोजनातीत है। प्रयोजनातीत का मतलब निष्प्रयो-जन नहीं है, बल्कि प्रयोजनों की सीमाओं को अतिक्रान्त करने वाला वह विश्व-जनीन सत्य है जो वैयक्तिक पकड़ में नहीं आ सकता। सत्य कभी व्यक्तिगत नहीं होता, हम जो उसे अपने व्यक्तित्व में बाँधना चाहते हैं, वही असत्य है। साहित्य ऐसा ही सत्य है जो वैयक्तिक अभिव्यक्तिक पा सकता है पर वैयक्तिक सीमा में नहीं रह सकता। वह उतना ऊँचा है (या उससे भी अधिक ऊँचा है) जितनी वैयक्तिक कल्पना और इतना व्यापक है (या उससे भी अधिक व्याप्त है) जितना समाज। साहित्य वह तीर्थ है जहाँ राग-द्वेष के यात्रियों को कोई फल नहीं मिल सकता। जो साहित्य के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वार्थ लेकर चलते हैं वे सरस्वती-संप्रदाय के सच्चे सदस्य (साधक) नहीं हैं।

साहित्य भाव-योग की साधना है। यहाँ भाव-समाधि लगती है। भाव वही, जिसमें सुख दुखात्मक अनुभूति की एक जातीयता रहती है। इसीलिए भावों की एकता या भावों की सामान्य भाव-भूमि वही है जहाँ हम दूसरों के साथ साधा-रणीकरण कर नहीं लेते बल्कि वह स्वयं हो जाता है। यहाँ पहुँच कर हमें यह मधुर अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती कि जड़-चेतन एक ही अक्षर की दो लिपियाँ हैं।

साहित्य की व्याख्या और स्वरूप

इससे साहित्य की व्यापकता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है। साहित्य में जीवन की निःशेष अभिव्यक्ति एवं समस्त ज्ञान की चेतना का बोध समवेत रूप से होता है। मनुष्य का प्रयास सीमित होने के कारण जीवन की पूर्णता एवं ज्ञान का समाहार व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की परिधि में नहीं समेटा जा सकता। व्यक्तिगत प्रयास में अभिव्यक्ति की भिन्नता होती है। इस विषमता के कारण प्राचीनकाल से ही साहित्य के भिन्न-भिन्न स्वरूपों एवं व्याख्याओं का निरूपण हुआ है। तदनुरूप ही विभिन्न देशों, विभिन्न समयों में साहित्यशास्त्रियों ने साहित्य की परिभाषाएँ पढ़ी हैं। साहित्य शब्द की मूल विधा है, संस्कृत का

सहित शब्द। सहित का अर्थ है विविध वस्तुओं का मिलन या मेलन। इसका अर्थ कल्याण सहित भी किया जाता है। साहित्य के मूल में एकत्रीकरण एवं कल्याण दोनों ही भावनाएँ रहती हैं। 'सहितस्य भावः साहित्यम्' में साहित्य में अनेक वस्तुओं के समाहित होने का भाव सन्निहित है। अतः साहित्य को हम साहित्यकार के भावों और विचारों का चारु-चयन कह सकते हैं।

संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में साहित्य के स्वरूप का निरूपण किया गया है। 'श्राद्ध-विवेक' के रचयिता रुद्रधर[१] के अनुसार—"परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेक क्रियान्वयित्वं साहित्यम्" अर्थात् परस्पर सापेक्षित समान कोटि की वस्तुओं को साहित्य कहते हैं। भाषा-विशेष के नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गये ग्रन्थ समूह को साहित्य का नाम दिया जाता है।—शब्द-शक्ति प्रकाशिका[२] और विक्रमांकदेवचरित[३] नामक ग्रन्थों में भी साहित्य की व्याख्या इसी अर्थ में की गई है।

संस्कृत साहित्य में साहित्य काव्य के पर्यायरूप में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य को काव्यार्थ के अर्थ में प्रयोग करने वाले आचार्यों में कविराज राजशेखर, मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज और मंखक आदि हैं। साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर शब्द और अर्थ उभयगत काव्य के अर्थ में ही किया गया है। यथा—

'शब्दार्थयोर्याथावत्सहभावेनविद्या साहित्यविद्या।'[४]

वक्रोक्ति जीवितकार राजानक कुन्तक ने साहित्य का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रों में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु काव्य में कवि की आन्तरिक भावना के अनुरूप शब्द का ही प्रयोग होता है। अन्य शास्त्रों में केवल विषय का प्रतिपादक मात्र होता है। किन्तु काव्यगत अर्थ में स-हृदय-मर्मज्ञ को आह्लादित करने की अपूर्व शक्ति रहती है। काव्य में शब्द

---

१ श्राद्ध-विवेक रुद्रधर, पृ० १८.

२ "तुल्यवदेक क्रियात्वयिलम् बृद्धि विशेष विषयित्वम् साहित्यम्"।
—शब्द शक्ति प्रकाशिका।

३ विक्रमांक देव चरित, १/११।

४ काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५,

और अर्थ का परस्पर सहित भाव ही अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षण होता है। काव्य में सामंजस्य विधान की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। इसी दृष्टि से काव्य अर्थ में प्रयुक्त साहित्य शब्द अपने सामान्य रूप से कुछ भिन्न होता है। इसीलिए उच्चतम साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों के परस्पर सद्भाव से उद्भूत एक विशेष अनुरंजनकारिणी रागात्मिका शक्ति का होना अपेक्षित समझा जाता है। वक्रोक्ति जीवितकार ने यही बात निम्नलिखित शब्दों में व्यंजित की है—

"साहित्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की परस्पर स्पर्धामय मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो। वास्तव में 'साहित्य' में वाचक की वाचकान्तर के साथ और वाच्य की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष और उत्कर्ष न हो कर, समान रूप में स्थिति होती है [१]।"

कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी—"साहित्य[२]" शीर्षक ग्रन्थ में साहित्य के स्वरूप की सुन्दर व्याख्या की है—"सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यही नहीं, वरन् यह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का मिलन कैसा होता है।" यह परिभाषा संस्कृत ग्रन्थों में प्राप्त साहित्य शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या से विशेष प्रभावित प्रतीत होती है। और बातों के साथ महाकवि ने साहित्य में समत्व और असमत्व के सामंजस्य विधान की स्थापना की है। इस प्रकार साहित्य विरोधात्मक तत्वों में अविरोध स्थापित कर सब को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास करता है।

भारत के समान पाश्चात्य देशों में भी साहित्य के स्वरूपों को स्पष्ट करने की की बहुमुखी चेष्टा की गई है।

"थियरी आफ लिटरेचर" के लेखक-द्वय ने यह कह कर 'लिटरेचर' अर्थात् साहित्य की परिभाषा आरम्भ की है। "एक प्रकार से जितना जो कुछ भी छापे में आ गया वही लिटरेचर[3] है।"

---

१ **वक्रोक्तिजीवित १।१७।**

२ **साहित्य : कवीन्द्र रवीन्द्र, पृ० ८।**

3. 'One way to define 'literature' as everything in print'.
—Austen Warren and Rene Wallek— *Theory of Literature* p. 9.

यदि हम साहित्य को 'लिटरेचर' के रूप में स्पष्ट करना चाहेंगे तो हमें दूसरे लहजे में बोलना पड़ेगा। सबसे पहले उसके सच्चे स्वरूप में लाने के लिये हमें साहित्य को कल्पनात्मक साहित्य की सीमा में लाना पड़ेगा।........ 'लिटरेचर' शब्द को अंग्रेजी में इस प्रकार प्रयोग करने में कुछ कठिनाई है क्योंकि इनके बदले में सम्भावित शब्द "फिक्शन" अथवा 'पोयेट्री' या तो संकुचित अर्थों में रूढ़ होकर रह गये हैं अथवा 'इमेजिनेटिव लिटरेचर' अथवा 'बेलीलेटर्स' की भांति भोंडे और भ्रामक हैं। अंग्रेजी में लिटरेचर के व्युत्पत्तिगत अर्थ लेने से एक और ध्वनित अभाव की ओर वलात् ध्यान चला जाता है और वह है उसकी लिखित अथवा मुद्रित रूप में परिसीमा, क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि किसी सम्यक् बोध कराने वाले साहित्य के पर्यायवाची शब्द मौखिक साहित्य का समावेश भी अपने में करना होगा। इस विचार से जर्मनी का 'वेर्त्कन्स्ट' और रूस का 'स्लोव्सनोस्ट' अपने अंग्रेजी पर्याय से बढ़ कर हैं।[1]

दोनों विद्वान लेखक लिटरेचर के तीन गुणों पर जोर देते हैं—'कथात्मकता', "आविष्कारिता", "काल्पनिकता" जो होमर, दांते, शेक्सपियर, बालजाक, कीट्स आदि के ग्रन्थों को अपनी सीमा में ले लेते हैं, पर सीसरो अथवा मान्टेन, बोसे अथवा इमर्सन ऐसे लेखकों को अपने से बाहर ही रखते हैं। इसलिये 'लिटरेजर' की सीमा बढ़ाते हुए पर 'लिटरेचर से नान-लिटरेचर' को अलग रखते हुए और भी विशेषताओं को 'लिटरेचर' की व्याख्या

1. "The term 'literature' seems best if we limit is to the art of literature, that is to imaginative literature. There are certain difficulties with so applying the term; but, in English, the possible alternative, such as 'Fiction' or 'poetry,' or either already preampted by narrower meanings or, like 'imaginative literature or 'bellslettres' are clumsy and misleading. One of the ebjections to 'literature' is its suggestion (in its etymology from literature) of imitation to written or printed literature for clearly, any coherent conception must include 'oral literature'. In this respect, the Cerman term Wortkunst and the Russian slovesnast have the advantage over their English equivalent."

—*ibid* p. 11.

में जोड़ देते हैं। वे हैं—व्यक्तिगत, अभिव्यक्ति अनुभूति, माध्यम से मनमानी उपलब्धि, क्रियात्मक व्यवहारिकता का अभाव, कथात्मकता, विविधता में ऐक्य, अनासक्त ध्यानक्रम, सीमा-निर्माण, आविष्कार और अनुकरण। इनमें से प्रत्येक लिटरेचर के एक पहलू को स्पष्ट करता है। हमारे तद्विषयक ज्ञान को एक दिशा में दूर तक बढ़ाता है, पर उनमें कोई एक स्वयं अपने में संतोषजनक नहीं है। कम से कम एक परिणाम तो इससे निकलता ही है :—साहित्यिक कला-कृति कोई साधारण वस्तु नहीं है, वरन् बड़ी पेचीदगी से युक्त कई पर्त वाला संगठन है। जिसमें अनेककार्यों एवं सम्बन्धों को एक में गूँथ दिया जाता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं लिट्रेचर सभी कलाओं की भांति इंद्रियों के माध्यम से विचार के प्रकाशित होने की आभा की अनुभूति में भरी हुई दीप्ति ही है।

अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाला शब्द 'लिट्रेचर' मूलतः भाव से संबद्ध नहीं है। 'लिट्रेचर' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'अक्षर' से सम्बन्ध 'आक्षर' हैं, अर्थात् वे विचार जो व्यंजनादि की सहायता से व्यक्त किये जायँ। इस अर्थ में लिट्रेचर शब्द का प्रयोग उन समस्त विचारों के लिये हो सकता है जो मनुष्य की अनुभूति में किसी प्रकार आते हैं, परन्तु पश्चिम का प्राचीन साहित्य भी 'ओडेसी' और 'इलियड' में जिस ओर संकेत करता है वह इस बात का निदर्शन है कि 'लिट्रेचर' कोमल वृत्तियों की व्यंजना है। यह अनुमान किया जाता है कि इन महाकाव्यों के रचयिताओं ने अपने पूर्व में उपस्थित 'देवस्तव गीत, चारण गीत, शोक गीत अथवा अन्य मनोदशाओं को व्यक्त करने वाले गीतों से भाव-ग्रहण में प्रेरणा पाई। इन गीतों की ओर इन महाकाव्यों में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं।

इसीलिये लिट्रेचर 'की व्याख्या करते हुए' इंसाइक्लोपीडिया कहती है कि मानव के सर्वोत्तम विचारों की वर्णों द्वारा सर्वोत्तम व्यंजना ही 'लिट्रेचर' है।[1]

1. "A general term which, in default of precise definition may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its various forms are the result of race peculiarities, or of diverse individual temperament, or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propogate its ideas and sentiments." —*Encyclopedia—Britannica—'Literature'*

इंसाइक्लोपीडिया ने उन समस्त कारणों पर भी विचार किया है जिनसे साहित्य विभिन्न मार्गों पर चल पड़ता है। यूनान की दो जातियाँ अपनी विशेष कला-कृतियों के लिये प्रसिद्ध हैं। स्पार्टन जाति युद्ध-प्रिय थी। अतएव उसके गीत और समस्त कलायें वीरता की व्यंजक हैं। ऐथेनियन सौन्दर्य के उपासक थे। अतः उनकी कृति में भावनाओं की कोमलता है। भले ही अन्त तक स्पार्टन की कठोर शक्ति के सम्मुख ऐथेनियन की कोमलता नतमस्तक हो गई, परन्तु दोनों का साहित्य उनकी जातिगत विशेषताओं का निदर्शक रहा है। अन्ततः एक दिन ऐसा आया जब एथेन्स की कोमलता ने स्पार्टा की कठोरता पर विजय प्राप्त की और इस प्रकार जिस मधुर साहित्य का निर्माण हुआ वही ग्रीक साहित्य के मधुर काव्य की पृष्ठभूमि है।

मैथ्यू आर्नल्ड भी यही भाव व्यक्त करता है :—"संसार में जो कुछ सबसे अच्छा कहा गया है और सोचा गया है वही साहित्य[1] है।" कभी-कभी साहित्य का स्वरूप वैयक्तिक मानस की प्रवृति की विभिन्नता के कारण साहित्य की सम-कालीन सामान्य धारा से नितान्त विभिन्न रूप में उपस्थित होता है। 'मिल्टन' का व्यक्तित्व और उसका साहित्य दोनों ही इस प्रगति के उत्तम उदाहरण हैं। फ्रान्स के साहित्य और उसकी विचारधारा का प्रभुत्व न केवल इंगलैण्ड, अपितु पूरे यूरोप पर बहुत समय तक रहा। उसका कारण वाल्टेयर और रूस के क्रान्तिकारी विचारों से उठे हुए फ्रान्स का राजनैतिक महत्व था। 'नैपोलियन की विजय ने इस प्रभाव को कुछ समय के लिये स्थायी रूप दे दिया।

'इंसाइक्लोपीडिया' केवल कोष-ग्रन्थ है, अतएव उसकी व्यवस्था विभिन्न विद्वानों की व्याख्याओं का संग्रह ही है। हम देखते हैं कि ये सब व्याख्यायें पश्चिम के दार्शनिकों ने पहले ही कर दी थीं। प्लेटो जीवन के तत्वों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान के संग्रह को साहित्य मानता है। वह कहता है कि मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। उसकी चिन्तना के स्थायित्व के लिये साहित्य की आवश्यकता है। अतएव दार्शनिक अथवा आलोचनात्मक मार्ग पर चलने वाली उसकी चिन्तना जिस ज्ञान का संग्रह करती है, उसी का वाहक साहित्य

1. "Literature is the best that has been thought and said in the world."

—MATHEW ARNOLD—'*Essays in Criticism.*'

बन जाता है। साहित्य के इस रूप में सौन्दर्य विचारक की रचनात्मक शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है। उसकी रचनात्मक तथा विचारात्मक शक्तियों के संयोग से जिस कृति का जन्म होता है, वह कला कृति कहलाती है। प्लेटो ने सबसे अधिक बल साहित्य के अन्तरंग विचारांश पर दिया है। उसके बहिरंग स्वरूप शैली को वह विचार से सदैव गौण मानता रहा।[१]

'हेनरी हडसन' ने अपने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ लिट्रेचर' में साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि 'साहित्य उन सब बातों का प्राणवता-पूर्ण संग्रह है जिन्हें मनुष्यों ने जीवन की अवधि में देखा है, अनुभव किया है, अथवा जिन्हें विचार करने के माध्यम से प्राप्त किया है। इस प्रकार के कार्य में उन्होंने संग्रहीत बातों के उन्हीं पहलुओं के विषय में अपनी प्रज्ञा एवं संवेदना का प्रयोग किया है जो हमारे इसी जीवन के शाश्वत प्रयोजन अथवा आकर्षण हैं। इस प्रकार मूल आधार के रूप में साहित्य भाषा के माध्यम से जीवन (की पूर्णता) की अभिव्यक्ति[२] है।'

'फाउन्डेशन्स आफ इंगलिश प्रोज' के लेखक ए० सी० वार्ड का मत भी इसी से मिलता-जुलता है। वह 'लिट्रेचर' को पुस्तकों से बढ़ कर बतलता है। उसके मतानुसार पुस्तकें तो 'लिट्रेचर' का ऊपरी खोल हैं और यदि पाठक के द्वारा उनको ठीक से न लिया गया तो वे 'लिट्रेचर' के लिये बंदी-गृह मात्र सिद्ध होती हैं। "साहित्य से वह उस संग्रह की ओर संकेत करता है जिसमें मनुष्यों एवं स्त्रियों के द्वारा बीती हुई शताब्दियों में जो कुछ भी विचारा गया है, अनुभव किया गया है और कार्यान्वित किया गया है वह सब एकत्रित है। उनकी रची हुई (रचनाओं) पुस्तकों के माध्यम से हम

---

१ डा० प्रेमनारायण शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य में विविधवाद' पृ० ६५-६६.

2 "Literature is the vitel record of what men have seen in life, what they have experienced of it, what they have thought and experienced of it, what they have thought and felt about those aspects of it which have the most immediate and enduring interest for all of us. It is thus fundamentally an expression of life through the medium of language."

—William Henry Hudson : *An Introduction to the study of Literature*—p. 11.

स्वयं उन विचारों और अनुभवों और कृत्यों में उनके सह-भोक्ता होने का अनुभव करते हैं।[1]

'लिट्रेचर' और लिटेरेरी क्रिटिसिज्म में लिट्रेरेचर की व्याख्या करते हुए एम० जी० भाटे लिट्रेचर को मानव के अन्तर के संगीत के रूप में लेते हैं। वे लिखते है—'लिट्रेरेचर' वह संगीत है जो भाषा के परदों के माध्यम से जीवन के साथ संगीत बैठाते हुए मानव के प्रयास के प्रतिफल स्वरूप स्वतः प्रभावित हो उठता है।

हिन्दी के विद्वानों ने भी साहित्य की परिभाषा बाँधने का प्रयत्न किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आरंभ में साहित्य को अत्यधिक व्यापकत्व प्रदान किया है। 'ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।' इसमें वैज्ञानिक साहित्य के साथ-साथ रेलवे टाइम-टेबुल का साहित्य सम्मिलित है। पर 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक निबंध का उद्देश्य भावात्मक की प्रतिष्ठा करना है। ज्ञान का साहित्य उसके अनुवर्ती रूप में स्वीकृत किया गया है।

बाबू श्यामसुन्दरदास भी 'साहित्यालोचन' में साहित्य के छिपे हुये रूप को ही लेते हैं। इस प्रकार उनकी परिभाषा की परिधि के बाहर मौखिक साहित्य (दन्त-कथाएँ, लोक कथाएँ और धरती के गीत अर्थात् ग्राम-गीत आदि) बड़े अंश में यों ही छूट जाता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के सम्मिलित परिब्राजकीय प्रयत्न ने हिन्दी में साहित्य शब्द की परिभाषा की परिधि का विस्तार कर दिया है।

मुंशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में साहित्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह जीवन की आलोचना है। इस पर केवल मैथ्यू[2] आर्नल्ड के विचार की छाया ही नहीं है, वरन् स्वयं उनके जीवन के अनुभव की छाप है। सच्चे अर्थों में प्रेमचन्द जी के उपन्यास उनके समय की आलोचना के रोचक पर साथ ही साथ व्यंग्य का तीखापन लिये हुए प्रशस्तरूप हैं।

यदि किसी की भी रचनाओं में काव्य-साहित्य का सच्चा पर्याय है तो वह 'प्रसाद' जी के रचना-समुच्चय में ही है। उनका साहित्य उनके जीवन की अनुभूतियों में पगा है। वे 'आत्मा की अनुभूतियों के नित्य नया रहस्य खोलने

---

1 A. C. WARD : *Foundation of English Prose*', p. 1 (1931).

2 "Literature is the criticism of life."

—Mathew Arnold—'Essays in Criticism.

में प्रयत्नशील' विचार एवं भावों के व्यापार-क्रम को साहित्य अथवा काव्य का नाम देते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रत्येक देश के साहित्य को वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिविम्ब मानते हैं और जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होना स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदि से अंत तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाया है। उनकी स्थापना है कि जनता की चित्त-वृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः साहित्य के निर्माण में जीवन के इन प्रभावों को भी विचार में लाना पड़ता है।

बाबू गुलाबराय ने साहित्य शब्द का विग्रह संस्कृति की व्युत्पत्ति के आधार पर 'हितेनसह साहितम् तस्य भावः साहित्यम्' के रूप में किया है। वे साहित्य की आधारभूत भावना को जन-मंगल की भावना के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। किसी भी परिभाषा में पूर्णत्व की प्रतिष्ठा करना असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य ही है। इसलिये उसके जिस पक्ष या पक्षों पर लोगों की दृष्टि पड़ी उसने उसके उसी स्वरूप की व्याख्या कर दी। 'यदि हम समस्त मतों को दृष्टिकोण में रखकर साहित्य की रूप-रेखाएँ बनाएँ तो हमें कहना पड़ेगा कि साहित्य जीवन और जगत के गत्यात्मक (तथा अन्तस्थित) सौन्दर्य की (भी) वह भावमयी झाँकी है जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है। उपचार के सहारे कभी-कभी उन वस्तुओं को भी जिनमें इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, साहित्य कहते हैं।'[1] वास्तव में साहित्य की ज्ञान के सदृश्य एक अखण्ड सत्ता है जिसको अभिव्यक्ति खंडों में ही हो पाती है। इसलिये वह पूर्ण नहीं होती। इन्हीं खण्डों को विविध अभिधान दे दिये गये हैं, जो कभी काव्य के नाम से, कभी अलंकार शास्त्र के अभिधान से और कभी और ग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं।

साहित्य के अंग

वैसे तो साहित्य अपने व्यापकत्व में ज्ञान एवं अनुभूति की समष्टि को समेट लेता है पर मुख्य रूप से हम इसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक

---

१ डा० गोविन्द त्रिगुणायत 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' पृ० ६।

को हम मनु के भावात्मक व्यापार के साथ जोड़ते हुए कलात्मक, भावात्मक अथवा काव्यात्मक साहित्य की संज्ञा देते हैं और दूसरे को मनुष्य के सूचना-संग्रह व्यापार के साथ एकाकार करते हुए ज्ञान के साहित्य अथवा प्रयोजनात्मक साहित्य का अभिधान प्रदान करते हैं। इन दोनों में वही अन्तर होता है जो एक ही घर की दो स्वरूपों की आकृतियों में होता है जिनमें एक तो घर का 'चित्र' होता है और दूसरा मकान बनाने वाले का नक्शा (प्लान)। प्रथम का सौन्दर्यात्मक पक्ष है। दूसरा तत्सम्बन्धी सूचना संग्रह का अधारमात्र होता है। इन दोनों के बीच में बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है जिसे निश्चित रूप से सहसा एक वर्ग विशेष में नहीं रखा जा सकता।

अंग्रेजी के लेखक 'डि क्विन्सी' द्वारा इन दोनों—ज्ञान के साहित्य और शक्ति के साहित्य के बीच में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पहले प्रकार के साहित्य का काम होता है सिखाना और दूसरे प्रकार के साहित्य का काम होता है प्रेरित करना, द्रवित करना। 'जितना भावात्मक साहित्य है वह सब शक्ति का आदान-प्रदान करता है और जितना साहित्य नहीं है वह सब ज्ञान का आदान-प्रदान करता[1] है।'

उस महान् सामाजिक कार्य-साधन स्वरूप विधा के जिसे हम समष्टि में साहित्य की संज्ञा देते हैं, दो विशिष्ट करणीय देखे जा सकते हैं। वे दोनों मिल कर एकाकार हो सकते हैं और बहुधा मिल कर ऐसे हो जाते हैं कि एक को दूसरे से अलग कर पहचानना कठिन हो जाता है, परन्तु थोड़ा प्रयत्न करने से वे अलग-अलग 'मार्गों में प्रवाहित होने वाली विधाओं के रूप में लिये जा सकते हैं और परस्पर विरोधी तत्वों को अपने से विलग करने की क्षमता भी प्राप्त कर लेते हैं। पहली विधा है, ज्ञान का साहित्य, और दूसरी है शक्ति का साहित्य। पहले का कार्य है सिखाना और दूसरे का करणीय है प्रेरित करना और द्रवित करना—पहली है पतवार और दूसरी है डांड़ और पाल। प्रथम विवेकशील

---

1 "The main distinction is that laid down by De Qincy between the 'literature of knowledge and the 'Literature of power' the function of the first being to teach, the function of the second to move.

"All that is literature seeks to communicate power; all that is not literature, to communicate knowledge."

--R. A. SCOTT JAMES : *'The Making of literature'* (*1956*)–p. 22.

मस्तिष्क से विचार-दान का सम्बन्ध स्थापित करती है और ऐसा सम्भव हो सकता है कि दूसरी अपनी अपनी परमावस्था में उच्चकोटि के मस्तिष्क और तर्कशीलता को विचार ग्राहकत्व योग्यता प्रदान करे पर यह कार्य निरपवाद रूप से सदैव आह्लाद एवं संवेदना की भूमिका में ही सम्पन्न होता है। विषय को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिये यहाँ हम दो शब्दों का प्रयोग करना चाहेंगे—एक साहित्येतर और दूसरा साहित्य। साहित्येतर लिट्रेचर जो उपदेश का प्रयोजन लेकर चलता है और साहित्य जिसका अपनी ही तुष्टि के सिवाय कोई प्रयोजन नहीं होता और जो सौन्दर्यप्रियता के कारणों से जाँचा जा सकता है। पहली के अन्तर्गत वे सभी ग्रन्थ आ जाते हैं जिनका उद्देश्य सूचित करना, सिद्ध करना अथवा अपने विचार की ओर लाना होता है। इस वर्ग में दर्शन, धर्म, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, इतिहास, जीवन-चरित्र, यात्रा, राजनीति या नीति-शास्त्र हैं जिनका अस्तित्व तर्क उपस्थित करने के लिये, प्रमाण का उल्लेख करने के लिये, तथ्य को समेटने के लिये अथवा हमारा मत-परिवर्तन करने का होता है। जो आलोचना उन पर लागू होती है, वह 'लिट्रेरी आलोचना' नहीं होती, वरन् वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक आलोचना होती है और उसका सम्बन्ध वक्तव्य की भ्रमशून्यता से होता है तथा तर्क के प्रसंगानुकूल और युक्ति-संगत होने से होता है।

यह दूसरे वर्ग का लिट्रेचर होता है जिसे हम विशुद्ध साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। वही साहित्यिक आलोचना का लक्ष्य भी होता है। वह ललित कलाओं के क्षेत्र में होता है। कविता, नाटक और कथात्मक साहित्य कलात्मक रूप में ग्रहण किये जाने पर उपदेशात्मक अथवा प्रयोजनात्मक साहित्य की भाँति ठीक या गलत नहीं सिद्ध किये जा सकते। तर्क उनको उनके स्थान से टस से मस नहीं कर सकता। वे अपने नियमों द्वारा शासित होते हैं जो अपनी चरमावस्था में तर्क पूर्ण विवेक द्वारा नहीं, वरन् स्वाभाविक बोध, कल्पना और सौन्दर्य-प्रियता के भावों द्वारा हृदयंगम किये जा सकते हैं। दोनों ही प्रकार के साहित्यों का सत्य से सम्बन्ध हो सकता है पर वे विभिन्न मार्गों से उस तक पहुँचते हैं—पहला तो निर्णय-व्यापार द्वारा और दूसरा स्वाभाविक बोध के माध्यम से।

शंकरदेव अवतरे ने 'साहित्य (शास्त्रीय समाधान)' नामक पुस्तक में साहित्य एवं साहित्येतर का विस्तार से विवेचन किया है। उनका कथन है कि साहित्य के अनुशीलन में हमारी प्रतिक्रिया अनुमोदनात्मक होती है। इसके भी दो रूप हैं। कभी तो हम इतने भाव-विभोर हो जाते हैं कि शब्दों की गति पूर्णतः

अवरुद्ध जान पड़ती है और कभी हम सहसा वाह ! वाह !! कर उठते हैं । दूसरे अनुमोदन में हृदय के साथ शब्दों का भी योग रहता है । इसके विपरीत वाङ्मय की अन्य विधाओं के संदर्भों को पढ़ते-सुनते हुए हमारी प्रतिक्रिया समर्थनात्मक होती है । और उसका एक ही रूप है—शाब्दिक । यहाँ शब्द बुद्धि के सहयोगी बन कर आते हैं, हृदय के नहीं । इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि के ग्रन्थों के किसी सिद्धान्त-वाक्य को समझ कर हम यही कहेंगे—"हाँ, ठीक है; यह ज्ञान की बात है।" अनुमोदन में संवेदन-संश्लिष्ट अनुभूति-तत्व की सबलता रहती है—समर्थन में प्रमापर्यवशिष्ट-ज्ञान-तत्व की । अनुभूति मन की दशा-विशेष उस हृदय से सम्बद्ध होती है जो उद्‌बुद्ध होकर ब्रह्म-स्वाद-सहोदर रस कहलाता है । अतः अनुमोदन में जिसमें कि हृदय का योग स्वाभाविक है, मोद अथवा आनन्द की स्वीकृति परस्तात आ पड़ती है । ज्ञान, बुद्धि की उस प्रक्रिया-विशेष से सम्बद्ध है जिसमें विचारों की संगति स्पष्ट होने पर बौद्धिक प्रसाद उत्पन्न होता है। अतः समर्थन में, जिसमें कि बुद्धि का योग स्वाभाविक है, प्रसन्नता की उपलब्धि होती है । अनुमोदन में हार्दिक-प्रेरणा स्वतः आती है—समर्थन में विचारों की संगति देखनी पड़ती है । अनुमोदन हृदय से होता है—समर्थन बुद्धि से । अनुमोदन अभेद-वृत्ति अथवा अपर-वृत्ति से होता है—समर्थन भेद-वृत्ति से अथवा पर-वृत्ति से । अनुभूति से हम जिस वस्तु को पकड़ते हैं वह हमारी अपनी-सी बन जाती है और उसे हम अपने पास न रख कर अपने व्यक्तित्व में ही पचा लेते हैं, पर बुद्धि से हम जिस वस्तु को विचारते हैं वह हमारे साधन के रूप में जान पड़ती है और उसे हम अपने से कुछ अलग रख कर अपने व्यक्तित्व को सजाते हैं। पहली वस्तु स्वत्व के भोग के लिए होती है—दूसरी स्वत्वोपयोगी प्रयोग के लिये । पहली हमारी स्वान्तः परिनिवृत्ति के काम आता है—दूसरी दूसरों पर प्रभाव जमाव जमाने के काम आती है । साहित्य में हम स्वत्व देखते हैं क्योंकि वह अनुभूतियों का क्षेत्र है—पर साहित्येतर वाक्य में हम स्वप्रमाणत्व देखते हैं क्योंकि वह प्रभा का क्षेत्र[1] है'।

इसका मूल कारण यह है कि अनुभूति सजातीय होती है—विचार विजातीय । संसार के सभी मनुष्यों में विषय और परिस्थिति-भेद रहते हुए भी सुख-दुखात्मक अनुभूति की जाति एक ही है पर प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रियार्थ-सन्निकर्ष 'यानी इन्द्रिय और विषय का योग एक होने पर भी विचारों में एक

---

१ शंकरदेव अवतरे—'साहित्य (शास्त्रीय समाधान)'

जातीयता नहीं होती । इसलिये अनुभूतियों के द्वार पर हम परस्पर एकता का अनुभव करते हैं—विचारों के क्षेत्र में अनेकता का। अनुभूतियाँ हमें स्वयं चालित करती हैं । विचार हमें प्रत्युत ढोने पड़ते हैं फलतः अनुभूतियों को पाकर हमारी चाल स्वाभाविक रहती है । ज्ञान का गट्ठर लाद कर हमारी गति अस्वाभाविक हो जाती है । अनुभूतियां अनेक संवेदना विन्दुओं से एक ही सामान्य भाव-भूमि की ओर बढ़ती हैं—विचार एक ज्ञान-विन्दु से अनेक विवेचना क्षेत्रों में फैल जाते हैं । यही कारण है कि अनुभूति-प्रधान साहित्य-मनुष्यों को मिलाता है—समझौता कराता है—विश्व-बन्धुत्व की भावना भरता है—एकता की ओर ले जाता है और मानवता की सामान्य भाव-भूमि प्रस्तुत करता है, जबकि विचार-प्रधान साहित्येतर वाङ्मय मनुष्यों को परस्पर टकराता है—सिद्धान्तों की रस्साकशी कराता है—भेद-वृत्ति सिखाता है—अनेक दिशाएँ उपस्थित करता है और मानवता की अनेक ऊँची-नीची श्रेणियाँ बनाता जाता है । अन्य बौद्धिक शाखाओं की तो बात ही क्या अध्यात्म शास्त्र भी जो हमें एकता का उपदेश देता है, अपनी अनेक दिशाओं में भिन्न-विभिन्न है और इसीलिये वह साहित्य की भाँति एकता की अनुभूति नहीं कराता वलिक एकता की सिद्धि कराने के लिये बौद्धिक प्रमाणों की वनस्थली में छोड़ देता है जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रभा के अनुसार प्रमाण एकत्रित करता है 'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्नाः' का यही मतलब है । हां, सब से वड़ी बात जो आध्यात्म के समर्थन में कही जा सकती है वह यह है कि समस्त विचार-प्रधान वाङ्मय में यह सर्वोत्कृष्ट विधा है और इसमें भेद जैसी किसी बात का मतलब बौद्धिक या आत्मिक विकास से है जो किसी भी प्रकार मनुष्य जाति के लिये हितकारी ही है । विज्ञान की भाँति इसमें कोई ध्वन्सात्मक विकल्प नहीं रह सकता ।

साहित्य की शब्दार्थमयी मूर्ति का प्रभाव-परिवेश कुछ ऐसा उदात्त और अभिराम होता है कि उसकी परिधि में कटु-वृत्तियाँ भी मधुर और कटु सत्य भी हृदय-स्पृहणीय लगते हैं[1] ।

---

1 "...So art can make sad things, beautiful, and sordid things wonderful, as in Hardy's Novels···To exist as poetry, emotion must be translated in to music and visual images, clear they may be terrible or saddeing but still beauti-ful

कवि और कलाकार शब्दार्थ का ऐसा कलेवर उपस्थित करता है कि श्रोता अथवा पाठक को उसकी संवेदना-मात्र में ही हठात् आकर्षण प्रतीत होता है और उसकी चित्तवृत्ति पिघल कर आगे आने वाली प्रत्यक्ष क्रिया के बोध या उपदेश की मुहर के अमिट अक्षर धारण करने के लिये सहज ही तैयार हो जाती है। साहित्य भी पहले शब्दार्थ की मधुर संवेदना से भावों को उन्मुख कर लेता है और फिर उनके स्वच्छ सात्विक चित्र-पट पर अपनी कभी धुंधली न पड़ने वाली-उपदेश की आह्लाद की रंगीन कूंची फेर देता है।

यदि कोई यह कहे कि इतिहास-भूगोल आदि साहित्येतर वाङ्मय के शब्दार्थ की संवेदना सामान्य क्यों होती है और साहित्य में यही मधुर क्यों होती है तो इसका उत्तर मन के स्वभाव के अध्ययन में मिल जायगा। मन सदैव किसी वस्तु को गुणों के माध्यम से ही पकड़ता है। गुणों में भी द्रावकता-विद्रावकता और अनुभवात्मकता (सामान्य) के धर्म रहते हैं। द्रावक धर्मी गुणों से मन साकर्षण चिपक जाता है और उसके साथ ही साथ प्रत्यक्ष की ओर यात्रा करता है। विद्रावक या सामान्य धर्मावलम्बी गुणों को पकड़ कर वह ज्ञान-यात्रा की ओर अलग से लम्बा कर देता है और जिज्ञासा-मूलक आवश्यकता हुई तो प्रत्यक्ष के रूप में ही उनसे मिलता है। फलतः गुणों की प्रभाव यात्रा का भेद होने के कारण अथवा मन की वेदनीयता-गत पक्षपात-पूर्ण वृत्ति के कारण साहित्य के शब्दार्थ की संवेदना अन्य वाङ्मय के शब्दार्थ की संवेदना से भिन्न हो जाती है। यही साहित्य के अलंकार-पक्ष में शब्दार्थ के भीतर आस्वादनीय प्रभाव की स्थिति है जिसे मन अपने ऊपर साभिराम स्वीकार कर लेता है और साहित्य के किसी भी कल्याणकारी प्रयोजन में अन्तर्हित होने के लिये साभिनिवेश उतर जाता है। इसीलिये साहित्य के अलंकार-पक्ष में भी साहित्य के प्रयोजन और स्वभाव का वैसा ही नित्य सम्बन्ध है जैसे कि अलंकार्य-पक्ष में।

कवि ने जो कुछ भी अपने जीवन में प्रत्यक्ष किया है और जो कुछ भी उसे स्मरण है उस सब को शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति देने के पहले वह अपने मन से अर्जित करता है। इसे हम अर्जित संवेदना या भावना भी कह सकते हैं। किन्तु

---

for it has been said that the greatest mystery of poetry is its power to invest the saddest things with beauty.''

—E. A. Greening Lamborn—'*The Rudiments of Criticism*' —p. *12*

जब यही अर्जित संवेदना या भावना शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति में सक्रीय हो उठती है तब कल्पना कहलाई है। कवि की अर्जित संवेदन अर्थात् भावना जिसमें कटु भी मधुर हो जाता है और सर्वांग-सौन्दर्य, सर्वांग-पूर्णत्व की कल्पना जो भावना का ही क्रियात्मक रूप है, साहित्य की शब्दार्थमयी सृष्टि में कारण होती है। सामाजिक अथवा पाठक भी जब इस सृष्टि से परिचय करेगा तो उसकी संवेदना भी तदनुरूप ही होगी। अन्तर केवल इतना रहेगा कि कवि की संवेदना जिसके बल पर वह वस्तुओं को मन से अर्जित करता है और पीछे सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है उसकी कारयित्री प्रतिभा का मूल है सामाजिक की संवेदना जिसके द्वारा वह समुपात्त भावों को पकड़ कर रमण करता है तथा आवश्यकता वश कतिपय वस्तुओं की कल्पना भी कर लेता है, उसकी भावयित्री प्रतिभा की वृत्ति है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि या कलाकार की कारयित्री प्रतिभा के साथ गौण रूप से भावयत्री प्रतिभा भी रहती है क्योंकि वह अपने जीवन के सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्मृत पदार्थों की संवेदना-परस्पर भावना करके ही तो कल्पना पर चढ़ता है दूसरी ओर सामाजिक की भावयत्री प्रतिभा के साथ उसकी कारयित्री प्रतिभा भी गौण रूप से माननी ही पड़ती है क्योंकि कवि कल्पना से जो कुछ उपस्थित है, उसकी भावना तो वह प्रधानतया करता ही है साथ ही आवश्यकतानुसार भावों के बीच की छूटों को भी वह अपनी कल्पना से भरता चलता है। कवि या कलाकार में कारयित्री प्रतिभा प्रधान होती है और सामाजिक में भावयित्री।

साहित्य को छोड़ कर अन्य समस्त वांड्मय मन के इस पक्षपात से सर्वथा मुक्त है। वहाँ संवेदना का मतलब वस्तुबोध के लिये-वस्तु-बोध से पहले होने वाली उत्तेजना-मात्र से है। आगे शुद्ध-बुद्धि के क्षेत्र में विचारों की संगति का ही आग्रह वहाँ रहता है। भावना में संक्रमित होने वाली और कल्पना में साकार होने वाली संवेदना को साहित्येतर वाङ्मय में संक्रामक रोग समझा जाता है।[1] और यह उस वाङ्मय के स्वरूप के मौलिक आधार के अनुरूप ही है।

---

1 "Homer and Hesiod, then, are convicted of immoral teachings and the tragedians and comedians are condemned because they imitate unworthy objects. In the ideal statethere is no place for them. Let them be crowned with fillets—let perfumed oil be poured on their heads—

पर साहित्य में संवेदना का एकछत्र राज्य है। इस पर आरूढ़ हुए विना साहित्य-महापुरुष तिल भर भी आगे नहीं बढ़ सकते। ज्ञानात्मक प्रक्रिया का श्रीगणेश इसी से होता है। भावात्मक प्रक्रिया में यही अपने पुनरुपात्त रूप में आती हैं। भावात्मक प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर भी इसका संचरण समाप्त नहीं होता। इसका व्यवहारिक प्रमाण यह है कि भावों से छुटकारा पाकर भी हम उनकी चर्वणा (ruminating) का बहुत-कुछ अनुभव जिसके बल पर प्रस्तुत कर देते हैं वह अनुभूति की अन्तरात्मा संवेदना के अतिरिक्त और क्या है ? यही नहीं मन की इच्छात्मक प्रक्रिया में भी इसका अव्याहृत प्रवेश है। भाव के एक बार विलीन हो जाने पर यदि इच्छात्मक प्रक्रिया से हम उसे लौटाना चाहें तो नहीं लौटा सकते पर संवेदना लौटाई जा सकती है जो फिर से भावों की सृष्टि भी कर सकती है।

साहित्य के शब्दों की वेदना ध्वन्यात्मक ही नहीं, वर्णात्मक भी होती है। और इसीलिये साहित्य के केवल पद्यात्मक भागों में वही शब्दों की संवेदना नहीं होगी, गद्यात्मक रूपों में भी वह अनिवार्यतः होती ही है। क्योंकि साहित्य मात्र की सृष्टि में पूर्वोवत अर्जित संवेदना ही निदान-कारण है जो शब्दों एवं अक्षरों का विन्यास ही अपने अस्पष्ट किन्तु निश्चित प्रवाह के अनुकूल ही करती है, साहित्य की एकान्त बौद्धिकतापूर्ण समस्या-प्रधान कृतियाँ भी जिस कारण साहित्यिक हैं और उनमें जीवन की कोई भी समस्या चाहे वह सामयिक हो चाहे चिरंतन, व्यष्टिगत हो या समष्टिगत, तुल्यवल-विरोधी तार्किक समर्थनों के द्वारा ऐसे निगमना विरह के साथ उपस्थित की जाती है और लचीले और सजीले प्रमाणों के भंवरजाल में हमारी बुद्धि थकित और चकित रह कर भी निर्विण्ण होना नहीं जानती, बल्कि स्तम्भित होकर हृदय का रमण कराती है, उसका कारण यह अर्जित संवेदना ही है, जो कल्पना के हाथों संशय, विपर्यय, तर्क और यथार्थ की चोटी पकड़े रहती है। अन्यथा यह सारा धंधा न्याय-शास्त्र बनकर रह जाय।

---

but they must be sent on to another city Plato has taken up his stand on the side of the most ascetic of the Puritans. The more lovely and fascinating the arts may seem the more deadly they may be in luring us to false views of life or the emasculating influence of emotion.''

—R. A. SCOTT JAMES' : *The Making of Literature' p. 40.*

अब हम साहित्य को अन्य वाङ्मयों से व्यवच्छिन्न करने वाली अपने पूर्वजों की मान्यता की संगति को समझ सकते हैं कि प्रभु-संमित वेदादि ग्रन्थ-शब्द प्रधान, सुहृत्संमित इतिहासादि ग्रन्थ अर्थ-प्रधान और कान्ता-संमित साहित्य ग्रन्थ शब्दार्थ-प्रधान होते हैं। वस्तुतः यह मान्यता व्यावहारिक ही नहीं, वैज्ञानिक भी है।

कवि या कलाकार की अर्जित संवेदना के कारण पाठक के लिये भी साहित्य के शब्द और अर्थ दोनों की संवेदनाएँ स्वभावतः रमणीय तो रहती ही हैं, एक-दूसरी के अनुकूल होने से परस्पर सापेक्ष भी होती हैं। ये रमणीय होती हैं, अतः साहित्य कान्ता-संमित है और ये सापेक्ष होती है, अतः साहित्य शब्दार्थोभय-प्रधान है। इससे यह भी समझ में आ जाता है कि साहित्य का 'सह तयोः (शब्दार्थयोः) भावः' यह निर्वचन और 'शब्दार्थौकाव्यम्' यह लक्षण क्यों किया जाता है।

यद्यपि अन्य वाङ्मय के लिए भी यह कथन समान उतरता है कि "शब्दार्थयोर्नित्य-संबंध और इसीलिये वहाँ भी शब्दों के बिना अर्थ की और अर्थ-चित्र (जो संकेत गृह से ही सम्बद्ध होने के कारण भले ही रमणीय न हों) के बिना शब्द की उपस्थिति असंभव है। किन्तु फिर भी साहित्य और साहित्येतर वाङ्मय में शब्द और अर्थ दोनों को महत्व देने वाली दो भिन्न दृष्टियाँ हैं और उनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों की संवेदना सापेक्ष मधुर है फलतः यहाँ शब्द और अर्थ का महत्व चमत्कारी प्रभाव के कारण है साहित्येतर वाङ्मय में अर्जित संवेदना के बल पर शब्द विधान नहीं किया जाता। यह अन्य वाङ्मयों का अनुगुण ही है। कुछ अवगुण नहीं। इसके अतिरिक्त साहित्य-प्रकारी कथन वहाँ अप्रमाणिक तो है ही उसके स्वरूप का घातक भी है। वहाँ तथ्यात्मक सफाई जितनी होगी उतना ही उसका स्वरूप प्रभावशाली होगा और उसका फल होगा—बौद्धिक प्रसाद। अतः साहित्य के शब्दार्थ वाले चमत्कारी प्रभाव से यह प्रभाव बहुत विसदृश है जो अन्य वाङ्मय में पाया जाता है। दोनों प्रकार के प्रभावों के फल भी इसीलिये भिन्न हैं। साहित्य के प्रभाव का सम्बन्ध चेतश्चमत्कृतिविधायी आस्वाद से है—अन्य वाङ्मय के प्रभाव का सम्बन्ध बुद्धि-चमत्कारी-बोध से है। साहित्य का फल मानसिक आह्लाद (मनोरंजन) से लेकर हृदय-मुक्ति तक है और अन्य वाङ्मय का फल बौद्धिक प्रसाद से लेकर आध्यात्मिक मुक्ति तक है। साहित्य में निबन्धों से लेकर महाकाव्यों तक इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं।

अन्य वाङ्मय की शाखाएँ भी इसी श्रेणी-विभाग के आधार पर खड़ी की गई हैं। गणित के विद्यार्थी को एक सवाल निकाल लेने पर 'जो प्रसन्नता होती है वह शास्त्रीय दृष्टि से बौद्धिक है। खोज और आविष्कार कर लेने वाले किसी वैज्ञानिक की प्रसन्नता कुछ और पुट लिए होती है। दार्शनिक की प्रसन्नता और भी गम्भीर होती है। योगी इस दौड़ में सब से आगे निकल जाता है जिसकी बुद्धि को गीता में पर्यवस्थित कहा गया गया है। मूल बात यह है कि ज्ञान का अधिकरण आत्मा होने के कारण बौद्धिक प्रसाद भी जितना-जितना आध्यात्मिक होता जायगा उतना-उतना अपनी परिकाष्ठा स्वरूप कैवल्य की ओर बढ़ता चला जायगा।

इसे सभी समझदार समझते हैं कि जितना हम चाहते हैं उतना ही संसार नहीं है, वल्कि संसार का बहुत बड़ा भाग वह है जिसे हम नहीं जानते। वास्तविकता तो यह है कि जितना-जितना हम जानते चलते हैं, उतना-उतना अपनी नाजानकारियों की जानकारी हमें होती चलती है। "ज्ञान का जितना लम्बा व्यास खींचा जाता है, अज्ञान का उसके चारों ओर उतना ही बड़ा वृत्त बनता जाता है। इतनी लम्बी मानव परम्परा के बाद भी जहाँ तक हम पहुँच चुके हैं वह हमारी बुद्धि का कुछ ऐसा ही समष्टि रूप है जो इन अनन्त ब्रह्माण्डों के भीतर, महासागरों की लहरों में किसी तिनके की तरह पछाड़ खा रहा है।

गेय पदार्थ की जानकारी ही हमारे कुछ वाङ्मयों का प्रयोजन होती है। तदनुसार शब्दों की सामान्य-संवेदना, जिज्ञासा-मात्रैकप्राण बनकर अर्थ-साक्षात्कार में ही अपने को पूर्णतः विलीन कर देती है। यहाँ केवल अर्थ से हमारा प्रयोजन रहता है, शब्द कुछ भी रहे हों, इसीलिए ऐसा वाङ्मय अर्थ-प्रधान कहलाता है। इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि इसी के भीतर हैं। शब्दों में आस्था न रहने के कारण इसे प्रभु-संमित नहीं कह सकते। अर्जित-संवेदना के बिना रमणीयता-विरह होने के कारण इसे कान्ता संमित भी नहीं कह सकते। केवल अर्थ पर दृष्टि और अभिप्राय रहने से इसे सुहृत्संमित ही कह सकते हैं।

संसार में ऐसा एक भी मनुष्य मिलना कठिन है जो किसी न किसी के शब्दों को थोड़ा-बहुत प्रमाण न मानता हो। माँ, बाप, गुरु आदि के रूप में अतीत के कुछ-न-कुछ शब्दों को प्रमाण न मानना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। छोटा बच्चा अनायास ही अपने वातावरण से भाषा और संकेत-ग्रह सीख लेता है। बड़ा होने पर भी, यद्यपि उसकी आस्था धीरे-धीरे सिमटनी प्रारंभ

हो जाती है, पर फिर भी वह सर्वथा लुप्त नहीं हो पाती, और किसी-किसी की आस्था तो और भी सघन हो जाती है। समाज ने इस आस्था को बहुत ही आवश्यक समझा है और इसे बनाये रखने के लिये उसमें अनेक किलेबाजी हैं। शब्दों के रूप में इस आस्था का सबसे बड़ा कोष सुरक्षित है जिसे वह लाख ले-देकर भी बदलने को तैयार नहीं है। प्रत्येक देश की प्रत्येक जाति में शब्दों के ये अपरिवर्तनीय सिक्के मिलते हैं। हिन्दुओं के वेदादि ग्रन्थ, हिन्दुओं के वेदादि ग्रन्थ, हिन्दुओं के भीतर भी अनेक धार्मिकों के ग्रन्थ जैसे-बौद्धों के त्रिपिटक, सिक्खों के गुरु ग्रन्थ साहब आदि-आदि इसी के उदाहरण हैं। ईसाइयों का बाइबिल, मुसलमानों का कुरान, पारसियों का अवेस्ता आदि ग्रन्थ प्रभु-संमित वाङ्मय ही हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों के शब्द ही प्रमाण होते हैं। कारण ये ग्रन्थ अपने मूल में अपौरुषेय कहलाते हैं। इनका आगमन या तो ईश्वर के द्वारा हुआ माना जाता है या ईश्वर के अवतारों द्वारा।

ऐसे ग्रन्थों की शब्द-संवेदना ससाध्वस यानी भय-मिश्रित आदर के साथ उदित होती है। आगे अर्थ का प्रत्यक्षीकरण करते हुए भी हम बार-बार इन शब्दों की संवेदना को दुहराते हैं ताकि हम इन्हें ठीक समझने में कोई गलती न कर बैठें। अर्थ समझने पर भी हम उन शब्दों को ही प्रमाण मानते हैं। क्योंकि हमें पूर्ण विश्वास नहीं होता कि हमने उन्हें पूर्णतया समझ लिया है। किसी भी तरह विचार कर लिया जाय ऐसा वाङ्मय शब्द-प्रधान होने के कारण प्रभु-संमित ही कहलाता है। सेवक के लिये प्रभु के शब्दों का महत्व है, यदि अर्थ का महत्व होता तो किसी दूसरे के द्वारा कहे गये वे ही शब्द उसके लिये बराबर महत्वशाली होते।

प्राचीनाचार्यों के अनुसार प्रभु-संमित वेदादि ग्रन्थों में जो शब्द की प्रधानता है और सुहृत्संमित इतिहासादि ग्रन्थों में जो अर्थ की प्रधानता है वह कांता संमित साहित्य के शब्दार्थोभय की प्रधानता से, आश्रय और स्वरूप भेद के कारण नितान्त विसदृश है। साहित्य में कहीं अर्थ भी प्रधान हो जाता है पर प्रभु-संमित वेदादि ग्रन्थों में शब्द और सुहृत्संमित इतिहासादि में अर्थ ही प्रधान रहता है। अर्थात् शब्द और अर्थ न तो पर्याय-वृति से (एक-एक करके) और न तो व्यासज्य वृत्ति से (एक साथ) प्रभु-संमित वाङ्मय में ही रह सकते हैं और न तो सुहृत्संमित वाङ्मय में ही। यह आश्रय भेद हुआ। साहित्य में अर्जित-संवेदना के कारण चेतश्चमत्कारी प्रभाव ही शब्दार्थ की प्रधानता का निर्वर्तक है पर साहित्येतर वाङ्मय में स्वीकृत मान्यता तथा बौद्धिक प्रसादकारी तात्विक

और वास्तविक दर्शन ही क्रमशः शब्द की प्रधानता और अर्थ की प्रधानता का स्वरूपाधायक है ।

साहित्य का सात्विक आनन्द जीवन का सबसे बड़ा सत्य है जो मानसिक वृत्तियों के क्षुद्र वैयक्तिक बन्धनों को तोड़ कर मनुष्यों की परस्पर नानात्व की भ्रान्ति को ठिकाने लगा देता है । जो हमारी भ्रान्तियों को ही समाप्त करने वाला है उसे भ्रान्ति कह कर तो हम अपनी (अपने मानवत्व की) आत्म-हत्या ही करेंगे । दर्शन-शास्त्र विश्व-बन्धुत्व और विश्व-संस्कृति का दुर्गम हिमालय हमारे सामने खड़ा कर सकता है पर जन-जन के भीतर प्रवहमान साहित्यिक धाराओं का रूप देकर उसका सक्रिय अनुभव कराने वाला एकमात्र साहित्य ही है । मानव-जीवन कभी भी पूर्ण हो सकता है यह तो नहीं कहा जा सकता पर पूर्णता की ओर जितना भी बढ़ रहा है, साहित्य के सत्वपूर्ण संकेत के कारण ही अधिक बढ़ रहा है और जितना भी विकास कर रहा है, साहित्य की सर्वांग सुन्दर छत्रछाया में बैठ कर ही अधिक कर रहा है ।

जहाँ साहित्य हमें ज्ञानमय उपदेश भी देने लगता है वहाँ भी उसके ज्ञान रूप प्रयोजन की स्थिति सविशेष होती है अर्थात् रमणीयता से अविच्छिन्न होती है जबकि साहित्येतर वाङ्मय में उसके ज्ञान रूप प्रयोजन की स्थिति निर्विशेष रहती है अर्थात् रमणीयता से विच्छिन्न रहती है ।

सविशेष प्रयोजन से हमारा अभिप्राय है विजातीय तत्व संश्लिष्ट होने से—जैसा कि साहित्य के प्रयोजन में ही भाव और ज्ञान के संश्लेष से होता है । और निर्विशेष प्रयोजन से अभिप्राय है विजातीय-तत्व-विश्लिष्ट होने से—जैसा कि साहित्येतर वाङ्मय के प्रयोजन में ज्ञान के केवल रूप से होता है । इसका निहितार्थ यह भी हुआ कि सजातीय-तत्व-संश्लिष्ट प्रयोजन भी साहित्येतर वाङ्मय में रह सकता है जिसे हम विशिष्ट प्रयोजन कह सकते हैं, सविशेष नहीं ।

संसार की वस्तुओं में नानात्व की प्रतीत होने के कारण वस्तुपरक ज्ञान भी नाना प्रकार के होते हैं । उनमें वस्तुतः कोई किसी से विशिष्ट नहीं पर विभिन्न अवश्य होते हैं । इस ज्ञान-वैविध्य के आधार पर मनुष्य जाति ने वाङ्मय की कुछ शाखाएँ बना रखी हैं । इतिहास में तथ्यवाहिनी घटनाओं का संकलन, भूगोल में चराचर की वस्तुस्थिति का वास्तविक अवस्थान, गणित में सिद्ध परिणामों का पर्यंकन—आदि-आदि अपने-अपने विषय की संगति के

प्रयत्न हैं जो तर्क की सीण़ा में मनुष्य-मात्र को विभिन्न पर एक ही सामान्य ज्ञान की ओर ले जाते हैं।

विज्ञान में सामान्य ज्ञान के आधार पर सिद्ध नियमों के द्वारा किसी विशेष बात की व्यवस्था दी जाती है। व्यवस्थित ज्ञान का नाम ही विज्ञान है। इसीलिए जानने और समझने में अन्तर है। पहले में शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु की प्रकटता और संवित्ति ही पर्याप्त है दूसरे में प्रयोग और निरीक्षण के बल पर विश्लेषण की आवश्यकता है। अर्थात् विज्ञान विशिष्ट ज्ञान का उदाहरण है।

और शास्त्रीय ज्ञान ? यह भी विशिष्ट ज्ञान है। व्यवस्था के सिद्धान्तों तक तो विधान और ज्ञान की खूब पटती है किन्तु आगे चल कर एक का दृष्टिकोण वास्तविक और दूसरे का आध्यात्मिक हो जाता है। विज्ञान अन्ततोगत्वा अपने को वस्तुविश्लेषण में खो देता है किन्तु शास्त्र वस्तुओं के आध्यात्मिक प्रभाव का अध्ययन करता हुआ मनुष्य की ओर लौट आता है। विज्ञान की सर्वोच्च श्रेणी जीव-विज्ञान या मनोविज्ञान है जहाँ चैतन्य-प्रवर्तित प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण है—पर शास्त्र की पराकाष्ठा दर्शन-शास्त्र है जहाँ जड़-चेतन की आध्यात्मिक सत्ता का विचार है। विज्ञान बाह्य घटनाओं का निरीक्षण करता है अतः उसकी प्रवृत्ति बहुर्मुखी है—पर शास्त्र अप्रत्यक्ष प्रभाव का मनन करता है अतः उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। एक का क्षेत्र बुद्धि-प्रयुक्त प्रपंच है—दूसरे का बुद्धयधिष्ठित आत्मा। पहले का फल बौद्धिक प्रासाद है—दूसरे का आध्यात्मिक शान्ति। एक की आस्था मानवीय ज्ञान के मूर्त्तरूपों में है और स्थूल प्रकृति पर अपने विजय-चिह्न देख कर चंचल हो उठता। दूसरे की श्रद्धा मूर्त रूपों के अमूर्त्त प्रभावों में है और प्रकृति के साथ एकात्मीयता में डूब जाता है। एक बाहर छा जाना चाहता है—दूसरा सब कुछ भीतर समेट लेना चाहता है। पहले का पुरुषार्थ काम और अर्थ से जूझता है—दूसरे का धर्म और मोक्ष में पर्यवसित होता है।

संक्षेप में साहित्येतर सारे वाङ्मयों में ज्ञाना पर्याय प्रयोजन की स्थिति सामान्य है। भले ही ज्ञान कहीं सामान्य हो और कहीं विशेष। इतिहास भूगोल-आदि में विविध ज्ञान प्रयोजन है ; विज्ञान, शास्त्र आदि में विशेष ज्ञान। यह केवल श्रेणीभेद है। सर्वत्र ही ज्ञान एक है अथवा सजातीय। पर साहित्य का ज्ञानमय प्रयोजन भी विजातीय तत्व भावना से संश्लिष्ट रहता है। इसीलिये स-विशेष कहा गया है। इस प्रकार साहित्य के और साहित्येतर वाङ्मय के प्रयोजनों की ये दो समानान्तर रेखाएँ हैं जो मानव-जीवन के साथ-साथ सदैव एक दिशा में चलती रहेंगी पर कभी आपस में मिल नहीं सकेंगी।

साहित्य का काम मनुष्य के भीतर बैठे हुए पशु को सधाना रहा है—उसका रस्सा खोलना नहीं। इतिहास, भूगोल, विज्ञानादि के निर्बल कंधे इस भार को नहीं सम्हाल सकते। ये तो भय से मनुष्य के पशु को रास्ता और दे देते हैं। पहले इसकी हिंसा-वृत्ति, दस-पाँच या सौ-पचास जीवन समाप्त करके ही शान्त हो जाती थी पर आज तो विज्ञान की बदौलत उसके हाथ में अणु-शक्ति है जो एक क्षण में लाखों के प्राण सूँघ सकती है। निस्संदेह साहित्य ही मनुष्य को उस सामान्य भाव-भूमि तक पहुँचाता है जहाँ ऐसी साहित्य धारा बहती है जिसमें अभिषिक्त होने से समस्त कटु-वृत्तियों से उत्पन्न-ज्वर उतर जाता है। ऐसे ही साहित्य के लिये साहित्यकार साधना करता है। वह मानवमात्र के हृदय में बैठता ही नहीं, उससे तादात्म्य कर लेता है। स्थावर-जंगम से विहार ही नहीं करता—उसमें खो जाता है। इस विराट रूप संसार में घुल कर वह स्वयं विराट् हो जाता है, उसके हृदय की स्फूर्ति और शक्ति का मानों पारा-वार ही नहीं जिसमें वैयक्तिक सीमाएँ डूब जाती हैं—जातीय सीमाएँ डूब जाती हैं—राष्ट्रीय सीमाएँ डूब जाती हैं। वह मनुष्य के भीतर मनुष्य को देखता है। घर, नगर, प्रान्त, देश, नदी, पर्वत, समुद्र उसकी इस दृष्टि के प्रतिबन्ध नहीं बन सकते। टैगोर ने एक अन्तिम कविता में अपने को विश्व के कण-कण में खो देने की बात कही थी, सचमुच अमर कलाकार की यही विल-क्षण-युक्ति है। वह सबकी छाती की धड़कन होता है—सबके हृदय की श्वांस होता है—सबकी आत्मा का स्वात्माराम होता है।

साहित्य कला के रूप में

अभिनव भरताचार्य, साहित्याचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने अपने समीक्षा शास्त्र में साहित्य को कला के स्वरूप की भाँति भी लेते हुए उसके अंग एवं उपांगों का वर्णन किया है। संस्कृत की कला-सम्बन्धी व्याख्या है जो आनन्द लावे उसे कला[1] कहते हैं। यह व्याख्या पाश्चात्य कलापारखी श्री क्रोचे की कला की परिभाषा से अधिक स्पष्ट है। इसके अनुसार 'क्योंकि कला अभिव्यक्ति है, इसलिये सब अभिव्यक्ति कला[2] है। इसे सुधार कर यदि यों कहा जाय कि व्यवस्थित तथा सौन्दर्य भक्ति मानवीय क्रिया ही कला है तो अधिक उपयुक्त होगा।

---

१. "कं आनन्दं लाति इति कला।"

२. आल आर्ट इज एक्सप्रेशन, देअरफोर आल एक्सप्रेशन इज आर्ट।"

भारतीय परम्परा में कवि-कर्म या साहित्य-रचना की गणना कलाओं में ही होने के कारण साहित्य को भी कला के ही रूप में लिया गया। बाद में ललित कलाओं के विवेचन में भी बा० श्यामसुन्दरदास ने काव्यकला को अन्य कलाओं से श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा की है। काव्यकला श्रेष्ठतम कला सिद्ध हुई है। चौंसठ कलाओं में जिन कलाओं की गणना है उन्हें देखने पर विदित होगा कि उनमें से कुछ तो नेत्र को आनंद देने वाली हैं जैसे चित्र और मूर्त्ति; कुछ कान को जैसे संगीत, कुछ जिह्वा को जैसे मधुर व्यंजन, कुछ त्वचा को जैसे कोमल चिकने, शीतल पुष्पों की रचना और कुछ नासिका को तृप्त करने वाली हैं जैसे सुगंधित वस्तुएँ। किन्तु शेष ऐसी हैं जो हमारे मन को प्रसन्न करने वाली या हमारे दैनिक व्यवहार में कुशलता, प्रवीणता तथा योग्यता दिखलाने वाली हैं। इस दृष्टि से यदि हम कला की परिभाषा करें तो कहेंगे— "कर्मेन्द्रियों का वह कौशलपूर्ण नियोजन कहलाता है जो ज्ञानेन्द्रियों को तृप्त करता हुआ मन को प्रसन्न और तुष्ट करता है।" इन सब प्रकार की कलाओं में भी साहित्य अथवा काव्य ही ऐसी कला है जो किसी एक इन्द्रिय को हर्षित न करके हमारे मन को तुष्ट करती है, आत्मा को उदात्त, नैतिक आदर्शों के द्वारा ऊँचा उठाती है, विवेक की स्थापना के द्वारा बुद्धि का परिष्कार करती है, सूक्तियों के संयोजन से वाणी का संस्कार करती है और घटनाओं के नियोजन से व्यावहारिक ज्ञान सिखाती है। अन्य सब कलाओं के द्वारा हमारी किसी एक इन्द्रिय या दो इन्द्रियों को सुख मिलता है और मन को क्षणिक तृप्ति मिलता है। किन्तु काव्य के द्वारा कान को और नाटक द्वारा नेत्र तथा कान को सुख मिलने के साथ साथ मन का भी संतर्पण और संस्कार होता चलता[1] है। काव्यकला आरम्भ में साहित्य का पर्याय रहा है।

बहुत से आचार्यों का सिद्धान्त है कि मनुष्य ने जो अपनी सभ्यता का इतना विकास किया है उसका अधिक श्रेय भाषा या शब्द के पराक्रम को ही है। इस शब्द पराक्रम से मनुष्य ने दो प्रकार की सृष्टि की—एक काव्य और दूसरा शास्त्र। काव्य के अन्तर्गत उसने नाटक, कविता, कथा, चम्पू आदि गद्य-पद्यमय वह सब कवि-कर्म माना जिसे कवियों ने विशिष्ट रूप से अलंकृत कर के कान्तासंमित योजना के साथ प्रस्तुत किया। किन्तु शास्त्र-विधि निषेधात्मक होता है, उसमें उपदेश भी गुरुसंमित दिया जाता है अतः वह स्वाभाविक रूप से काव्य से भिन्न है। इसी काव्य शब्द का बोध अब साहित्य शब्द के द्वारा किया जाता है। आगे चल कर काव्य शब्द पद्य-बद्ध रचनाओं के लिये इतना रूढ़ हो

१ राजशेखर—'काव्य मीमांसा'।

गया है और गद्य-साहित्य इतने अधिक रूपों में व्याप्त हो गया है कि उसे काव्य कहने की अपेक्षा साहित्य कहना अधिक उचित है, क्योंकि जिस युग में उसका काव्य नाम पड़ा था उस समय यद्यपि गद्य और पद्य दोनों ही रचनाओं को काव्य कहा जाता था किन्तु पद्यात्मक रचनाओं की इतनी भरमार थी और गद्य-रचनाएँ इतनी कम थी कि काव्य कहने से साधारणतः पद्य रचना का ही बोध होता था। अतः हम भी व्यापक गद्य-पद्यमय काव्य वाङ्मय को साहित्य कहेंगे और केवल पद्य-बद्ध रचनाओं को कविता। इस दृष्टि से हम साहित्य की नई परिभाषा इस प्रकार करेंगे—

"गद्य-शैली में अभिव्यक्त मानव-अनुभूति ही साहित्य है।"

इस अर्थ में भी साहित्य तो मानवीय भावनाओं और अनुभवों का वह विस्तृत अभिव्यक्ति क्षेत्र है। अत: इसके अन्तर्गत कविता के अतिरिक्त भाषात्मक अभिव्यक्ति के वे सब रूप भी समा जाते हैं जो कविता से भिन्न हैं या उसके विरोधी हैं। जैक्स मारिटैन ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है— "साहित्य में यह दार्शनिक तत्व नहीं है जो काव्य में है।" इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि साहित्य तो समझने के लिए हम उसके व्यापक क्षेत्र का अध्ययन करें और साहित्य को उसी व्यापक अर्थ में समझें।

भारतीय साहित्याचार्यों ने गद्य और पद्य दोनों में की हुई रचना को काव्य कहा है। उपर्यंकित दृष्टि से विचार करने पर भी यह प्रतीत होगा कि कविता अर्थात् छन्दोबद्ध साहित्य और अ-कविताशील साहित्य में कोई मोटा भेद नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से उपन्यास की अ-कविताशील साहित्य में आता है, किन्तु अपने तत्व, प्रभाव, विन्यास तथा ग्रथन की दृष्टि से वह भी कविता के पद पर पहुँच जाता है। इसीलिये कभी कभी यह कहा जाता है कि 'साहित्यिक रूप की दृष्टि से उपन्यास की प्रकृति भी काव्यमय ही होनी चाहिये।' हमारे यहाँ तो पहले ही गद्य और पद्य में रचे हुए सम्पूर्ण रसमय वाङ्मय को काव्य ही कहा है और गद्य को भी वृत्तानुगन्धी बताया है। इस दृष्टि से साहित्य वास्तव में किसी एक जाति के कल्पनात्मक और बौद्धिक जीवन-क्रम का वह परिचय है जो कलात्मक भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है और जिसके विस्तृत साम्राज्य का छोटा-सा अंश कविता भी है, इस समय का बड़ा अंश उपन्यास तथा साहित्य भी है और जिसके सब अंशों में काव्यात्मकता समान रूप से विद्यमान रहती है।

साहित्य के रूप

हमारी स्वाधिष्ठित प्रतिक्रिया तथा अनुकरण-वृत्ति की प्रेरणा अथवा

स्वान्तः प्रेरणा से हमारी रुचि किसी एक वस्तु, व्यक्ति, विषय या घटना के सौन्दर्य, अद्भुतत्व या असाधारणत्व से आकृष्ट होकर उसे अंगीकार करके उसमें इस प्रकार तन्मय हो जाती है कि वह वस्तु, विषय, व्यक्ति या घटना उसके पश्चात् हमारे मस्तिष्क में उमड़ने-घुमड़ने लगती है। साथ ही हमारे मन की स्वतन्त्र शक्ति 'कल्पना' निरन्तर उसके पोषण में प्रवृत्त हो जाती है और उसे मूर्त रूप देने के लिये उसकी प्रसाधन सामग्री जुटाने लगती है। उसे देश, काल एवं पात्र के अनुसार अभिव्यक्ति के योग्य बनाती है। अन्त में (मानस-पाचन के रूप में उस अभिव्यक्ति को आत्मसात् कर लेने पर) अभिव्यक्ति के प्रकट रूप के प्रकार का प्रश्न आ उपस्थित होता है। साहित्यिक कलाकार का विवेक उस समय की अवस्था, जन-रुचि की मांग एवं स्वयं अपने दृष्टिकोण का सामञ्जस्य करके कविता, नाटक, निबन्ध अथवा उपन्यास की रचना के समारंभ का श्रीगणेश करवाता है।

साहित्य का महत्व

यदि हम दो बातों पर ध्यान देकर विचार करें तो हमें 'साहित्य' शब्द से क्या तात्पर्य है यह बात अपने व्यापक रूप में और ठीक ठीक हमारी समझ में आ जायगी। साहित्य का निर्माण उन पुस्तकों से और केवल उन पुस्तकों से मिल कर हुआ है जो अपने वर्ण्य,विषय के कारण, एवं विषय के वर्णन के ढंग के कारण साधारण रूप से मानव के काम (हित) की है और जिन में (गौणरूप से ही सही) स्वरूप का तत्व और तज्जन्य आनन्द दोनों ही आवश्यक समझे जाते हैं[1]।

---

1 "We shall get what for our purposes should be an idea of literature atonce sufficiently accurate if we lay stress upon two considerations. Literature is composed of those books only, which in the first place, by reason of their subject-matter and their mode of treating it, or of general human interest; and in which in the second plase, the element of form and the pleasure which form gives are to be regarded as essential."

—William Henry Hudson : '*An Introduction to the Study of Literature*'—August 1932 Edition—p. 10.

कोई भी साहित्यिक कृति ज्योतिष, राजनीति, दर्शन अथवा इतिहास पर लिखी हुई विशिष्ट रचना से बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती है क्योंकि एक तो यह पाठकों की श्रेणी-विशेष का नहीं, वरन् सभी स्त्री और पुरुषों का स्त्री और पुरुष के रूप में मर्म-स्पर्श करती है और उन से दूसरा भिन्नता का कारण यह है कि जहाँ किसी अन्य साहित्येतर विषय की विशिष्ट रचना का उद्देश्य ज्ञान-दान मात्र होता है वहाँ साहित्यिक कृति का आदर्श लक्ष्य, वह ज्ञान-दान करे अथवा न करे, यह होता है कि वह वर्ण्य-विषय को प्रस्तुत करने के ढंग के द्वारा साहित्य-सौन्दर्यात्मक सन्तोष भी प्रदान करता है[1]।

हम साहित्य की परवाह इसलिये करते हैं क्योंकि उसमें गहरी और स्थायी मानवता का महत्व निहित होता है। एक साहित्यिक महान् कृति सीधे जीवन से बढ़ कर स्वरूप ग्रहण करती है—उसके अध्ययन के माध्यम से हम जीवन के विस्तृत, निकट तथा अतिसद्य (ताजे) सम्पर्क में आते हैं और इस तथ्य में उसकी शक्ति का भेद निहित है।

साहित्य का ऐकांतिक महत्व

अब सब से पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या जीवन में कोई ऐसा कार्य है अथवा कोई ऐसा उपयोग है जो केवल साहित्य ही में संभव है और कहीं नहीं ? अरस्तू के मतावलम्बी लोग कविता (तदनुरूप साहित्य) को ज्ञान का संवाहक समझते हैं। वह काव्य में इतिहास से अधिक दार्शनिकता (विचार शक्ति) के दर्शन करता है क्योंकि इतिहास जो घटित हो चुका है उसी का निदर्शन करता है, पर साहित्य जो घटित हो सकता है, उसका भी निदर्शन करता है—साधारण रूप से घटित होने वाली घटनाएँ और सम्भावित घटनाएं भी। अब जब कि इतिहास, साहित्य की ही भाँति तथ्यों के बन्धन में

---

1 "A piece of literature differs from a specialized trestise on astronomy, political, Economy, philosophy or even history, in part because it appeals, not to a particular class of readers only, but to men and women as men and women, and in part because while the object of the treatise is simply to impart knowledge, one ideal and of the piece of literature, whether it also imparts knowledge or not, is to yield asthetic satisfaction by the manner in which it handles its theme."
—WILLIAM HENRY HUDSON : '*An Introduction to the study of Literature* p. 10.

शिथिलता प्रदर्शन करता है, भोंडा-सा नियंत्रण रखता है और जहाँ विज्ञान प्रभावशील प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आता है यह बात जोर देकर कही जाती है कि साहित्य उन खास-खास बातों के सम्बन्ध में ज्ञान-प्रदान करता है जिस से विज्ञान और दर्शन का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। जहाँ डाक्टर जान्सन ऐसे दिग्गज सिद्धान्त विशारद कविता को जीवन के साधारण सत्यों के कोष की संज्ञा देते हैं, वहाँ विविध विचार-धाराओं का अनुसरण करके वाले आधुनिक सिद्धान्त-शास्त्री कविता की विशिष्टता पर बल देते हैं[1]। उदाहरण के रूप में स्टेस कहता है कि ओथेलो का वर्ण्यविषय 'ईर्ष्या' अपने साधारण व्याप्त रूप में नहीं है, वरन् वह विशिष्ट प्रकार की ईर्ष्या है जिसे एक वेनिस की सुन्दरी से विवाहित मोरोक्को निवासी ही सोच सकता था।

'साहित्य में सत्य का साधारण रूप होता है अथवा विशिष्ट रूप इस विषय में साहित्यिक सिद्धान्त विशेष तथा किसी विशिष्ट विचारधारा के हिमायती लोग कोई भी मत रख सकते हैं क्योंकि साहित्य जहाँ इतिहास और जीवन चरित्र से अधिक व्यापक होता है, वहीं वह मनोविज्ञान अथवा समाज शास्त्र से संकुचित भी होता है। पर इन साहित्यिक सिद्धान्तों में जिन बातों पर बल दिया जाता है उनमें खूब घुमाव-फिराव भी होता रहता है। क्रियात्मक व्यवहार में साहित्य में साँधारणता अथवा विशिष्टता का भाव एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ तक और एक युग से दूसरे युग तक परिवर्तित होता रहता है। साहित्य में चरित्र निर्माण का सिद्धान्त ही दोनों—विशिष्ट (Individual) और साधारण (type) के मिश्रण करने का है —वह विशिष्ट में वर्ग के लक्षण और वर्ग में व्यक्ति की विशिष्टता दर्शाता रहता[2] है।

---

1 "While a neoclassical theorist like Dr. Jonson could still think of poetry in terms of the 'grandeur of generality' modern theorists, of meny schools (e. g., Gilby, Ransen, Stace), all stress the particularity of poetry, says stace, the play Othello is not about jealousy but about Othello's jealousy, the particular kind of jealousy of a Moor married to a Venetian might feel.'

—W. T. Stall, '*The Meaning of Beauty*'.—151.

2 "In literary practice, the specific degree or generality or particularity shifts from work to work and period to period ......The principle of characterization in literature has

इसी प्रकार नाटक और उपन्यासों में प्रत्यक्ष ज्ञान संबंधी मूल्य पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। प्रायः यह कहते हुए सुना जाता है कि मनोवैज्ञानिकों से बढ़ कर उपन्यासकार हमें मानव-प्रकृति के विषय में बातें सिखा सकते हैं। हार्न-दोस्तोव्स्की-शेक्सपियर-इब्सन और बालजक को मनोवैज्ञानिक तथ्यों के शाश्वत स्रोतों के रूप में लोगों के ध्यान-पथ पर लाता है। ई० एम० फार्स्टर कहता है कि ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिनके आंतरिक जीवन के विषय में अथवा उनके कार्यों के प्रेरक तत्वों के विषय में हम जानते होंगे पर यह उपन्यास को मानवता के लिये बड़ी भारी सेवा है कि वह चरित्रों के आत्मपरीक्षणपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। यह बात तो मानी हुई है कि उसके चरित्रों का आन्तरिक जीवन वही है जो स्वयं सजग आत्मपरीक्षण का परिणाम है। कोई भी कह सकता है कि महान् औपन्यासिक कृतियाँ मनोवैज्ञानिकों के लिये तथ्यों के स्रोत-स्थान हैं अथवा उनके चरित्र मनोवैज्ञानिक समस्याओं के समाधान हैं। यहाँ पर हम फिर उसी बात पर आते हैं कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास को केवल साधारण वर्गगत चरित्र के रूप में लेंगे। वे 'पेअर गोरिएट' ऐसे विशिष्ट चरित्र को सम्पूर्ण दृश्य संभार से अन्य चरित्रों के संदर्भ के सहित लेंगे।

साहित्येतर, उपन्यासेतर साहित्य एवं उपन्यास

उपन्यास की व्याप्ति—उपन्यास की व्याप्ति का आरंभ तो मनुष्य की चेतना के आरंभ से समझा जा सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक स्पन्दनशील हृदय वाला, संवेदना से युक्त मनुष्य मूक व्यक्तित्व का कवि तो है ही, उसी प्रकार आन्तरिक संवेदना के साथ-साथ आँखों से देखने वाला और कानों से सुनने वाला व्यक्ति उपन्यास का भी मूक व्यक्तित्व रखता है। तत्व की आर्ष कल्पना, दर्शन की दृष्टि एवं भगवान का ध्यान-तपस्या[1] का उपन्यास है। दैनिकी उपासना हमारी उदात्त भावना का उपन्यास है। हमारा स्वयं का आत्म-चिंतन व्यक्तित्व के आभास का उपन्यास है।

---

always been defined as that of combining the 'type' with the 'individual'—showing the type in the individual or the in the type".

—AUSTEN WARREN AND RENE WALLEK: '*Theory of Literature*' .23.

1 "When one watches constantly the source where this I emanates is called 'Tapas'. *Maharshi Raman.*

उपन्यास साधारणत्व की कला है और असाधारणत्व का साधारणीकरण। जो है, जैसा है उपन्यास उसी की कविता है। उपन्यास घटनाओं का शास्त्र है और जीवन का ककहरा। उपन्यास कल्पना का विराम स्थल (haven) है। उपन्यास ज्ञान और विज्ञान का सामाजिक क्लब है। वह सामाजिक शास्त्रों का क्रीड़ा-स्थल है और मनोविज्ञान की प्रयोगशाला है। वह संगीत और चित्रकला का संधि-स्थल भी है और मूर्तिकला की पैमाइश का दफ्तर भी है।

उपन्यास सदैव जीवित था—सदैव जीवित रहेगा, उसका स्वरूप बदल सकता है पर उसके अस्तित्व का नाश कभी न होगा।[1] वार्ता, दृष्टान्त, आख्यान, उपाख्यान, कथा, वृहत्कथा, आख्यायिका, नवलकथा, पिकारेस्क, रोमांस, उपन्यास, लघु-कथा, परिकथा सब एक ही वृत्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं।

उपन्यास में जो नहीं है वह तो लाना ही होता है और जो जीवन में हो सकता है और है नहीं उसे भी उपन्यास में खींच लाया जाता है, जिससे वह लोगों को जीवन में भी उसी दिशा में खींच सके। उपन्यास में सतह के ऊपर के जीवन के साथ-साथ सतह के नीचे का जीवन भी होता है।

उपन्यास में जो समय बीत चुकता है उसको हम वर्तमान की सम्पत्ति बनाते हैं और जो आने वाले समय हैं उनको भी वर्तमान के भीतर ले आते हैं। उपन्यास में समय देवताओं की भाँति सदा अतीत के वैभव और भविष्य की संभावना के साथ वर्तमान में युवा रहता है।

श्रेष्ठ साहित्य संयोग का आविष्कार होता है। उत्तम उपन्यास में साहित्य की लालसा साकार रूप पाती है। उपन्यास साहित्य का विराट होता है जो अपने दो पगों में ही सारा ब्रह्माण्ड नाप लेता है। तब तीसरे पग में मानव का अन्तस् अपने हो नपवाता है। लोक का दान उपन्यास का अभियान-सम्बल बन जाता है।

जब साहित्य की क्षितिज में संभावना के फैलाव की सीमा एवं शून्य के छोर

---

1 "I am the daughter of earth and water.
And the nursling of the sky;
I pass through the pores of the ocean and shores :
I change, but I cannot die.
—PERCY BYSSHE SHELLEY—*'Cloud'*.

के संधि-स्थल पर कल्पना के विस्तार का आरंभ होता है तब औपन्यासिकता का जन्म होता है। वैज्ञानिक तर्क-प्रणाली जब तथ्यों की ठोस-भूमि को छोड़कर अनुमान से वास्तविकता को टटोल कर ढूंढ़ना आरंभ करती है तब वैज्ञानिक की औपन्यासिकता का आरंभ होता है। इसी प्रकार 'नेति-नेति·····' की भावना एवं 'ब्रह्म' सम्बन्धी विचार दार्शनिक औपन्यासिकता की कोटि में रखे जा सकते हैं।[1] जातक, पुराण, बाइबिल एवं कुरान के दृष्टान्त एवं धार्मिक गाथाएँ अपने में औपन्यासिकता के पुण्य प्रवाह को छिपाये चलती हैं। औपन्यासिकता का सबसे गहरा और घना पुट हमें चुटकुलों में मिलता है। जहाँ 'बीरबल' और 'सरदार जी' को लेकर, 'अफीमची और चन्डूबाज' की शकल में तथा अगणित सामाजिक अवसरों के संदर्भ में स्वाभाविकता की रोचक आवृत्ति समय-समय पर सहज भाव से कही हुई उक्तियों में होती है।

एक प्रकार का साहित्य ऐसा भी होता है। जो उपन्यास तो नहीं होता पर उपन्यास के सन्निकट होता है। भ्रमण वृत्तान्त के अस्पष्ट रोचक-काल्पनिक, अंश उसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। जब विज्ञान को संभावनाओं पर भविष्य का वास्तविक सा लगता हुआ काल्पनिक वर्णन हमारे सामने आता है तब हम उसे भी एक उपयोगी औपन्यासिक गाथा कह सकते हैं। यथार्थोन्मुख आदर्शवादी रचना के समान। फिर जब हम पत्रों के संग्रह की ओर आते हैं तो मानो उपन्यास के कच्चे माल का ढेर-का-ढेर हमारे सामने आ जाता है जिससे परिश्रम करके हम चाहे जितने परिमाण में सोना (उपन्यास) निकाल लें। जब भक्त की मौज अपने में पूरी होती है तब उसकी औपन्यासिक-सी आध्यात्मिक स्थिति देखने और सुनने वालों के लिये आनन्द का विषय बन जाती है।

उपन्यास का आरंभ बातचीत के रस से लेकर पत्र और कहानियों के झीने आवरण से छन कर, परियों की कहानियों में उड़नखटोलों में घूमकर तिलिस्म के चक्कर में पड़ कर फिर जासूसी के रहस्य में गुपचुप बैठकर सामाजिकता के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इतिहास में अतीत और वर्तमान सामाजिकता दोनों को ही लेकर चलता है। फिर दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, समाजशास्त्र-राजनीति आदि से संश्लिष्ट होता हुआ आगे बढ़ता है। उपन्यास में महाकाव्य,

---

१ राहुल सांस्कृत्यायन की "वोल्गा से-गंगा"

नाटक, कहानी, निबंध और गवेषणात्मक निवन्ध सब मिलकर एक हो जाते हैं।

ज्ञान एक विजेता की आक्रामक सैन्य शक्ति के समान एक लम्बी-दूरी में एक साथ आगे बढ़ता है। आगे बढ़ी हुई सेना की टुकड़ियाँ पीछे पड़ जाने वाली टुकड़ियों के सरलतापूर्वक आगे बढ़ने में सहायक होती हैं। आधुनिक ज्ञान की विश्वव्यापी प्रगति ने उपन्यास साहित्य में भी अपना प्रभाव दिखलाया है। वैज्ञानिक आविष्कारों एवं विभिन्न वादों की विचार-धारा ने पूरी तौर पर उपन्यास को प्रभावित किया है। कवि के कल्पना जगत में सीमित रहने वाले कतिपय स्थलों को विज्ञान के माध्यम से वास्तविकता की परिधि में लाया गया है। अब उपन्यास वैज्ञानिकों के लिये प्रेरणा ही नहीं प्रबोदना की वस्तु बन गये हैं। एच० जी० वेल्स के 'माडर्न यूटोपिया', 'दि वार आफ वर्ल्डस', 'दि मैन इन दि मून', 'दि शेप आफ थिंग्स टु कम' स्टिवेंसन का 'डाक्टर जैकिल एन्ड मिस्टर हाइड', राहुल-सांस्कृत्यायन का 'वाल्गा-से-गंगा' '२२ वीं सदी', चतुरसेन शास्त्री का "वैशाली की नगर-वधू' आदि इसी श्रेणी के उपन्यास हैं। जासूसी उपन्यासों में तो बात-बात में विज्ञान की खोज की उकसाहट रहती है। प्राचीन कहानियों में उड़न खटोला, अग्नि बाण, सम्मोहनास्त्र आज की वास्तविकता बन गये हैं। उधर दूसरी ओर विचार-जगत में उपन्यासकार जन-साधारण के जीवन का दार्शनिक बन रहा है। हलके ढंग में प्रचार का का ढंग तो बहुत स्थानों पर पाया जाता है, पर प्रवक्ता और युग-पुरुष प्राफेट (Prophet) की प्रतिभा के प्रस्फुटन के रूप में भी वह हमें दिखाई पड़ता है। उपन्यासेतर साहित्य तथा साहित्येतर वाङ्मय के प्रभाव उपन्यास को आगे भी बढ़ाते हैं, उसके वर्ण्य-विषयों की सम्भावना को आगे बढ़ाकर और कभी-कभी वाह्य-प्रभाव-जन्य रूढ़ियाँ उपन्यास के गले का पत्थर या पाँव की जंजीर भी भी बनते हैं, उपन्यास को विचारों का अंधा कुआ मात्र बनाकर।

जीवन में ज्ञान-वृद्धि का व्यापार वैसे तो समस्त ज्ञात एवं अज्ञात-शास्त्रों की सम्मिलित ज्ञान की वृद्धि पर निर्भर रहता है, पर सामयिक-जीवन की आवश्यकतानुसार डाक्टर की चुनी दवाइयों की तरह ज्ञान के कुछ अंग विशेष रूप से जीवन के ज्ञान को विशेष गति से आगे बढ़ाते हैं और ज्ञान का विस्तार इस "डाइनामिक फोर्स" से स्वयमेव आगे खिसकता रहता है बड़ी भारी चादर के छोरों की तरह। जीवन के विद्यालय में भी आजकल के विश्वविद्यालयों की भाँति विज्ञान (अपने सब विभागों के ज्ञान के साथ), राजनीति, अर्थशास्त्र

एवं समाजशास्त्र विशेष प्रिय विषय हैं। उपन्यास जीवन को समेटने के साथ-साथ क्रम से इन सब विषयों के ज्ञान को अपने में अँकोरता चलता है। उपन्यास में (जैसा पहले कहा जा चुका है) सभी विषयों के ज्ञान का प्रभाव छन-छन कर आता है पर इन विषयों का प्रभाव सीधे ही पड़ता है।

राजनीति तो समय को गढ़ती है—युग का निर्धारण करती है—अतः उपन्यास जब बाहरी जगत को लेकर चलता है तो वह (राजनीति) उस (उपन्यास) पर छाई रहती है। डिज़रायली, चर्चिल, यशपाल आदि की रचनाएँ इस तथ्य के प्रमाण उपस्थित करती हैं।

अर्थशास्त्र से तो जीवन यापन की विधियाँ बनती-बिगड़ती हैं। जमींदारी उत्पीड़न एवं पूँजीवादी शोषण तथा वर्गगत संघर्ष जीवन में आंधी और तूफान लाते रहते हैं। जहाँ उपन्यास में आर्थिक अवस्था से उत्पन्न विक्षोभों का वर्णन है वहाँ अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिफलन उपन्यास को इसी शास्त्र का दृष्टान्त बनाता चलता है। उपन्यास का जन्म, रोमांस की कल्पना, साहसिक व्यापारियों की गाथाएँ, विश्वभ्रमण करने वाले यात्रियों के वृत्तान्त, सभी तो उपान्यास को सामग्री देते रहते हैं। रूस देश की पंचवर्षीय योजनाओं से संबंधित उपन्यास 'एन्ड क्वायट फ्लोज दिडान' और 'वर्जेनस्वायल अपटर्न्ड' आदि इस तथ्य के उदाहरण हैं।

उपन्यास शास्त्र का सबसे बड़ा सहायक समाजशास्त्र है। आदि से अंत तक समय के विस्तार में फैला और पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक की बातों को एकान्तरूप से आत्मसात करने वाला समाजशास्त्र उपन्यास के 'बीजों' की नर्सरी है। हम किसी उपन्यास को समाज शास्त्र का परिच्छेद नहीं कह सकते और न सभी उपन्यासों में समाजवाद के सूत्रों की व्याख्या खुले शब्दों में ढूँढ कर निकाल सकते हैं, पर प्रत्येक उपन्यास में समाजशास्त्र की सामग्री और समाजशास्त्र के प्रत्येक परिच्छेद में उपन्यास का अंकुर खोज निकाल सकते हैं।

मनोविज्ञान अन्तर्जगत का शास्त्र है और अपने सिद्धान्तों के अनुशीलन में वाह्य जगत के कार्य विस्तार में भी छाया रहता है। उपन्यास में जब चरित्र की विवेचना गहराई से होने लगती है तब मनोविज्ञान पूरे रूप से जीवन के समस्त घटनाचक्रों एवं कार्यों पर छा जाता है। आधुनिक युग की यह विशेषता है कि उपन्यास पर विशेष रूप से तथा उपन्यासेतर साहित्य पर साधारण रूप से मनोविज्ञान का प्रभाव है। अंग्रेजी के 'स्ट्रीम आफ कान्श-

सनेस' के अनुकरण पर फ्रायड के प्रभाव से हिन्दी में भी जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी आदि लेखक मनोविज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हैं। मनोविज्ञान जहाँ विषय की स्पष्टता में सहायक होता है वहाँ तो ठीक, पर जब वह साहित्य पर हावी हो जाता है तब वह साहित्य की आत्मा को आवृत्त कर उसके सौन्दर्य को नष्ट भी कर देता है।

वेकर का यह कहना ठीक ही है कि 'आवश्यक प्रतिभा हो तो शायद ही कोई विषय आधुनिक उपन्यासकार की रचना-परिधि के बाहर रह सके। उसकी कला इतनी लचीली और प्रशस्त है जितनी कि 'गद्य और काव्य की उभयक्षीय' वह तटस्थ शैली जो वर्डसवर्थ तथा अन्य विशेष कवियों में कोलरिज की सराहना का विषय बनी थी। काव्य में ही गद्य कथा का विकास हुआ, उसने पुनः काव्य के साथ अपना निकट सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। उसका इतिहास टूटे हुए क्रमों का नहीं, प्रत्युत एक अटूट वक्र-रेखा सम है।[1]

'वंग साहित्य उपन्यासेर धारा' के श्री कुमारवन्दोपाध्याय का भी यही कथन है कि उपन्यास एक बारगी कहीं से नहीं आ गया है। प्राचीन साहित्य के मध्य भी खोजने से इसके क्षीण संकेत एवं सुदूर इङ्गित मिलते हैं। काव्य में, धर्म ग्रन्थ में, व्यंग-विद्रूप की कविता में आख्यायिका में और नाटक में जहाँ कहीं भी लेखक की जान में या अनजान में समाज का एक वास्तविक चित्र प्रतिफलित होता है, जहाँ कहीं भी इस प्रकार के चित्रांकन की चेष्टा देखी जाती है, अथवा सामाजिक मनुष्य का सम्पर्क अथवा निविड़ संयोग प्रस्फुटित हो उठता है वहीं उपन्यास के भावी आगमन का आभास प्राप्त हो

---

1. "Given the necessary genius, there is highly a theme that a modern novelist finds beyond his range. His art is as flexible and capacious as the neutral style, 'Common to prose and poetry which was the special admiration of Coleridge in Wordsworth and certain other poets. Prose fiction has its rise in poetry : it has reasserted its kinship to poetry. Its history is not a broken but a continuous curve.

—ERNEST A, BAKER—'*The History of English Novel*' Vol.I—p p. 298--99

जाता है। उपन्यास के जन्म होने के पूर्व ही उसके लक्षण और उपादान संभार साहित्य के बीच में इधर-उधर बिखरे हुए पड़े थे। तत्पश्चात् यथासमय किसी प्रतिभा सम्पन्न लेखक ने इन समस्त बिखरे पड़े हुए उपादान समुदाय को सुसम्बद्ध एवं सुनियंत्रित करके, उसे प्रकट किया, किसी आख्यायिकाकार की रचना के बीच में गूंथ दिया और एक प्रकार से नूतन साहित्य को जन्म दिया और प्रथमैव चिर प्रवाहित साहित्य-श्रोत में एक नवीन प्रणाली का संचार कर दिया।[१]

साहित्येर वाङ्मय के प्रमुख स्वरूप और उपन्यास

आरम्भ से ही उपन्यास और इतिहास में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा है। इतिहास का प्रयोजन अतीत को वर्तमान में अपने वास्तविक रूप में प्रत्यक्ष करना होता है। इतिहासकार पूरी ईमानदारी के साथ समय के काल-विशेष (पार्टीकुलरपीरिअड) अथवा कई कालों (मेनी पीरियड्स) को वर्तमान के एवं भविष्य के पाठकों के लिए वर्णन के रूप में प्रस्तुत करता है। इतिहास के अध्ययन से हमें पता चलता है कि युग विशेष में मनुष्य क्या करते हैं और उसके साथ ही साथ यह भी पता चलता है कि मनुष्य जो कुछ करते हैं क्यों करते हैं। उपन्यासकार का आग्रह सत्य पर होता है और उसके लिये वह सब प्रकार के प्रमाणों का संग्रह भी करता है (जो अपने में स्वयं एक विस्तृत विषय है)। पर सब प्रकार के प्रयत्न करने के बावजूद प्रायः इतिहासकार घटनाओं की तिथियाँ और उन घटनाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम ही ठीक से प्रस्तुत करने का दावा कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में समय के विशेष अन्तर पर इतिहासकार को समय विशेष का ढाँचामात्र मिल पाता है और शेष ब्यौरे उसे अपने अनुमान और कल्पना के सहारे संग्रथित करने पड़ते हैं। जहाँ यह व्यापार आरंभ हुआ एक इतिहासकार और शब्दों के कलाकार साहित्यिक में कोई जाति-भेद नहीं रह जाता। प्रत्येक महान् इतिहासकार कुछ अंशों में शब्दों का कलाकार होता है। थ्यूसी डाइड्स की सजीव स्पष्टता, गिबन का निर्माण कार्य माम्सन की निर्मातृ-शक्ति का नाटकीय बल, इन सबका स्रोत उन लेखकों को कल्पना ही में होता है जो यह जानते हैं कि उन्हें प्रस्तुत सामग्री का प्रयोग

---

१. श्रीकुमार बन्दोपाध्याय—'बंग साहित्ये उपन्यासधारा' प्रथम संस्करण —पृ० ३.

किस प्रकार करना चाहिये—उसे किस प्रकार और किस रूप में पाठकों के लिये प्रस्तुत करना चाहिये।

उनके ग्रन्थों का दुहरा पक्ष होता है—एक तो उनकी कृति का विश्लेषण विज्ञान के नियमों के अनुसार करना पड़ता है—प्रस्तुत सामग्री विश्वसनीय है या नहीं, निकालते हुए निष्कर्ष सत्य हैं या नहीं, जिन साधारण तथ्यों की स्थापना की गई है वे न्यायसंगत हैं या नहीं। परन्तु जब वर्ण्य-विषय के साक्षात करने का प्रश्न उठता है तब कथा-प्रवाह के विषय में सोचना पड़ता है तो फिर उनका दृष्टिकोण और वर्ण्यविषय के प्रस्तुत करने की शैली सक्रिय कल्पना के व्यापर को प्रकट करते हैं और तब उनका कार्य कला के रूप में साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है।

अब इसी की तुलना में जब हम एक उपन्यासकार की कल्पना करते हैं तब हम उसे अनुभव के और कल्पना के व्यक्तियों एवं घटनाओं से काम लेते हुए पाते हैं। उसका पूरा लेखन कौशल उसकी सहायता करता है। उसके भीतर एक उदात्त कल्पना भी जागृत हो जाती है और इन सबके समवेत प्रभाव के परिणाम स्वरूप वह एक ऐसी कलाकृति को रूप देने में समर्थ होता है, जो वास्तविक जगत में घटित न होते हुए भी संभावित लगती है। उसके विरुद्ध एक इतिहास ग्रन्थ सभी आधार भूत प्रमाणों के होते हुए भी पूर्णरूपेण स्वाभाविक अथवा सत्य नहीं भी प्रतीत हो सकता। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए एक अंग्रेज लेखक ने कहा है कि उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं (क्योंकि उनका आधार लेखक का स्वयं का अनुभव होना है और इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त कोई बात सच्ची नहीं होती है। यह बात भले ही अत्युक्तिपूर्ण हो पर उससे उपन्यास साहित्य एवं इतिहास की प्रवृत्ति का ज्ञान अवश्य ही हो जाता है। उपन्यास में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है वह है हृदय की व्यंजना। उसमें तिथियाँ तथा नामादि सभी तो गौण होते हैं। नाम तथा तिथि का उल्लेख इतिहास की वस्तु है।

जो बात इतिहास के सम्बन्ध में सत्य है वही दर्शन के सम्बन्ध में भी सत्य हैं और वही बात गवेषणात्मक निबन्ध के सम्बन्ध में भी सत्य है। इन सबका मुख्य उद्देश्य उपदेशात्मक होता है, पर विषय को प्रस्तुत करने में कुछ न कुछ कारीगरी (वह अच्छी हो या बुरी) होगी ही। इस प्रकार उनमें साहित्य के उपदेशात्मक तथा सौन्दर्यात्मक पक्षों का एक-दूसरे के ऊपर आना देखा जायगा।

वे कला की विशुद्ध कृतियाँ नहीं होंगी। यदि कलात्मकता हटा ली जाय तो वे विषय की रूक्षता के कारण निम्न कोटि के साहित्येतर वाङ्मय की श्रेणी में आ जायेंगे। इस प्रकार हमने देखा कि इतिहास, दर्शन, गवेषणात्मक निबन्ध अपने विशुद्धरूप में आकर्षण नहीं रह जाते और कलात्मक का समावेश कर देने से कुछ आकर्षण-सिद्ध तो कर लेते हैं, पर विशुद्ध कलाकृति के द्वारा प्राप्त आनन्द अथवा उसके आकर्षण का सामना नहीं कर सकते। विशुद्ध कला-कृति में भी यदि कहीं प्रयोजन अथवा प्रकट उपदेशात्मकता का प्रयोग हो जाता है तो उसका भी महत्व घट जाता है। उपन्यास में ये दोनों बातें अपने सहज रूप में सम्भव हो जाती हैं। उसमें प्रसंगवश आई हुई इतिहास या दर्शन या इसी प्रकार की कोई और बात स्वाभाविकता की सृष्टि करती है और साथ ही उसमें कल्पना प्रधान होने के कारण भाषा-सौष्ठव तथा शैली की निर्मलता रहती ही है अतः अन्य विषयों का आरोप होते हुए भी उसमें विशुद्ध कला-कृति का-सा आकर्षण रहता है।

ई० एम० फार्स्टर ने इस विषय पर इन शब्दों में प्रकाश डाला है—"इतिहास वास्तविक घटनाओं की साक्षी पर निर्भर रहता है। उपन्यास में घटनाएँ साक्षी रूप में होती अवश्य हैं पर उनमें कुछ और मिला होता है या वास्तविक घटनाओं से कुछ निकाला हुआ होता है। यह ऊपर से मिलाई जाने वाली या उसको सुधार कर काट-छाँट करने वाली अज्ञात प्रभावोत्पादक संख्या उपन्यासकार का स्वभाव विशेष होता है और इसी कारण जो साक्षीभूत घटनाएँ होती हैं उनका प्रभाव अवश्य ही घट या बढ़ जाता है और कभी-कभी तो उन तथ्यों को पूर्ण रूप से पलट भी देता है[1]। इतिहास का सम्बन्ध मानव के व्यक्त रूप से रहता है। उपन्यास की यह विशेषता है कि वह मानव-हृदय के अन्तराल में प्रविष्ट होकर उसके स्वरूप का दर्शन करता है।

उद्देश्य की दृष्टि से उपन्यास और इतिहास में बहुत बड़ा मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही जीवन के सत्य का उद्घाटन करने में प्रयत्नशील हैं। उनमें

---

1 "...History is based on evidence. A novel is based on evidence. X, the unknown quantity being the temperament of the novelist and the unknown quantity always modifies the effect of the evidence, and sometimes transforms it entirely."

—E. M. Forster : '*Aspects of the Novel*'—p. 44.

अन्तर साध्य का नहीं, साधन का है। इतिहास तथ्य पर अधिकाधिक आधारित होने के कारण अपेक्षाकृत नीरस होता है। उपन्यास ऐतिहासिक सत्य के ही आधार पर न चल कर सम्भावित सत्य को ही ग्रहण करता है। इस प्रकार उपन्यास अपेक्षाकृत अधिक सरस एवं प्रभावोत्पादक होता है। इस विषय में डा० गुलाबराय का यह कथन दृष्टव्य है कि उपन्यासकार संजय की सी ही दिव्य दृष्टि नहीं रखते जो केवल 'किंकुर्वन्ति' [१] का ही उत्तर दे सकें, वरन् वे 'किंविचारयन्ति' का भी उत्तर देते हैं। इसीलिये उनकी कथा भीतर-बाहर दोनों ओर से पूर्ण होती है। वे सच्चे कवि की भाँति रवि की गति से भी परे असूर्यस्पर्शी मानस लोक निवासिनी वृत्तियों और भावनाओं का भी आवरण हटा कर उन्हें आलोक में ले आते हैं और हमारे कौतूहल की पूर्ण तृप्ति कर देते हैं। यही तो उपन्यासकार और इतिहासकार में अन्तर है[२]।

जातीय उत्थान-पतन के क्रम और राष्ट्रीय चेतना के विभिन्न स्वरूपों का लेखा-जोखा इतिहास की वस्तु है, किन्तु उपन्यासकार एक वैज्ञानिक के रूप में प्रयोगात्मक शैली द्वारा नाना घटनाचक्रों एवं विविध परिस्थितियों का निर्माण करता है और उनके द्वारा उस सत्य का दर्शन करना चाहता है जो जीवन का सत्य बन कर मानवता के स्वरूप का विन्यास कर सके। और इसी रूप में उपन्यास सदैव अपने में एक मौलिक कृति हुआ करती है।

विज्ञान और उपन्यास

इतिहास, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि की ही भाँति विज्ञान भी उपन्यास का आरंभ से ही प्रतिद्वन्द्वी रहा है। विज्ञान का आरम्भ होते ही उसने सबसे पहले मानसिक स्थिति का परिष्कार करना आरम्भ किया

---

१ 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैवकिमकुर्वत संजय ॥ १ ॥—(गीता अध्याय १, श्लोक, १)

ऐसा कहा जाता है कि संजय को दिव्य दृष्टि का वरदान मिला था। वह अपने स्थान पर बैठे-बैठे युद्ध-भूमि में जो कुछ हो रहा था उसके हूबहू आँखों देखे हाल की तरह वर्णन कर सकते थे। अन्धे धृतराष्ट्र के कारण यह सुविधा मिली थी।

२ डा० गुलाबराय—'उपन्यास का शरीर विज्ञान'—साहित्य सन्देश आगरा उपन्यास अंक (अक्टूबर—नवम्बर १६४०)

वैज्ञानिक युग के उदय होते ही प्राचीन मान्यताओं को चुनौती दी गई। सामाजिक रूढ़ियों पर भी धक्के पर धक्के लगे। समाज के कुछ भागों में नई नई बातों में रुचि बढ़ने लगी थी। बौद्धिक लोगों का ध्यान पूर्णतया वैज्ञानिक शोध कार्य की ओर चला गया। उसी शोध कार्य की प्रवृत्ति ने साहित्य पर सबसे पहला प्रभाव उसके संवाहक गद्य पर डाला। इंगलैण्ड में वैज्ञानिक युग के उदय के साथ ही प्रसिद्ध रायल सोसाइटी की स्थापना हुई। इसके सदस्यों में विद्वज्जन धर्म गुरु लोग, विचारक तथा प्रयोगात्मक शोध में लगे वैज्ञानिक लोग सभी तो थे। उन्होंने अपने ऊपर वैज्ञानिक आलोक के नवयुग का नेतृत्व करने का दायित्व स्वीकार किया। सबसे पहला काम इस सोसाइटी का यही हुआ कि इसने प्रचलित गद्य का संस्कार कर समयोचित प्रकार के सादगी के गद्य को जन्म दिया और इसी गद्य का मूल्य आगे चल कर कथा साहित्य के लिये महदुपयोगी सिद्ध हुआ।

गद्य के परिष्कार के सम्बन्ध में यह व्यापक धारणा है पर बेकर के अनुसार 'करेक्टरी' के लेखकों ने उस समय के कल्पनात्मक साहित्य को सुधारा तथा तदनुरूप गद्य का निर्माण भी किया। अनेक डायरियाँ तथा जीवनियाँ लिखी गईं। विज्ञान का प्रभाव फिक्शन को इससे आगे नहीं ले आया।

भारतवर्ष में भी उपन्यास के प्रकट होने के समय तक पाश्चात्य विज्ञान का प्रभाव पूरा-का-पूरा विचार एवं साहित्य के जगत में प्रतिफलित हो चुका था। पहले लोग प्राचीन धर्म कथाओं में रुचि लेते थे। आदर्श एवं अलौकिक चरित्र लोगों की रुचि का आकर्षण थे। इसी की अवतारणा भारत में उपन्यास के उदयकाल में ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में हुई। उसमें अतीत के गौरव की प्रतिष्ठा एक बार फिर की गई थी। परन्तु विज्ञान के प्रचार ने रोमांस एवं ऐतिहासिक उपन्यास दोनों को ही निष्क्रियता का प्रमाण मान कर लोगों का ध्यान विज्ञान के नीरस पर अद्‌भुत और वैभव की ओर आकर्षित किया।

प्रारंभ की चकाचौंध के बाद लोग फिर एक बार विज्ञान एवं काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करने की मानसिक स्थिति में आये। यह मुक्त कंठ से स्वीकार करना पड़ता है कि विज्ञान ने बहुत सी बातों को स्पष्टरूप से जनता के सम्मुख रखा। पर अपने सब प्रयत्नों की चरम उपलब्धि के रूप में प्राकृतिक तत्वों की जाँच, उनकी सूची का निर्माण तथा उनको स्पष्ट करने की क्षमता ही ली जा सकती है, पर अपने साधारण मानवीय व्यवहारों में हम इसको इस रूप

में भी स्वीकार नहीं करते। भले ही विज्ञान हमें उनका खुला हुआ ज्ञान सुलभ कर दे, पर तो भी उनके प्रति हमारा सौन्दर्यात्मक तथा रहस्यात्मक भाव रहता ही है। यह बात भी ठीक है कि उनके आंशिक सौन्दर्य का दर्शन तथा स्वल्प मात्रा में रहस्य भेदन विज्ञान की सहायता से भी किया जा सकता है पर वह अपने पूरे रूप में तथा अपने में निहित सौन्दर्य एवं रहस्य को पूर्ण रूप से स्पष्ट करते हुए हमारे जीवन के सीमित क्षणों में हमारी अनुभूति के माध्यम से प्रकट होते हैं। उन्हीं क्षणों में हम अपने अन्तर में आन्दोलित होकर हर्ष अथवा विस्मय, कृतज्ञता अथवा श्रद्धा-मिश्रित भय के भावों की उच्चतम मानसिक स्थिति में पहुँचते हैं। इन्हीं क्षणों में साहित्यिक कृति का जन्म होता है। जो ज्ञान की स्पष्टता में नहीं मिलता उसकी उपलब्धि साहित्य द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान की आंशिक उपलब्धि की पूर्णता के पूरक रूप साहित्य को उससे ऊँचा स्थान देना ही होगा।

इस संबंध में 'लेहन्ट' का कविता और विज्ञान का अन्तर एक फूल के वर्णन को भिन्न-भिन्न लोगों (माली, वैज्ञानिक एवं कवि) के शब्दों में प्रकट किया गया है। इसी प्रकार हम विज्ञान एवं उपन्यास के विषय में यह तथ्य स्थापित कर सकते हैं। संसार में प्राकृतिक सौन्दर्य, जीवनरहस्य तथा सामाजिक समस्या का विश्लेषण कितनी ही उत्तम वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा स्पष्ट क्यों न किया जाय, उनके माधुर्य, सौन्दर्य, रहस्य तथा स्वरूप का निर्माण शब्दों के माध्यम से काव्य में ही हो सकता है। इस तथ्य के क्रियात्मक रूप का निदर्शन ज़ोला के उपन्यासों के माध्यम से किया जा सकता है।

विज्ञान ने इतिहास एवं सामाजिक अर्थशास्त्र के साथ ही साथ कथात्मक साहित्य का भी दार्शनिक आधार प्रदान किया है। इसके प्रभाव के कारण नवीन रचनाओं में जातियों के आन्दोलन, राष्ट्रों, सभ्यताओं और संस्थाओं के विकास का स्पष्टीकरण कार्लाइल के द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं प्रस्तुत किया गया, प्रत्युत उसे भौतिक परिस्थितियों के अनिवार्य परिणाम के रूप में उपस्थित किया गया। भिन्न-भिन्न देशों साहित्यिक यथार्थवाद का विकास उन देशों की राष्ट्रीय प्रकृति के अनुसार हुआ। यथा फ्रान्स में मस्तिष्क के तर्क-शील स्वभाव ने फ्लाबेयर के मैडेनबोअरी (१८५६ई०) को जन्म दिया, उसका यह सर्वोत्तम ग्रन्थ यथार्थवादियों का वेद-पुराण बन गया। उसके अनुगामी गानकोर्ट बन्धु और जोला कला को भौतिक प्रभाव जन्य होने के सिद्धान्त की सीमा में बांधने के अत्याग्रही सिद्ध हुये। जोला तो अपने 'ल-

रोमां एक्सपेरिमान्ताल' शीर्षक लेख में उपन्यास की परिभाषा ही मानवीय जीवन में वैज्ञानिक प्रयोग के रूप में की। यह निरीक्षण की परिधि में आये हुये तथ्यों को लेता है, उनको मौलिक पदार्थों की जाँच-पड़ताल की प्रक्रिया में प्रयुक्त ढंग से एक-दूसरे से मिलता है और ठीक तथा तर्क सम्मत परिणामों तक पहुँचता है। उसने यह स्थापना की कि वे वैज्ञानिक के कार्य को आगे बढ़ाते हैं सारे यूरोपीय देशों में एक समय में इन प्राकृतिक-वादियों के सिद्धान्त का बोलबाला था यद्यपि वहाँ तक जोला के द्वारा अति की सीमा को पहुँचाए हुए अतिवाद की भाँति न था[1]। रूसी लेखक चेकोव ने इस सिद्धान्त का पिष्टपेषण करते हुये कहा है कि प्रकृतिवादी भौतिकता (matter) में सत्य की खोज करते हैं। उस के अनुसार और कहीं उसे खोजा भी नहीं जा सकता, क्योंकि वह केवल जड़ पदार्थ को ही देख सकते हैं, सुन सकते हैं और उसका मान प्राप्त कर सकते हैं—जड़-पदार्थ के बाहर न तो ज्ञान है न अनुभव, और परिणामतः सत्य भी नहीं है।

इंगलैण्ड में इस सिद्धान्त का आधिकारिक ढंग से प्रबलता से तीव्र विरोध किया गया। यह सिद्धान्त धार्मिक भावना को भी ठेस पहुँचाता था —इस सिद्धान्त में मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्ण अवहेलना थी। सब से बड़ी बात जो थी वह यह थी कि प्रकृति की अनुकृति की पूर्ण पराकाष्ठा होते हुये भी उनमें उसका उल्लेख होने से वह बच रहता था जिस को मौलिक पकड़ में नहीं ला सकते थे। उपन्यास में इसी 'अनमेन्शनेबुल' का शब्दों में उल्लेख करने का प्रयास रहता है और यही उपन्यास विज्ञान से बाजी मार ले जाता है। जब

---

1 "......Science furnished a philosophic basis for history and social economy as well as for fiction. Zola, indeed, in Le Romen Experimental defined the novel as scientific experiment in human life. It takes observed facts and combines them, as in the process of physical investigation, arriving at an exact and determined result.' We novelists' he declared, continue by our observations and experiments the work of the physiologists, do continue that of the physicist, and chemist".

— R. N. LOVETT AND H. S. HUGHE: '*The Htstory of the Novel in England.*

यथार्थवादियों अथवा प्रकृतिवादियों के द्वारा उपन्यास में 'अन्मेन्शनेबुल' का शाब्दिक अर्थ लिया जाता है तो उपन्यास समाज की 'गटर रिपोर्ट' से बढ़ कर नहीं रह जाता । अपनी हिन्दी भाषा में 'फ्लावेयर' और 'ज़ोला' का अनुकरण कुछ इसी ढंग पर हुआ है । ऐसे उपन्यास, किसी भी भाषा में क्यों न हों, साहित्य की कोटि में नहीं रक्खे जा सकते । अतः उनके विषय में चर्चा करना ही व्यर्थ है ।

उपन्यास तथा उपन्यासेतर साहित्य

अभिव्यंजन-प्रणाली की दृष्टि से साहित्य क्षेत्र में आने वाली समस्त रचनाओं के पाँच प्रधान भेद किये जाते हैं—कविता, नाटक, निबन्ध, गद्य-काव्य तथा उपन्यास और कहानी । आधुनिक साहित्य में भ्रमण, डायरी, पत्र, जीवनी, आत्म-कथा और रिपोर्ताज के नाम से नई विधाएँ जुड़ी हैं । यहाँ पर हम उपन्यास से अन्य साहित्यिक विधाओं के सम्बद्ध होने की चर्चा करेंगे ।

प्राचीन काल में साहित्य की समस्त विधाओं में कविता का शीर्ष स्थान था । काव्य एक ओर तो कविता का वाचक बन गया और दूसरी ओर साहित्य का भी पर्याय बना रहा । साहित्य के इतिहास में काव्य-कर्म प्रायः कविता की उपासना तक ही सीमित था । उपन्यास गद्य की विधा होने से प्रायः कविता से पृथक् समझा जाता था । गद्य और पद्य के स्थूल अन्तर के अतिरिक्त उपन्यास और कविता की सबसे बड़ी भेदक विशेषता यह थी कि उपन्यास में पाठक का मन अधिकतर घटना-चमत्कार से ही अनुरंजित होता था, जबकि कविता के भावों में वह पूर्ण रूप से रम जाता है । उपन्यास में हम प्रायः आगे की बात को जानने की उत्सुकता में आगे बढ़ते रहते हैं पर कविता में हम एक ही पद का बार-बार रसास्वादन करके भी तृप्ति नहीं पाते । कविता और उपन्यास की भाव-ग्राहिका शक्ति में भी अन्तर होता है । कविता का आनन्द थोड़े सहृदय ही ले पाते हैं, क्योंकि अर्थ प्रायः अपने प्रकृतरूप में नहीं रहता । वह भाव-विधान और उक्ति-वैचित्र्य से दबा रहता है । किन्तु उपन्यासों की भाषा अपना काम खुल कर करती है और इसलिये सर्व-जन-सुलभ है ।

अंग्रेजी का मध्ययुगीन रोमांस तो सम-सामयिक काव्य का रक्त सम्बन्धी था । फील्डिंग से थैकरे तक उपन्यास और काव्य में कोई अधिक साम्य नहीं था । उसमें जीवन के उस कल्पनाशील आध्यात्मिक दर्शन का विशिष्ट अभाव था जो समान ख्याति-सम्पन्न काव्य का स्वभावजन्य गुण था । वे मनुष्य की अपेक्षा व्यवहार शिष्टाचार का, अस्तित्व की सम्पूर्ण सृष्टि एवं अपनी चेतना के अति-

दूरस्थ छोरों के साथ मानव के सम्बन्धों की अपेक्षा सामाजिक सम्बन्ध का उपन्यास था। जब रोमानी काव्य की प्रकृति की उपन्यासों पर प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई, जिस समय वह काव्य अपनी इहलीला समाप्त करता सा जान पड़ता था, एक बहुत समय से खोई हुई वस्तु की पुनः प्राप्ति हुई। कथा पुनः काव्य के निकट सम्पर्क में आ गई, और ऐसे काव्य के साथ जो उससे कहीं अधिक दार्शनिक एवं कल्पनाशील था और जिसने प्राचीनयुग में रोमांस को जन्म दिया था। ब्रान्ते से मेरेडिथ, हार्डी एवं कानराड तक आधुनिक उपन्यास अपनी अभिव्यक्तियों में लगभग काव्य के समान ही बहुरूपधारी, विस्तृत-परिधि वाला साधन बन गया। कल्पना, मन्तव्य में बैठने वाली अन्तर्दृष्टि से अधिक व्यापक एवं गहनतर दृष्टि क्षमता, जहाँ तक वह चेतना के अधिक विस्तृत क्षेत्रों का चिन्तन करती है, उपन्यास में पुनः प्रतिष्ठित की गई, केवल स्वच्छन्द रोमांस में बरबाद होने के लिये नहीं, प्रत्युत तर्क और सृजनात्मक शक्ति के संश्लेषण में उपयुक्त अभिव्यक्ति पाने के लिये।[1]

भारतीय उपन्यास के विकास में उद्धरणी हुई। बंगला, मराठी एवं हिन्दी में बंकिम के ऐतिहासिक तथा घटनापूर्ण उपन्यास तथा हरिनारायण आप्टे के इतिहास के विचित्र तथ्यों से युक्त उपन्यासों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे

---

1 "Medieval romance was the blood relation of contemporary poetry. There was not much in common with poetry in the novel from Fielding to Thackeray...The modern novel, from the Brontes to Meredith, Hardy, and Conurad became an instrument of vast compass, almost as Protean inits manifesta tions as poetry itself. Imagination a faculty of wider and deeper vision than the penetrating insight into motive which Fielding called discovery and invention, in as much as it contemplated wider regions of consciousness, was restored to the novel, not to waste itself in mere libertine romance, but to find adequate expression in a synthesis of reason and creative energy, of the Prose and poetry of life...prose fiction had its rise in poetry : it has reasserted its kinship to poetry".

—ERNEST. A. BAKER—*'The History of the English Novel'*, Ps. 298-299.

गये। आरम्भ में किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यास नाम मात्र को ऐतिहासिक थे। मनोरंजन और कुतूहल की सृष्टि उनका एकमात्र उद्देश्य था। गंभीर साहित्य के विलोम के रूप में उनकी अवतारणा हुई थी। पर प्रेमचन्द के प्रवेश करते ही उपन्यास में मंतव्य के साथ साहित्यिकता और काव्यमयता दोनों के ही गुण आए। बंगला के रमेशचन्द दत्त और रवीन्द्र बाबू के उपन्यासों के अनुरूप चंडीप्रसाद 'हृदयेश' (मंगल प्रभात) तथा प्रसाद जी के उपन्यासों में काव्यत्व कवि का व्यक्तित्व बन उभरा और उपन्यास इन लोगों के हाथ में वास्तव में गद्य का काव्य ही बन गया। उपन्यास अपने आधुनिकतम रूप में (भगवतीचरण वर्मा—'चित्रलेखा' फणीन्द्रनाथ रेणु 'परती परिकथा' अमृतलाल नागर 'बूँद और समुद्र' हजारीप्रसाद द्विवेदी—'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि) तो काव्य का स्थानापन्न बन गया है। इन्हें हम सच्चे अर्थों में गद्ययुग के काव्य-ग्रन्थ कह सकते हैं। सच पूछिये तो कविता में प्रयोगवाद की परम्परा ने उसे काव्यत्व से गद्यत्व की ओर खींचा है और आज का अच्छा साहित्यिक उपन्यास (मैला आंचल, बलचनमा, बहती गंगा) धरती के गीतों (ग्राम-गीतों) का-सा वातावरण लिये हुए काव्यत्व के अधिक निकट आ गया है।

उपन्यास वास्तविकता के संसार से सम्बन्ध होता है। वह तथ्यों का प्रयोग करता है या ऐसी बातों का प्रयोग करता है जो उपन्यासकार यथाशक्ति तथ्य के सदृश बना लेता है। उसका उद्देश्य होता है जैसा संसार है वैसा ही संसार अपने प्रयत्न से प्रस्तुत करना। उसका उद्देश्य अपने मन के नये संसार को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करना नहीं होता। कविता का संसार इस संसार के उपादानों से बना नहीं होता वह तो भावना का संसार होता है। वह मर्त्य लोक से संबद्ध नहीं होता, वरन् कालातीत उपादानों से निर्मित होता है। वह अविनाशी विचारों का संसार होता है अथवा पूर्ण यथार्थ के ही उपादानों को लेकर जैसा भी चाहे कवि उसे बना दे। इस प्रकार कविता सृजनात्मक होती है जब कि उपन्यास विश्लेषणात्मक होते हैं।

जीवन कवि के पीछे रहता है जहाँ से वह उसकी कल्पना को प्रेरित करता रहता है और उसे साधे रहता है ? यह गद्यात्मक कलाकार के सामने रहता है और उसकी सावधानता, उसकी उत्सुकता तथा उसके चिन्तन का लक्ष्य बना रहता है। जब वह उसे चित्रित करता है तो उसका यह उद्देश्य होता है कि वह उस अर्थ (अभिप्राय) को बाहर निकाल कर लाए जो संसार में उसके लिए निहित रहता है। कवि ने भी भले ही संसार में रह कर नई बातों की खोज कर ली हो, भले ही उसने खोज की हुई बातों पर विचार भी कर लिया

हो, भले ही उसे विज्ञान एवं व्यवस्थित अनुभव का अभाव न हो, पर इन सब से वह अपनी आँखें फेर लेता है और जो उसके स्व के अन्तर्गत होता है उसी को चित्रित करता है।

कविता में नवीन को आलोचना गौणरूप से होती है क्योंकि यह एक ऐसे आदर्श संसार का चित्र प्रस्तुत करती है जिससे हम आज के जीवन की परख किये बिना नहीं रह सकते। इसी अर्थ में सभी आदर्श वास्तविकताओं की आलोचना होती है। इसके विपरीत उपन्यास जीवन की सीधी व्याख्या प्रस्तुत करता है, और साहित्य की सभी विधाओं में एकमात्र यही (उपन्यास की) विधा ऐसी है जिस पर मैथ्यू आर्नल्ड की प्रसिद्ध युक्ति सबसे अधिक ठीक ढंग से लागू होती है।

ईश्वर अकेला था। उसने संसार रचा। कलाकार ने एकान्तिक अकेलेपन का अनुभव किया और उसने उपन्यास की रचना की। जीवन में सब रस हैं, विविधता का वैभव है। वह ईश्वर का महाकाव्य है। उपन्यास में भी सब रस हैं, वह जीवन का महाकाव्य है। महाकाव्य आरम्भ में लोक गीतों में पलता है और परम्परा के पैरों से घुटनों के बल चल कर आगे बढ़ने की चेष्टा करता है। उपन्यास अपनी आरंभिक अवस्था में जनश्रुतियों में वास करता है। महाकाव्य प्रतिमा की अपेक्षा करता है। खण्ड-काव्य तो महत्व के साधारणत्व का व्यक्तरूप होता है। उपन्यास प्रतिनिधि प्रतिभा का सफल आख्यान होता है। अन्य कहानियाँ साधारण कुतूहल की गाथा।

कविता का जो रूप उपन्यास के कुछ समीप है वह है महाकाव्या। उपन्यासों को गद्य का महाकाव्य कहा भी गया है। इसी प्रकार महाकाव्यों को भी हम पद्यमय उपन्यास कह सकते हैं। उपन्यास और महाकाव्य दोनों में ही व्यक्ति तथा उनसे संबद्ध घटनाएं दोनो के घटित होने का क्रम-विशेष होता है। दोनों वर्णन प्रधान होते हैं और विषयप्रधान भी। दोनों में लेखक कृति में घुला-मिला रहता है। दोनों तरह के काव्यों में जीवन की विविध दशाएं सामने लाने वाले घटनाचक्र वस्तु-वर्णन और भाव-व्यंजना के ठीक-ठीक परिमाण की व्यवस्था अपेक्षित होती है। कथा-प्रवाह या संबंध-निर्वाह उपन्यास और महाकाव्य दोनों की प्रधान आवश्यकता है।

उपन्यास और महाकाव्य इतने समीप होते हुए भी भिन्न-भिन्न कृतियाँ हैं। महाकाव्यों का अलग ही आदर्श होता है। महाकाव्य में उदात्त चरित्रों के महत्कार्यों की प्रतिष्ठा की जाती है। वर्णन-वैचित्र्य, काव्योचित गुणों का

समावेश तथा अद्भुत अलौकिक तथा अतिमानवीय तथ्यों का समावेश भी महाकाव्य की अपनी विशेषता होती है।[1] उपन्यास इतर जन को भी अपना 'हीरो' बनाता है और साधारण जीवन-क्रम में रोचकता का सन्निवेश करता है। उसमें अधिकतर यथार्थ का चित्रण होता है और सजीवता ही उसकी सफलता का रहस्य होती है। 'तुलसी' के राम का शासन समुद्र की लहरों पर भी है, वहाँ पानी पर पत्थर तैरते हैं और शाखामृग नभचारी होते हैं तथा एक चुल्लू में समुद्र उलीच दिया जाता है। परन्तु यदि कोई 'प्रेमचंद' या 'कौशिक' ऐसी [illegible] का सन्निवेश अपनी रचना में करे तो 'चन्द्रकान्ता' की भाँति उसकी रचना साधारण जन के लिये आकर्षक भले ही हो जाय, किन्तु उसे गम्भीर साहित्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकेगा। उपन्यासकार की कल्पना के पंख कवि-कल्पना की भाँति उन्मुक्त नहीं होते, उनके पैरों पर यथार्थता का बंधन (नियंत्रण) होता है। उपन्यासकार की दिव्य-दृष्टि रवि-रश्मि से स्पर्धा नहीं करती, वह तो अपने घर को ही, अपने जगत की ही, भली भाँति देख कर सन्तुष्ट होती है।[2]

बाबू गुलाबराय भी इसी प्रकार उपन्यास और महाकाव्य के अन्तर को बताते हुए कहते हैं : "उपन्यास में महाकाव्य का-सा वर्णन अवश्य होता है किन्तु वह महाकाव्य नहीं। महाकाव्य के नायक-नायिका कुछ जातीय महत्व रखते हैं। राम या कृष्ण आदि महाकाव्यों के नायक जाति की भावनाओं और संकृति का प्रतिनिधित्व करते हुए हमारे सामने आते हैं। उनका व्यक्तित्व जाति के श्रेष्ठतम भावों से बनता है। उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है।"[3]

शिवनारायण श्रीवास्तव भी इस सम्बन्ध में एक विशेष बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं:—"यहाँ (महाकाव्य और उपन्यास के सम्बन्ध में) यह ध्यान रखना चाहिये कि महान् व्यक्तियों और महान् घटनाओं का वर्णन महाकाव्य का लक्षण नहीं उपलक्षण मात्र है। यदि 'उपन्यास' के वर्तमान रूप का विकास

---

१. विश्वनाथ—'साहित्यदर्पण पृष्ठ परिच्छेद श्लोक (३१५-३२४)
२. शिवनारायण श्रीवास्तव— 'हिन्दी उपन्यास' पृ० ४
३. बाबू गुलाबराय "उपन्यास का शरीरविज्ञान" साहित्य-संदेश (उपन्यास अंक) पृ० ४८ (अक्टूबर-नवम्बर १९४०)

महाकाव्यों के सुदूर युग में हो गया होता तो संभव है कि महाकाव्यों में भी इसी आदर्श की स्थापना होती। आज दिन तो महाकाव्यों का अर्थ ही रूढ़-सा हो गया है, परन्तु महाकाव्य में भी अब सामान्य व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं के सन्निवेश की रुचि लक्षित हो रही है........इसलिये महाकाव्यों की अवनति का प्रधान कारण उपन्यासों की वृद्धि भी बताया जाता है।"[१]

वर्त्तमान समय में पद्य के माध्यम से महाकाव्य में अकृत्रिमता का-सा समावेश करना प्रतीत होता है। गद्य के युग में उपन्यास में पद्य के माध्यम को छोड़कर उसकी सब विशेषताएँ पाई जाती हैं। जिस प्रकार प्राचीनकाल में महाकाव्य युग-पुरुष की कवि-कृति के रूप में युग के संदेशवाहक होते थे उसी प्रकार भविष्य में उपन्यास ही युगचेतना का नियामक होगा और उपन्यास के 'प्लाट' पर ही युग-प्रवर्तक का स्थायी 'प्लेट फार्म' बनेगा, ऐसा विश्वास दृढ़ होता जा रहा है।

साहित्यिक विधाओं के ऐतिहासिक अध्ययन में निश्चय ही नाटकीय विधा अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होती है। भरत मुनि का नाट्य शास्त्र इस कथन का अकाट्य प्रमाण है। संस्कृत-साहित्य में तो नाटक ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था। अंग्रेजी साहित्य के स्वर्ण-युग का इतिहास और उस साहित्य में शेक्सपिअर का शीर्षस्थानीय होना उस समय के विश्व-साहित्य में नाटक की महत्ता का शाश्वत प्रमाण है। आधुनिक साहित्य की दो प्रमुख विधाएँ नाटक और कहानियाँ उपन्यास के अत्यधिक निकट हैं। स्पष्ट रूप से बाहर से देखने पर नाटक और गद्यात्मक कथा-साहित्य में एक ही प्रकार की साहित्यिक कच्चेमाल की सामग्री का उपयोग होता है। पर उसके साथ ही साथ यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि उस आधारभूत सामग्री (कच्चे माल) का उपयोग नाटक और उपन्यास में अलग अलग ढंग पर होता है।

यह तो पहले ही देखा जा चुका है कि उपन्यास के अस्तित्व का आधार है मनुष्य की वह प्रवृत्ति जिसके कारण सदैव और सर्वत्र, पुरुष और स्त्रियाँ प्रबल मानवीय मनोवेगों एवं आकांक्षाओं तथा कृतियों के सामने फैले हुए विस्तार में दूसरे स्त्री-पुरुषों में रुचि लेते हैं। साहित्य के पीछे यही प्रवृत्ति सदैव व्यापक तथा सब से अधिक शक्तिमती प्रेरणा रही है और यही प्रवृत्ति परिवर्तित होती हुई सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों के कारण अभिव्यक्ति के विविध

---

१. शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास'

प्रकारों का उन्नयन भी करती है। एक स्थान पर वह महाकाव्य के रूप में प्रकट होती है तो दूसरे स्थान पर वह नाटक के रूप में दिखाई देती है, अभी वह संगीतात्मक जनप्रिय गाथा 'बैले' के रूप में दिखाई पड़ रही है तो कुछ समय के पश्चात् वह रोमांस का रूप धारण करके हमारे सामने आती है। अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकारों में सब के बाद विकास स्थिति में आने वाला उपन्यास ही है। यह साहित्यिक विधा इस समय सबसे बड़ी भी है और पूर्ण भी। विस्तार और व्यापकत्व की दृष्टि से यदि कोई अन्य साहित्यिक विधा उपन्यास की तुलना में ली जा सकती है तो वह नाटकीय विधा ही है। पर और सब बातों को छोड़ते हुए (जिनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है) यह बात ध्यान में रखने की है कि नाटक विशुद्ध नाटकीय विधा के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह एक मिश्रित कला है जिसमें साहित्यिक तत्व रंगमंच तथा अभिनय ने तत्वों के साथ घुले मिले हैं। उपन्यास इन गौण कलाओं से स्वतंत्र हैं; उपन्यास तो, जैसा कि मैरियन-क्राफोर्ड ने बड़े अच्छे ढंग से कहा है, 'एक जेबी ड्रामा[1]' होता है जिसमें न केवल कथावस्तु एवं अभिनेताओं का अभिनिवेश होता है, प्रत्युत वेश-भूषा, दृश्य तथा नाटकीय प्रदर्शन की अन्य सहायक-वस्तुओं का समावेश भी होता है। यह बात उपन्यास और नाटक के तुलनात्मक अध्ययन पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाली है। स्पष्ट है कि जिन नाट्य शास्त्र के नियमों तथा नाटकीय परंपराओं से नाटकीय विधा सदैव बाधित रहती है उनसे मुक्त होने के कारण उपन्यास को गति-स्वातन्त्र्य पर्याप्त अवकाश, और एक प्रकार का लचीला-

---

१ "……उपन्यास एक प्रकार की कहानी है। या यों कहें कि उपन्यास में और कुछ हो या न हो उसमें एक कहानी जरूरी रहेगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिसे हम आज-कल 'कहानी' कहने लगे हैं उसमें 'कहानी' का अंश कभी-कभी इतना कम हो जाता है कि उसे 'कहानी' कहने में संकोच होता है।……नाटक में कहानी होती है पर नाटक विशुद्ध साहित्य नहीं है-उसे स्टेज की सहायता लेनी पड़ती है जब कि उपन्यास विशुद्ध साहित्य है और अपनी पॉकेट में स्टेज लिये फिरता है। 'इसी बात को किसी ने और ढंग से कहा है कि नाटक अत्यन्त ठोस जाति का साहित्य है और उपन्यास अत्यन्त श्लथ जाति का।' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' 'उपन्यास' 'सहित्य-सन्देश', भाग ४, अंक-२-३ (उपन्यास अंक) अक्टूबर-नवम्बर-१९४०, पृष्ठ ४२

पन मिलता है जो नाटक का अच्छे-से-अच्छा विकसित रूप भी प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर उपन्यास अभिनयात्मक प्रदर्शन के स्थान पर धारा-प्रवाह-कथन के प्रयोग के कारण वास्तविकता तथा जीवान्त स्पष्टता को जितना खोता है, उससे कहीं अधिक अभिव्यक्ति के गुण दूसरे-प्रकार से पा लेता है। यह भी एक कारण है जिससे कि उपन्यास में जिस प्रकार अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों को अपने से पीछे छोड़ दिया है उसी प्रकार बहुत मानवीय जीवन में साधारण रुचि रखने वाले अंशों में नाटक को अपने शीर्ष स्थान से हटा दिया है और अपने को हमारे पेचीदे तथा बहुपक्षीय आधुनिक संसार की प्रमुख साहित्यिक विधा के रूप में अपने को दृढ़ता से स्थापित कर लिया है। यह भी समानरूप से स्पष्ट है कि नाटक और उपन्यास में एक और बड़ा अन्तर है जो दोनों ही विधाओं का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिये अत्यावश्यक है। नाटक, साहित्य की सर्वाधिक नियंत्रित विधा है और गद्यात्मक कथा-साहित्य उतना ही उन्मुक्त। इस तथ्य से सभी सुपरिचित होंगे कि नाटक के प्रणयन के लिये शिल्प-विधान को हृदयंगम करने का लम्बी अवधि का अभ्यास और रंग-मंच के पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा होती है, जब कि दूसरी ओर जिस किसी के हाथ में कलमें-कागज़ और स्याही हो और थोड़ा सा अवकाश तथा धैर्य भी हो, तो कोई भी उपन्यास लिख सकता है। इस का एक दूसरा पक्ष भी है कि नाटक रचना के नियमों का निरूपण और उसकी जाँच की कसौटी स्थिर करना सरल है। पर यही बात उपन्यास के सम्बन्ध में स्थिर करना उतना ही कठिन है। अपने काव्य के रूप में नाटक और उपन्यास पर विचार प्रकट करते हुये बाबू गुलाबराय लिखते हैं:—"नाटक के पात्र कुछ शब्दों द्वारा व्यंजित करते हैं और कुछ भाव-भंगी द्वारा। दर्शक को कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता। देश-काल और परिस्थिति भी सीन-सनरी द्वारा व्यक्त हो जाती हैं। नाटककार के इन सुभीतों के न होते हुए भी उपन्यासकार को जीवन का सजीव चित्र व्यक्त करना पड़ता है। उपन्यास एक प्रकार का 'जेबी थियेटर' बन जाता है। उसके लिए घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। घर के भीतरी भाग में और वन-उपवन में सभी स्थानों में उसका आनन्द लिया जा सकता है, किन्तु उस आनन्ददान के लिए उपन्यासकार को शब्दचित्रों का सहारा लेना पड़ता है। उपन्यासकार को नाटककार की भाँति समय और आकार का भी प्रतिबन्ध नहीं है। नाटक में उपन्यास की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है।

'उपन्यास और नाटक में एक विशेष अन्तर यह भी है कि उपन्यासकार

अपनी कृति में समय-समय पर प्रकट होता रहता है और स्वयं पात्रों के चरित्र अथवा उनके कार्यों पर प्रकाश डालता रहता है। नाटककार ईश्वर की भांति अपनी सृष्टि में अव्यक्त ही रहता है। वह प्रत्यक्षरूप से कुछ नहीं कहता, जो कुछ उसे कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही कहला देता है।[1]

उपन्यास ने अपने अब तक के विकास में समस्त साहित्यिक विधाओं को आत्मसात कर लिया है। 'दुर्गा सप्तशती'[2] की दुर्गा की भाँति वह सब साहित्यिक विधाओं की शक्ति से सम्पन्न चेतना की वाणी बन रही है। हम उपन्यास में जहाँ एक ओर जीवनी (शेखर एक जीवनी) और आत्मकथा संस्मरण (व्यतीत, श्रीकांत) को घुला-मिला देखते हैं, वहाँ दूसरी ओर पत्र और डायरी (नदी के द्वीप, पामेला) को उपन्यास का अंगीभूत होता हुआ पाते हैं। कहानी तो लघु-कथा (धर्म वीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जीत का 'स्ट्रेट इज़ द गेट') के रूप में उपन्यास की विधा से संश्लिष्ट होकर रह गई है। काव्यात्मकता तथा महाकाव्यत्व तो युग-प्रवर्तक औपन्यासिक की प्रमुख कृति ('गोदान', 'जोन क्रिस्तोफी') की अपनी विशेषता सिद्ध हो रही है। नाटकीयता अच्छे उपन्यास ('मृगनयनी', 'शेष प्रश्न' 'वूदरिंग हाइट') की प्रमुख विशेषता सिद्ध हो रही है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि साहित्य की अन्यान्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास अधिकाधिक आधुनिकतम सृष्टि की सुन्दर कृति है। इसके विकास के परिणामस्वरूप काव्य अथवा नाटक के प्रचार में एक प्रकार का शैथिल्य उत्पन्न हो गया है। उपन्यास की इस सफलता का कारण यह है कि इसने प्रत्येक साहित्यिक विधा से शिल्प-विधान की प्रमुख विशेषताओं को आत्मसात्-सा कर लिया है।

---

१. बाबू गुलाबराय 'काव्य के रूप' प्रथम संस्करण, (सं० २००४ वि०) पृष्ठ, १५२—१५३.

२. 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशंत्यो मद्विभूतयः ॥५॥
ततः समस्ताता देव्यो ब्रह्मणी प्रमुखालयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुवेकैवासीन्तदांबिका ॥६॥
अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।
तत्संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरोभव ॥७॥
—दुर्गा सप्तशती, अध्याय १०, श्लोक, ५-७

उपन्यास के प्रेरक तत्व

उपन्यास का स्वरूप और उसके निर्देशक तत्व

किसी भी साहित्यिक-विधा का तात्विक अध्ययन उसके वाह्य-स्वरूप विस्तार एवं उसके अन्तर्गठन के उपकरणों के विवेचन की अपेक्षा रखता है। उपन्यास नामक साहित्यिक विधा अपेक्षाकृत नवीन होने के कारण अधुनापि प्रयोगावस्था में है। अतः उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निःशेष रूप से कुछ कहना संभव नहीं है। उपन्यास साहित्य की अन्य प्रतिद्वन्द्वी-विधाओं यथा काव्य तथा नाटक को प्राचीन परंपरा की सुविधा प्राप्त है। हिन्दी में संस्कृत साहित्यशास्त्र की आधारभूत परंपरा के कारण काव्य एवं नाटक के स्वरूप उनके प्रेरक तत्वों तथा उनके उपकरणों आदि पर बहुत प्राचीन काल से विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। उनकी स्वयं की अपनी एक स्वतन्त्र परंपरा भी स्थापित हो गई है। विश्व साहित्य में भी काव्य एवं नाटक की प्राचीनता इतिहास-सिद्ध-तथ्य है। वहाँ भी आदि समीक्षक अरस्तू से लेकर अर्वाचीन लेखक आई० ए० रिचर्ड्स तथा टी० एस० इलियट प्रभृति समीक्षकों की रचनाओं में काव्य तथा नाटक के विविध विकसित रूपों की विवेचना प्रस्तुत की जा चुकी है। उपन्यास-विधा पाश्चात्य देशों में भारतीय उपन्यास-विधा से शताब्दियों पूर्व प्रारंभ हो चुकी थी, पर तब भी अन्य प्रतिष्ठित साहित्यिक विधाओं की तुलना में वह नवीनतम ही है। पाश्चात्य साहित्य (रूसी, फ्रेन्च, इटालियन, जर्मन, इंगलिश) में इस बीच में उपन्यास विधा पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है, पर वहाँ इदमित्थं रूप से कुछ भी नहीं कहा गया क्योंकि इस विधा के पाश्चात्य देशीय समीक्षकों को भी इसकी सतत प्रवहमानता का सदैव सजगतापूर्ण ध्यान रहा। उपन्यास विधा संबंधी पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य का आधार भिन्न-भिन्न लेखकों के ग्रन्थ ही रहे। यहाँ भी हिन्दी उपन्यास के स्वरूप को स्थिर करने में पाश्चात्य देशों के विविध प्रकार के उपन्यासों और उनकी समीक्षा तथा अब तक प्रकाशित हिन्दी उपन्यास एवं तत्सम्बन्धी आलोचना साहित्य का ही आधार रूप में प्रयोग किया जायगा।

किसी भी साहित्यिक-विधा के स्वरूप का औचित्य उसमें व्यक्त मंतव्य, आदर्श अथवा अनुभूति के साथ उसकी तादात्म्य अनुरूपता तथा विशिष्टतम रूप में सफल अभिव्यक्ति से ही आंका जाता है। उपन्यासकार का भी अपना एक विशिष्ट करणीय होता है। प्रसिद्ध फ्रेन्च उपन्यासकार मार्शल प्रूस्ट ने अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्दों में अपनी अनन्त की खोज (Quest of Eternity) के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से अपना मत अभिव्यक्त किया है— "मैंने विचारा कि जो इस प्रकार की पुस्तक लिखने में समर्थ होगा वह मनुष्य कितना सुखी होगा; उसके सामने कितना महान् कार्य होगा। वह कैसा होगा, इसका अनुमान करने की क्षमता प्राप्त कराने के लिये उच्चातिउच्च एवं एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न कलाओं से तुल्यता सूचक उदाहरण उधार लेने पड़ेंगे—क्योंकि उस लेखक को (जिसे प्रत्येक चरित्र के सर्वाधिक विरोधी चारित्रिक पक्षों को प्रकट करना पड़ेगा जिससे उसके ग्रन्थ में ठोस होने का गुण आ जाय। अपनी कृति को सर्वांगरूप से सतर्क होकर समस्त विवरण को ध्यान में रखते हुए और उपलब्ध शक्तियों का निरंतर आवश्यकतानुसार वर्गीकरण करते हुए तैयार करना चाहिये। इस कार्य में नैपोलियन की-सी सतर्कता बरतनी चाहिये जो आक्रमण करने के स्थान पर अपनी सारी शक्ति लगा देता था। इस कृति के प्रस्तुत करने के प्रयास को उसे उस थकान की तरह झेलना चाहिये जिसकी परिसमाप्ति कार्य की सफलता में होती है; उस कृति के प्रणयन कार्यभार वाहन को इसी प्रकार स्वीकार करना चाहिये जैसे वेदोक्त-विधि अथवा बाइबिल के कमाण्डमेन्ट्स को सर्वतोभावेन स्वीकार करते हैं; उसका निर्माण उसको उसी श्रद्धायुक्त भावना से (एक ईंट पर दूसरी ईंट इस प्रकार रखते हुए मानो देवविग्रह पर पुष्प के ऊपर पुष्प चढ़ा रहे हों,) एक वास्तुकला-कुशल कारीगर देव-स्थान का निर्माण करता है; उसका उस कृति का दिन-प्रतिदिन उसी नियमित ढंग से आगे बढ़ाने का कार्य चले जिस प्रकार हम भोजन करने के अटूट क्रम का पालन अपने प्रत्याह्निक जीवन में करते हैं और हम अपनी उसी सर्व-शक्तिमता की भावना से अभिभूत होकर उसकी सृष्टि करें जिस सर्व-शक्तिमता की भावना से स्वयं विधाता संसार की सृष्टि करता है। इतना सब करते हुए भी हमें इस बात का ध्यान रहे कि कहीं वे रहस्य एक ओर न छूट जायँ जिनकी व्याख्या कदाचित् अन्य लोगों को छोड़ कर और कहीं न होगी और जिनकी पूर्व धारणा ही कदाचित हमें जीवन एवं कला के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रेरित करती है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी है। वह यह कि किसी कलाकृति के

सामने हम किसी भी प्रकार स्वतन्त्र नहीं होते हैं और न हम उसे जैसा चाहें वैसा मनमाने ढंग से बना ही सकते हैं। उसका अस्तित्व हमारे अंतर में पहले से ही होता है और हम उसको खोजने के लिये इस प्रकार विवश होते हैं मानो उसका खोजना कोई प्राकृतिक नियम हो, क्योंकि वह हमसे छिपा है और उसका प्राप्त करना आवश्यक है। किन्तु यह वह खोज नहीं है जिसे हम कला की सहायता से पूरा कर सकें। सब से अधिक मूल्यवान् खोज तो वह है जो हममें से बहुतों को सदैव अज्ञात ही रहती है--हमारा सच्चा अस्तित्व--एक ऐसी वास्तविकता जिसकी स्वयं हमें अनुभूति हुई है और जो, हम जो अब तक जानते हैं उससे इतनी भिन्नता रखती है कि जब संयोग उसे हमारे लिये अधिकारिक ढंग से अकस्मात् ईश्वरीय ज्ञान की तरह प्रत्यक्ष करता है तो हम आह्लाद से भर जाते हैं।

इस कला की साधना का प्रतिफलितरूप हमें हरिदास, तानसेन, बैजूबावरा, बांत्योल (फ्रेंच) बीथोवेन (जर्मन) आदि के संगीत में अपने शानदार रूप में मिलता है। इन सब गीतकारों एवं संगीतज्ञों का अलग-अलग अनुभव यही रहा है कि उनका संगीत केवल सम-कालीन अन्य संगीतज्ञों के संगीत से ही भिन्न नहीं रहा वरन् स्वयं उनके अपने संगीत में भी आरम्भ में वैसी कोई चीज नहीं रही। उनको स्वयं नहीं मालूम पड़ता कि कहाँ से वह संगीत प्रवाहित हुआ। इस प्रकार प्रत्येक कलाकार किसी ऐसे अज्ञात प्रदेश का निवासी प्रतीत होता है जिसे कि वह स्वयं भूल गया है। अपनी परिपक्वावस्था की कलाकृतियों के माध्यम से वह मानो अपने ही प्रदेश से संबंधित हो जाता है और फिर यावज्जीवन वह उस आदर्शलोक से संबंधित रहता है। यह बात अवश्य है कि इस अज्ञात प्रदेश की स्मृति भले ही न रहे, पर उनके हृदय के तारों का सम्बन्ध उस प्रदेश से जुड़ जाता है, और फिर जो भी कृति उनके द्वारा रची जाती है उसकी ट्यूनिंग उसी अज्ञात् प्रदेश के संगीतात्मक वातावरण से ही होता है और जब वह उक्त अज्ञात् प्रदेश के संगीत को पकड़ पाते हैं तब वह हर्षातिरेक से भाव-विभोर हो जाते हैं। इस ढंग से ये कलाकार ब्रह्माण्ड के संगीत-तत्व को पकड़ लेते हैं और जो ये अपने सधे हुए अन्तर के श्रवण-रन्ध्रों से सुन पाते हैं उसे ही वह अपने संगीत के माध्यम से प्रकट करते हैं। इस विचित्र प्रकार का संगीत हमें इन ईश्वरदत्त प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों के अतिरिक्त और कहीं नहीं सुनाई पड़ता।

इससे हमें दो बातों का पता चलता है—कला के सत्य के प्रश्न और आत्मा

के अमरत्व का सत्य। यह कदापि सम्भव नहीं है कि किस कला-पूर्ति-विशेष अथवा संगीत के पद से हमें उस भावना का अनुभव होता है, जो जितना हमने देखा, सुना या अनुभव किया है उससे कहीं अधिक उच्चकोटि की, कहीं अधिक पवित्र अधिक सत्य हो और जिसका सम्बन्ध निश्चित रूप से आध्यात्मिक वास्तविकता से न हो। यह निश्चय ही आध्यात्मिक यथार्थ का प्रतीक होता है, क्योंकि यह गम्भीरता और शक्ति का आभास देता है। जब हम दक्षिण के किसी मन्दिर को देखते हैं यूरोप के पुराने स्टीपेल (गिरजाघर) को देखते हैं अथवा मार्ग के दोनों ओर खड़ी हुई वृक्षों की पंक्ति (काश्मीर में चिनार वृक्ष की पांति) देखते हैं तब हमें कुछ इस प्रकार के आनन्द का आभास मिलता है। दूसरी बात यह है कि जब हम पूर्णरूपेण विश्लेषण करने में समर्थ नहीं होते हैं,तो हम किसी भी कला-कृति द्वारा मस्तिष्क पर डाले हुए प्रभाव को बहुत महत्व देते हैं[1]।

टैगोर के जीवन की भाँति प्रूस्ट के जीवन में भी एक क्षण आया था जब उसकी माँ ने एक कप चाय और मेडेलाइन उसे दिया था। उस क्षण में उसको जैसा कुछ अनुभव हुआ था वह विचित्र था। प्रूस्ट ने जितना अच्छा विश्लेषण टैगोर की ही भाँति उस क्षण का किया है, और किसी लेखक ने वैसे ही अनुभव के क्षण का नहीं किया है। वह कहता है—"एक उत्तम प्रकार के आह्लाद ने

1. "Two hypothesis," "he says, suggest themselves in all" important questions, questions of the truth of art, of the immortality of the soul...It is not possible that a piece of sculpture, a piece of music which gives us an emotion which we feel to be more exalted, more pore, more true, does not correspond to some definite spiritual reality. It is surely symbolical of one since it gives that impression of profundity and truth. Thus nothing resembled more closely then some such phrase vinteuil the peculiar pleasure which I had felt at cartain moments in my life, when gezing, for instance, at the steeples of Martinville, or at certain trees along the road in in Balbec—The other hypothesis being that we magnify the importance of impressions which we are not able to analyse.

—Proust P. II. p. 233-4.

मेरी इंद्रियों को अभिभूत कर लिया था । वह आनन्द कहाँ से आया था, इस श्रोत का कुछ भी पता न था । वह महान् शक्ति-प्रद आनन्द कहाँ से आया होगा ? मुझे यह ज्ञान था कि उसका सम्बन्ध चाय और केक के स्वाद से था । पर वह स्वाद साधारण स्वाद से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था और उसमें दिव्य स्वाद का आभास भी मिला ।"

दूसरी बार चाय का घूँट पीने पर वह आनन्द नहीं आया, फिर पहले के अनुभव का स्मरण करने पर फिर वह ऐसे स्मृति-पटल पर उसी प्रकार उभर आया जैसे पौसिलेन वाज़ के पानी में जापानी कागज पर इत्यादि उभर आते हैं। चाय के प्यासे का क्षण वह क्षण था, जिसमें इंद्रियों पर पड़ा हुआ प्रभाव असाधारण शक्ति से अतीत को लौटा लाया था और विशेष सुविधा के अन्य क्षण इसी प्रकार के थे ।

ये सब बातें स्मृति में इसलिए आती हैं कि जन्म होने पर हम उस देश को भूल जाते हैं, लेकिन पूरी तौर पर उसे कभी नहीं भूलते । संक्षेपतः एला रिशर्शेदु तांपर्दु (Ala Recherche du Temp perdu) को मानवीय नाटक (Humane Comedy) के स्थान पर दिव्य नाटक ही कहना ठीक होगा । उसमें नरक का भयानक रूप से और बिना कुछ छिपाए हुए पूर्ण वर्णन दिया गया है, पर स्वर्ग का वर्णन भी पूर्णतया अनुपस्थित नहीं है और यद्यपि एम० मारिस ने कह दिया है कि समूचे महान् उपन्यास में ईश्वर अनुपस्थित है और यद्यपि यह भी सत्य है कि उपन्यास का कोई भी पात्र उसके आदेश को पालन करने को तत्पर नहीं है—तथापि एम० मारिस का यह कहना ठीक है कि कथा की प्रवक्ता की दादी और माँ किसी भी अलौकिक सिद्धान्त के हिसाब से न तो पवित्र हैं और न भले ही—तथापि स्वांम (प्रधान पात्र) और कथाकार उसी बात की अभिलाषा करते हैं जो वह (भगवान) मानवमात्र के लिए देना चाहता है और कदाचित बीसवीं सदी में धर्मोदत्तता का यह बड़ा दुर्लभ चिन्ह है । उनमें ये अमर अभिलाषाएँ ही नहीं हैं, वरन् उनमें इस बात की मान्यता भी है कि उनमें डिवाइन ग्रेस की प्राप्ति की अमर अभिलाषा है ।[1]

हम यह भी जानते हैं कि जब उपन्यासकार एक उपन्यास लिखता है तो वह क्या करने का उपक्रम करता है । अन्य कलाकारों की भाँति उपन्यासकार भी निर्माणकर्त्ता होता है । वह अक अनुकरण वस्तु का निर्माण करता है—वह

---

1. Robert Liddell—'Some Principles of Fiction', pp. 158.

अनुकरण करता है मनुष्य के पृथ्वी पर के जीवन का। यह कहा जा सकता है कि जैसा वह देखता है और अनुभव करता है वैसे ही जीवन के काम में आने वाले आदर्शों का निर्माण करते हुए चलता है।"

यह सभी अच्छे उपन्यासकारों के चरित्रों के विषय में सत्य है। उपन्यासकार की कला का एक पक्ष तो है चरित्रों और पाठकों के बीच मध्यस्थता का कार्य करना-और यह कार्य वह कागज पर अंकित किए हुए प्रत्येक शब्द के सहारे करता है, क्योंकि जो भी शब्द वह लिखता है, उनमें से प्रत्येक शब्द अपने चरित्रों के प्रति उसके दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति को आगे बढ़ाता है और साथ ही साथ उसके द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली परिस्थिति की संपूर्णता को भी आगे बढ़ाने में सहायक होता है। यह स्पष्टरूप से फील्डिग, थैकरे, मेरेडिथ, शरत्, प्रेमचन्द और 'प्रसाद' आदि के विषय में सत्य है। ये उपन्यास के बीच में अपने व्यक्तित्व के माध्यम से कथा की सृष्टि करते जाते हैं और साथ ही चरित्र एवं घटनाओं की गति-क्रम पर व्याख्या भी प्रस्तुत करते रहते हैं। यह बात डिफो, रिचर्डसन, कौशिक, भगवतीचरण वर्मा, फणीन्द्रनाथ रेणु तथा फ्लाबेअर और जेम्स ज्वाएस ऐसे लेखकों में भी पाई जाती हैं जहाँ लेखक प्रयत्न करके अपने द्वारा वर्णित घटनाओं के गतिक्रम से अपने को अलग रखते हैं। हम कहते हैं कि वे अपने से बाहर की बातों पर ध्यान देने वाले हैं, वास्तव में अपने चरित्रों और परिस्थितियों पर अपना मत अपने चरित्रों और परिस्थितियों पर धोखे से प्रकट-सा कर देते हैं। ऐसा वे उन चरित्रों के चुनाव के माध्यम से और अपने प्रस्तुत किए हुए विचारों और भावनाओं के माध्यम से करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह चरित्रों के उन आचरण और मन्तव्यों को भी लेते हैं जिन्हें हम उन पर लेखक द्वारा आरोपित रूप में ग्रहण करते हैं।

तब यह बात स्पष्ट हुई कि प्रत्येक उपन्यासकार अपने व्यक्तिगत विचारा-ग्रहों से प्राप्त संसार के छायालोकित स्वरूप को देखता है। इस स्वरूपालोक के अनुभव का अभिनय पुरुष और स्त्रियों की मूर्तियों के माध्यम से होता है। इसको हम यों कहें कि वह उपन्यासकार के द्वारा बसाया जाता है और इसी कारण हम उसे नियमतः उपन्यासकार की दुनियाँ की बात कह सकते हैं। इससे उसके कहानी के उस संपूर्ण संसार से बोध होता है जो वह कल्पना के सहारे कागज पर उतारता है। और यह बात सही होते हुए भी कि वह कल्पना का संसार है वह अपने में पूर्ण होता है, उसमें पूर्वापर प्रसंग की अनुकूलता रहती है और

उस संसार में सब घटनाएँ उन्हीं मनोवैज्ञानिक नियमों से निश्चित होती हैं जो उसके निर्माता की वृत्तियों को और जीवन के प्रति उसकी प्रतिक्रियाओं को भी नियंत्रित करते हैं। ऐसे कल्पनात्मक संसार की सृष्टि करना ही उपन्यासकार का उच्चतम प्राप्तव्य नहीं है।

गद्यात्मक कथा-साहित्य की धारा आजकल बहुत चौड़ी और विस्तृत रूप में प्रवाहित हो रही है। कहीं-कहीं तो वर्षा की बाढ़ की जल-धारा की भाँति यह मटमैले पानी वाली भी है। यह तो एक स्वयंसिद्ध तथ्य है कि सारवस्तु तथा उसका स्वरूप दोनों ही प्राण और शरीर की भाँति परस्पर सम्बद्ध हैं और महान् कृतियों में तो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। तथापि सारवस्तु के प्रस्तुत करने का ढंग या उसका शिल्प-विधान केवल एक निर्दिष्ट लक्ष्य-प्राप्ति का साधन-मात्र है और यदि यह कौशल इस विचार द्वारा अनुशासित नहीं होता तो वह खिलवाड़ मात्र रह जाता है। जो कुछ भी हो चाहे साहित्यिकता की रुचि का उन पर से आवश्यकता से अधिक प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति हो अथवा सीधा सादा पाठक, वे उपन्यास से मुख्यतः सुन्दर स्वरूप या जीवन का कोई दुर्लभ सारत्व मात्र नहीं चाहते, वरन् जीवन की कोई ठोस व्याख्या चाहते हैं जो किसी प्रतिनिधि कथारूप के द्वारा अव्यक्त रूप से अभिव्यक्त होती है अथवा महादादर्श-पूर्ण सन्देश के द्वारा स्पष्ट रूप से व्यक्त की जाती है। इसलिये हमारी विवेचना के विषय का यही परिचित स्वरूप है—उपन्यासकार का जीवन का स्वरूपालोक, वह स्फूर्तिमय आवेग जो उसकी सामग्री के चयन एवं रूप-विधान के अनुप्राणित करता है।

यहाँ पर हम आधुनिक उपन्यास और इस समय की आधारभूत मौलिक समस्याओं के सम्बन्ध को भी अपने विचार-क्रम में स्थान देंगे। आज की समस्या है मानव की, नए ज्ञान की समस्त उपलब्धि को अपने साहित्यिक विधान में समेटना। एक कारण से यह समस्या अत्यन्त कठिन हो जाती है और वह कारण यह है कि मनुष्य अब तक अपने नए ज्ञान को अपने में पचा नहीं सका है। इसीलिए वह इस समय तक अपने को आज के संसार के अनुकूल नहीं बना पाया है। मानव आदि काल से अपने को इस प्रपंचात्मक संसार से मुक्त करने का प्रयत्न करता रहा है पर सृष्टि के इतिहास में किसी भी समय उसके प्रयत्न का अभियान इतनी पेचीदगी से पूर्ण समस्याओं के बीच से होकर नहीं हुआ जितना आजकल है। आरम्भ में इसके जीवन

सम्बन्धी निष्कर्ष उसके द्वारा आविष्कृत चरित्रों के माध्यम से प्रकट होते रहते हैं। वे उन परिस्थितियों के माध्यम से भी प्रकट होते हैं जिनमें वह चरित्रों को रखता है। वे कभी-कभी उन शब्दों के माध्यम से भी प्रकट होते हैं जिन्हें वह चरित्रों एवं परिस्थितियों को प्रस्तुत करने में प्रयोग करता है। 'निष्कर्ष' शब्द से हम बच नहीं सकते, यद्यपि इससे यह बात नहीं निकलती कि निष्कर्षों पर जानबूझ कर पहुँचा जाता है। हो सकता है कि उपन्यासकार जो कुछ प्रकट रूप से चाहता है वे उससे मेल न खाते हों। उपन्यासकारों ने उपन्यास लिखने के अनेक हेतु बतलाए हैं, अंग्रेजी के आरंभिक उपन्यासकार रिचर्डसन का विश्वास था कि वह सदाचार की प्रवृत्ति दृढ़ करने के लिए उपन्यास की रचना करता था, हिन्दी के प्रारम्भिक काल में लज्जाराम जी का उद्देश्य यही था। अंग्रेजी उपन्यास का जन्मदाता फील्डिंग युग की रीतियों के लिए उपन्यास लिखता था, हिन्दी के आधुनिक उपन्यास के जन्मदाता श्रीनिवास दास इसी मत के समर्थक थे, अंग्रेजी साहित्य का सर्व-जन-प्रिय उपन्यासकार डिकेन्स उपन्यासों का उत्पादन (और वह भी एक बड़ी संख्या में और तीव्रगति से) सामाजिक कुरीतियों का पर्दाफाश करने के लिए करता था, प्रेमचन्द भी जो हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार के रूप में डिकेन्स के समान ही और किन्हीं अंशों में उनसे भी अधिक लोकप्रिय हुए, जन-समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन के लिए अपनी कृतियों द्वारा सतत प्रयत्नशील रहे। ट्रोलोप की कोटि के उपन्यास लेखक केवल पैसा पैदा करने के लिए लिखते थे। हिन्दी में गोपाल राम गहमरी का भी यही जीवनान्त व्यवसाय रहा। यही कारण युक्ति संगत प्रतीत होते हैं पर यदि हम इनका बुद्धीकरण करें तो हम उपन्यास रचना में निहित मानसिक प्रवृत्ति की तह में पहुँच कर वास्तविक बात का पता पाएँगे। उस अनुकरण वृत्ति वाले उस संसार की निर्मात्री प्रेरणा का आंशिक तथ्य तो यह है कि उसे उसके बनाने के कौशल में ही आनन्द की उपलब्धि होती है। उसके सम्बन्ध के शेष तथ्यांक तो इस बात में हैं कि वह अपने संसार के निरीक्षण को खण्ड-खण्ड में विभाजित करता है और फिर उनको मिला कर एक में कर देता है और इस मन के खिलवाड़ करने में उसे सहज आनन्द की भोली परतीति होती है। जिस प्रकार एक छोटा बच्चा अपने को खेलने से रोक नहीं सकता, उसी प्रकार वह भी इस मन की क्रीड़ा से अपने को रोक नहीं सकता। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। बच्चे अपने को खेलने से रोक नहीं सकते पर वह खेलते कैसे हैं यह उनके चेतन नियन्त्रण के

बाहर की बात है—यह अंतिम बात ऐसी है जिसका उपयोग साइकियाट्रिस्टस बच्चों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में बहुत अधिक करते हैं। खेल में बच्चा विश्व के साथ अपने भावात्मक सम्बन्ध को खिलौनों की व्यवस्थाक्रम में प्रतीक रूप से प्रकट करता है। खेल ही खेल में वह अपनी वैयक्तिक कहानी का सम्भावित आधार प्रस्तुत कर देता है। उपन्यासकार भी अपने चरित्र के चुनाव में और उनके कृत्यों के माध्यम से बहुत कुछ यही बात करता है। इस कथन का आंशिक प्रमाण तो इसी बात में देखा जा सकता है कि जितने भी विशाल क्षेत्र में विस्तृत मानवीय चरित्रों के प्रकार और उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उन सबके समाज से और ईश्वर से सम्बन्ध काल्पनिक रूप से हमें ज्ञात हैं, अपेक्षाकृत उसका अत्यल्प अंश बड़े से बड़े उपन्यासकार की कृतियों में स्थान पाता है। उदाहरणार्थ टालस्ट्रॉय के ('वार एण्ड पीस') तथा प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' के बहुत विस्तृत रंगमंच लेने पर भी जीवन के कार्यक्षेत्र के विस्तार की तुलना में वे बहुत छोटे लगते हैं। यह भी सबके द्वारा निरीक्षण करने वाली एक साधारण बात है कि बड़े से बड़ा उपन्यासकार भी मानों एक ही प्रकार के लोगों और परिस्थितियों की खोज एक उपन्यास से दूसरे उपन्यास में गहराई के साथ करता चला जाता है। इस दृष्टि से हम अंग्रेजी के हार्डी, बंगला के शरत तथा हिन्दी के 'जैनेन्द्र' का नाम ले सकते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है मानो लेखक पर उस खोज करने का एक भूतसा सवार है। बात वास्तव में यही है। उपन्यासकार को सामग्री चुनने का अधिकार केवल सीमित अर्थों में है और उसका चुनना उसके व्यक्तित्व की गम्भीरतम विवशताओं द्वारा नियन्त्रित रहता है। यही विवशताएँ उसके उपन्यास की प्रकृति तथा उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त निष्कर्षों को निर्धारित करती हैं। यही कारण है कि किसी उपन्यास का अवमूल्यन करते समय हमें लेखक की चरित्रों की सृष्टि करने की योग्यता का ही मूल्य नहीं आँकना पड़ता, वरन् उन चरित्रों एवं उनके आचरण में अन्तर्निहित मूल्यों को भी आँकना पड़ता है। इस अन्तिम बात का विचार ही प्रथम कोटि और द्वितीय कोटि के उपन्यासों का अन्तर स्पष्ट करता है :—यथा अंग्रेजी में जैन आस्टिन तथा आर्नल्ड बैनेट के उपन्यास का अन्तर अथवा हिन्दी में जैनेन्द्र और सियारामशरण के उपन्यासों का अन्तर।

कुछ आलोचकों को चरित्र और उनके आचरण की बात असंगत-सी लगती है। एल० सी० नाइट्स अपने व्यंग्यात्मक शीर्षक वाले खोजों के लेख 'लेडी मैकबेथ के कितने लड़के थे ?' में लिखता है, "यह मान्यता कि गीतकाव्य के लेखकों को छोड़ कर अन्य किसी लेखक का यही प्रमुख कार्य है कि वह

चरित्रों की सृष्टि करे—इसका आरोप बड़ी बुरी तरह से उपन्यास के आलोचना क्षेत्र में भी हुआ। विवादरूप में यह कहा जाता है कि चरित्र पाठक की सृष्टि होती है, लेखक की नहीं। निःसन्देह यह कहना कोई तर्क नहीं है कि उपन्यासकार स्वयं इस बात पर साधारण रूप से विश्वास करते हैं कि चरित्र की सृष्टि करना उनके लेखन-कार्य का महत्व-पूर्ण अंग है। एक उपन्यास एक संपूर्णता होती है जो उसमें प्रयुक्त समस्त शब्दों से मिल कर बनती है और सम्पूर्णता के ही रूप में उसका अवमूल्यन होना चाहिये। चरित्र चित्रण इस सम्पूर्णता का एक खण्डमात्र है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह एक आवश्यक खण्ड है और महत्व की दृष्टि से प्रथम-स्थानीय है क्योंकि जहाँ तक पाठक का सम्बन्ध होता है इस (चरित्र-चित्रण) के बिना मानव के भाग्य-सम्बन्धी गम्भीरतम आशंकाओं का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। उपन्यासकार की मानव के भाग्य-सम्बन्धी आशंकाओं की अभिव्यक्ति चरित्रों के माध्यम से ही सम्भव है।

जब श्रीमती लीविस अपनी पुस्तक 'फिक्शन ऐण्ड दि रीडिंग पबलिक' में कहती हैं 'कि उपन्यासकार का काम केवल मोटे तौर से रूप-रेखा (आउटलाइन्स) प्रस्तुत कर देना है और पाठकों का उसके साथ सहयोग करना, अपने में इस विश्वास को जगा कर वह 'वास्तविक लोगों' 'के सम्पर्क में है'। तब वह उस प्रक्रिया का वर्णन करती है जो निम्न प्रकार की उपलब्धि वाले और कम महत्वाकांक्षा वाले उपन्यासों के पढ़ने में सम्भव होता है। जितनी ही उच्चकोटि के ढंग से उपन्यासकार चरित्र का संगठन करता है उनको मोटी तौर पर केवल आउट-लाइन्स में प्रस्तुत करना उतना ही कठिन होता है और चरित्र का संगठन वर्ण्यविषय के रूप में उपन्यास में जो कुछ होता है उस सब के द्वारा प्रभावित होता है। उदाहरण के लिये हार्डी के चरित्र एवं जैनेन्द्र के चरित्र देखने में साधारण से लगते हैं, गैब्रियलओक, सत्यदेव, बाथशबाएवरडीन, कट्टो, सार्जेन्ट्राय, विहारी के विषय में विशेष रूप से कोई गूढ़ बात नहीं है, पर जिस ढंग से हम उन्हें देखने को बाध्य होते हैं, वह इस बात पर निर्भर नहीं रहता कि हार्डी या जैनेन्द्र ने उन्हें किस प्रकार से प्रस्तुत किया है। वरन् वह उसके उपन्यास को सम्पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने के ढंग पर आश्रित रहता है। जान हालोवे ने 'दि विक्टोरियन सेज' नामक निबन्ध में यह दिखाया है कि किस प्रकार हार्डी वस्तुओं की प्रकृति के उस बिम्ब को रोकता है जिसके साक्षी और शिकार उसके चरित्र ही होते हैं। उसके लेखन-कौशल की यह विशेषता है—

कथानक के बीच में आये हुए प्राकृतिक वर्णन एवं अमूर्तका मूर्तिकाय आदि सभी प्रयोगों द्वारा वह अपने अभीसिप्त अभिव्यक्ति को ही पाठक की सहजानुभूति बना देता है। हार्डी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण जो उसके चरित्र के प्रति हमारी प्रतिक्रिया को निर्धारित करता है उसके लिखे हुए प्रत्येक वाक्य में अव्यक्त भाव से स्पष्ट होता है। जैसा कि श्रीमती लिविस के कथन से प्रतिध्वनित होता है कि पाठक किसी भी भाँति मनमाने ढंग से चरित्रों की वाह्य आकृति की सीमा रेखाओं में रंग भरने में स्वतंत्र नहीं है। यही वात जैनेन्द्र अथवा चरित्र का गहराई की सृष्टि करने वाले किसी भी औपन्यासिक के विषय में कही जा सकती है। विना इस प्रकार की कर्तव्यपूर्त्ति के, सचेष्ठ प्रयत्न के ही लेखक अपनी मौज में मनोरंजन के लिये लिखते हुए भी जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करते रहे हैं। पर आजकल तो जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने का विचारभूत की भाँति आधुनिक उपन्यासकारों के सर पर चढ़ा रहता है। अधिकांशतः पाठक उपन्यास से वास्तविकता को जानने की अपेक्षा नहीं रखते। वे तो जीवन के व्यवहार की विधामात्र जानना चाहते हैं, वे उससे जीवन के स्वरूपालोक के प्राप्ति की कामना नहीं करते, वरन् एक जीवन-विधि से परिचित होना चाहते हैं।

हमें उपन्यास की प्रेरक वृत्तियों तथा उसके विशिष्ट उपकरणों की विवेचना करने के पूर्व उपन्यास के इसी स्वरूप को स्थिर करना है। गम्भीर प्रकृति के साहित्यिक की तथा लोक-हित का ध्यान रखने वाले आलोचक की आज की समस्या यही है। आजकल वस्तुओं के प्राचीन स्वरूप बदल रहे हैं—पारिभाषिक शब्दों के अर्थ भी परिवर्द्धित और परिवर्तित हो रहे हैं और इन दोनों वातों के परिणामस्वरूप स्वयं जीवन के मूल्यों का भी सुधार अथवा परिवर्तन हो रहा है। इस क्रम से उपन्यास की परिभाषा का भी विकास हुआ है, उपन्यास विशिष्ट ढंग से—चाहे वह शाब्दिक अर्थ में हो अथवा आदर्श रूप में—मानव के अनुभव का प्रतिनिधित्व करता है और इसीलिये वह अनिवार्यरूप से जीवन की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। उपन्यास हमें अपने साथ के मनुष्यों की प्रकृति को समझाने में सहायक होता है, वास्तविकता को व्यवहार में लाने के कार्य को प्रभावित करता है। हम उसके प्रभाव के परिणाम की माप नहीं कर सकते। यह तथ्य केवल इस समय के उपलब्ध ज्ञान की अतर्क्य स्थिति का प्रमाण ही है, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हम उनको व्यक्त करने के कार्य से विरत हो जायँ। हाँ, इस प्रकार के कार्य करने में यह ध्यान रखना

पड़ता है कि जैसे ही भाषा की अभिधार्थ शक्ति की सीमा छू जाय और प्रधान रूप से भावनात्मक गुण ग्रहण कर ले तब उत्ताम ध्वनिमात्र को विचारों का वाहन न बनाया जाय, वरन् अपरिहार्यरूप से प्रयुक्त होने वाले अस्पष्ट प्रतीकात्मक पारिभाषिक शब्दों को यथासंभव संयत एवं निर्दिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करने की चेष्टा करें।

अन्त में एक बात पर और विचार करना है और वह यह है कि हमें इस समय के विचारों के संसार में, जहाँ विरोधी भावनाओं का बोल-बाला है, जहाँ अधकचरे विचारों का समर्थन फैसिस्टनीति से होता है—अपने किसी भी साहित्यिक सिद्धान्त को दलगत समर्थन से अथवा आक्रमक ढंग की शब्दावली के प्रयोग से पुष्ट नहीं करना है। इस सम्बन्ध में दूसरों के मतों को समझने की सहानुभूति पूर्ण वृत्ति एवं युगानुरूप साहित्यिक चेतनाओं का समन्वय करने की प्रवृत्ति हमारे दृष्टिकोण को उदार बनायेगी और तभी हमारी संस्थापनाओं को उपन्यासकार एवं पाठक की सहायिका-शक्ति बनाने की संभावना होगी।

उपन्यास के प्रेरक तत्व

'जीवन की व्याख्या' तथा 'जीवन के स्वरूप के आलोक की प्राप्ति' उपन्यास की सृष्टि के मूल में होते ही हैं, पर इसके साथ ही कुछ और भी विशिष्ट प्रेरक तत्व हैं जो इस विधा को आगे बढ़ाते हुए इसका विस्तार करने में भी सदैव सहायक होते हैं। उनमें प्रमुख हैं—कुतूहल, मनोरंजन एवं अर्थ-सिद्धि।

कुतूहल

'कुतूहल'[1] कहानी का मूल है और कहानी उपन्यास के मूल में उसी प्रकार है जिस प्रकार आदि मानव आधुनिक संश्लिष्ट व्यक्तित्व का आरम्भिक पर विकासशील रूप है—विकासशीलरूप परिवर्तित रूपमात्र नहीं कहा जा सकता।

---

१ कुतूहल = संज्ञा, पुल्लिङ्ग (संस्कृत) किसी वस्तु के देखने या किसी बात के सुनने की प्रबल इच्छा।
विनोदपूर्ण उत्कण्ठा। हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ २४५।
कुतूहल : अद्भुत व्यक्ति या वस्तु को देखने अथवा उसकी कथा सुनने के लिये जो मन में चाव और गुदगुदी होती है उसे कुतूहल कहते हैं। हर्ष से आँखें चमकना, एकाग्रता····इसके लक्षण हैं।
···सीताराम चतुर्वेदी···समीक्षा-शास्त्र' पृष्ठ २६४।

परिवर्तन में केवल परिस्थितियों के क्रमिक पर अनिवार्य प्रभावों के परिणाम की सामयिक सूचनामात्र होती है, पर विकास में परिवर्तन के साथ-साथ इकाई के अन्तर्निहित वैशिष्ट्य अथवा व्यक्तित्व के अस्तित्व के आग्रह के अमरत्व का आभास भी रहता है। मानव का कुतूहल उस मानव के प्रति होता है जो अपनी समष्टि में समाज की संज्ञा से अविहित होता है। यह कुतूहल अपने आस-पास की उन वस्तुओं के प्रति भी होता है जो अपने समग्रता में भौतिक संसार के रूप में हमारी चेतना को अनुप्राणित एवं संचालित करती रहती है। और वह अपने चरम रूप में उन सभी सम्भावनाओं के प्रति होता है जो जीवन के विस्तार से पार आत्मा के अखंड, शाश्वत और अनन्त विस्तार में समाहित हैं। जब इस कुतूहल का शैशवरूप होता है जिसमें केवल 'आगे क्या हुआ' यही जानने की अभिलाषा मात्र रहती है तब वह एक कहानी का आधार बनता है। हम कुतूहल के निरावृत्त रूप को बच्चों की कहानियों में देख सकते हैं।[1] अरव्यो-पन्यास(अलिफ लैला) की कहानियों का मूलाधार यही कुतूहल है। इसी के बल से 'शहरजादी' ने सुलतान की कभी न शान्त होने वाली उत्सुकतावृत्ति के हिंसक रूप से अपने जीवन की रक्षा की थी।[2] प्राचीनकाल में वैभवशाली व्यक्ति नवीनता की टोह में इसी का अफीम का नशा अपनी चंचल-मानसिक वृत्ति को सहला कर उसे कुछ समय तक स्वप्निल-अवस्था में रखने के लिये करते थे। उपन्यास-विधा अपने हलके बाजारू रूप में वेश्या के रूप और यौवन के आकर्षण की भांति इस कुतूहल को पूरे प्रभाव के साथ अपने में समेटने का प्रयास करती हुई साहसिक अथवा रोचक घटनापूर्ण उपन्यासों की अगणित संख्या में देखी जा सकती है। ऐसे उपन्यासों को हम केवल लम्बी कहानी ही कहेंगे। उसमें न तो उपन्यासकार का कोई छिपा मंतव्य होता है और न किसी भी अंश में जीवन के स्वरूप के आलोक को खोज कर पाने की चेष्टा ही। उनका एक मात्र उद्देश्य होता है अपने तिलिस्म के चक्कर में घुमा कर अथवा घटनाओं के हवाई एवं पूर्णरूप से अथवा अधिकांशरूप में कोरी-कल्पना पर आश्रित व्यापार-शृंखला में उलझा कर अन्त के पाठक को क्षणिक मानसिक तोष कथा के लिये प्रमुख घटनाफल को आश्चर्यप्रद तथा विस्मयकर ढंग से प्रस्तुत करना।

---

१ ग्रिम : "फेयरी टेल्स"

२ अरेबियन नाइट्स।

उर्दू के तिलस्सी उपन्यास और अंग्रेजी के (तथा उसके अनुकरण पर लिखे गये बंगला एवं हिन्दी के भी) जासूसी उपन्यास इसके अच्छे उदाहरण हैं।

साहित्यिक उपन्यास के प्रेरक तत्व के रूप में कुतूहल का प्रयोग अपने प्रच्छन्नरूप में होता है।

अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है। उच्चकोटि का विकासशील प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुख की सामान्यअनुभूति मात्र के लिए जगह होती है। पर संसार के प्रकाश में आँखें खोलते ही और हाथ-पैर के नारबन्ध से स्वतन्त्र होते ही उसमें संभावना के अंकुररूप में ही सही कुतूहल का भाव भी आ जाता है। पेट का भरा या खाली रहना इन अनुभूतियों आदि का आधार होता है। जीवन के आरम्भ में हँसना और रोना इन्हीं अनुभूतियों के चिन्ह होते हैं। पर उस समय ये अनुभूतियाँ अपने बिल्कुल सामान्यरूप में होती हैं।

नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषयभेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिलरूप धारण करती हैं।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर अथवा सुख या दुख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषम-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।

समस्त मानव-जीवन से प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिए। लोक-रक्षा एवं लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर आधारित है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन सबमें इनसे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार

काम में लाए गए हैं उसी प्रकार किसी सम्प्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

'कुतूहल' की वृत्ति इन सभी मनोविकारों के मूल में होती है। जिस बालक को अशिक्षित एवं कल्पना रहित मस्तिष्क निरीह् मांसपिण्डमात्र समझता है। दूध पीते बच्चे के आपकी गोद में आते ही आप के वक्ष में स्तनों की खोज के लिये छोटी-छोटी उंगलियों की हलकी-फुलकी टटोल के पीछे यही कुतूहल-वृत्ति अपने साधारणतमरूप में परिलक्षित की जाती हुई आगे चल कर एक साल से भी कम अवस्था तक के बच्चों में भी प्रत्येक वस्तु को मुँह में डाल कर उसके आस्वाद्य अथवा अनास्वाद्य होने के प्रति कुतूहल की भावना व्यक्तिगत खोज और प्रयोग के प्राकृतिक एवं प्रारम्भिक रूप में देखी जाती है। किसी चीज को मुँह में डालने के वाद की भंगिमा में यदि बालक के स्वतः ज्ञान प्राप्ति के अभ्यास का आभास मिलता है तो उसके प्रथम उसको प्राप्ति के प्रयत्न उसकी तद्गत कुतूहलगति का परिचय भी प्राप्त होता है। यदि मनुष्य की रुचि संस्कृत नहीं होती और स्वतः प्रयास से ज्ञानार्जन का अभ्यास आगे नहीं बढ़ता तो बढ़ी हुई व्यवस्था में भी मनुष्य की कुतूहल-वृत्ति एवं बच्चे की कुतूहल-वृत्ति में कोई अन्तर नहीं होता। हाँ, यह कुतूहल वृत्ति अपने संस्कार प्राप्तरूप में समस्त वैज्ञानिक प्रगति का आदि कारण बन जाती है। ज्ञानार्जन के प्रत्येक प्रयास में कुतूहल वृत्ति सीढ़ी के पहले डंडे का काम करती है।

कहानी के मूल में जिस कुतूहल-वृत्ति को देखा जाता है वही कुतूहलवृत्ति लेखक में बनी रहने से वह कहानीकार बन जाता है। उसका बचपन अपने संस्कृतरूप में अवस्था की प्रगति होते हुए भी अपने में स्थायी रहता है। 'स्टीवेन्सन' इस प्रकार के व्यक्तित्व का उदाहरण है। उसकी वृत्ति के कुतूहल वृत्ति प्रधान होने के कारण उसे बड़ी उमर का बच्चा कह कर पुकारा जाता था। जब एक भावना प्रवर सहृदय व्यक्ति में यही कुतूहल का भाव प्रकृति के रम्य उपकरणों के माध्यम से सजग हो उठता है और जब वह लिखितज्ञान के माध्यम से नहीं, वरन् प्रथम मानव की प्रथम दृष्टि पातजन्य कुतूहल से अनुप्राणित होकर कुछ लिखता है तो उसे मानवता का शिशु अर्थात् प्रकृति का प्रशंसक कवि कहा जाता है। कवि की कुतूहल वृत्ति से रहस्यात्मक एवं सौंदर्यानुभव की खोज में रत रहने वाले व्यक्ति की आह्लादमयी रचनाओं का प्रादुर्भाव होता है। जब यही कुतूहल का भाव मानव के जीवन के अध्ययन और उसके रहस्य को अपने अध्ययन का विषय बना लेता है तभी दर्शनशास्त्र

एवं अध्यात्मज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है। जब कुतूहल अपने अवगुंठितरूप में किसी भी जीवन खंड के अभिनय को लेकर आगे बढ़ता है तो रंगमंच पर दृश्यों के विस्तार और प्रक्षेपण को थियेटर कहते हैं। उसी के गद्यात्मक काव्य रूप में भीतर से खम्भों के बीच से झंकारते हुए कुतूहल के परिपक्वावस्था में प्राप्त रस की भाँति सिद्धरूप को हम संस्कृत के उपन्यासों के मूल में स्थित पाते हैं। इसी कुतूहल की अविद्यावृत्ति के रूप में उपन्यासों के चरित्रों के भिन्नत्व तथा अन्य साहित्यांगों की विस्तार-वृद्धि को अवसर मिलता है। यह कुतूहल की ही वृत्ति है जो अपनी स्वर-साधना ठीक करने पर संगीत की ध्वनियों के मेल से नये रागों को जन्म देती है और पुराने रागों को आगे बढ़ाती है। संक्षेप में यह सारा संसार ही विधाता के कुतूहल का और मानव के कुतूहल का मिश्रित रूप है। समान रूप से सर्वत्र प्रसारित आलोक की भाँति इस कुतूहल की व्याप्ति ही सफल उपन्यास की कसौटी है। जब रूप विधान पर आवश्यकता से अधिक आग्रह होने के कारण उपन्यास में कुतूहल वृत्ति बहुत झीने ढंग में प्रयोग में लाई जाती है तब साधारण पाठक के लिये उस उपन्यास का महत्व बहुत कम रह जाता है, भले ही भाव-विदग्ध व्यक्ति के लिये उपन्यास के दुर्लभ प्रकार के रूप में उसका उपयोग होता रहे। शिक्षित जनरुचि उसे शैली के प्रकार के उदाहरण के रूप में भले ही ग्रहण कर ले, पर ऐसा उपन्यास सर्व-जन-प्रिय नहीं होता। अंग्रेजों में जेम्स ज्वायस का प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलिसिस' इसका विश्व-विश्रुत उदाहरण है।

'उपन्यास' का शरीर विज्ञान नामक लेख में श्री गुलाबराय एम० ए० ने कहानी सुनने की उत्सुकता में हम सभी को किसी न किसी अवस्था में राहुल का समान धर्मी ही बताया है[1] उनके अनुसार विचारे राहुल ने भी इस प्रवृत्ति

---

१ ''माँ, कह एक कहानी।''
''बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?''
''कहती है मुझसे यह चेटी
तू मेरी नानी की बेटी।
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
माँ, कह एक कहानी।'' —यशोधरा।

में गिरि-गुहा-निवासी प्रागैतिहासिक मानव से लगा कर अपने पूर्वजों का प्रतिनिधित्व किया था ...।

उसी लेख में वे आगे चल कर लिखते हैं कि हमारे उपन्यासकार उर्वशी के समान हमारी चिर-यौवना-कौतूहल वृत्ति की तृप्ति के लिये किसी अज्ञात प्रेरणा से उपन्यास लिखते रहते हैं....वे अपनी कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठ कर हमारे लिये 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' वाले रमणीयता पूर्ण नये कथानक रचते रहते हैं। वे अंग्रेजी शब्द 'नावेल' (जिसका शाब्दिक अर्थ नवीन है') की सार्थकता भी इसी में मानते हैं।....

वे आजकल के उपन्यासों को हमारी नानी की कहानी के वंशज ही मानते हैं।....इस उपन्यासरूपी संतान में कौतूहल का परम्परागत गुण तो मौजूद ही होता है। संस्कार चाहे जितना हो गया हो, किन्तु जाति का गुण कहाँ जाय ? 'संस्कारातप्रबलाजातिः' उपन्यास मूल में कहानी है....। अन्तर केवल वह यह बताते हैं कि उपन्यास कहानी की अपेक्षा अधिक सुगठित, सजीव और शृंखलाबद्ध होता है। उसमें कौतूहल के साथ-साथ बुद्धि तत्व और भाव-तत्व भी रहता है।[1] उसमें जीवन की प्रतिच्छाया ही नहीं रहती, वरन् उसकी व्याख्या भी रहती है[2]।

समीक्षा शास्त्र के लेखक सीताराम चतुर्वेदी जी भी साधारण पाठक को महत्व देते हुए कहते हैं कि उपन्यास में उसको ऐसी सामग्री मिलनी चाहिए जिसमें वह तन्मय हो सके। इसीलिये साधारण उपन्यासकार भी अपने विषय को कुतूहलजनक बनाने का प्रयत्न करता रहता है और समीक्ष्यवादी भी ऐसे ग्रन्थों की यों ही चलती-सी समीक्षा कर देते हैं। किंतु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उपन्यास के कौशल में सूक्ष्मता और जटिलता के साथ-साथ सरलता लाते हुए भी वह उसमें 'तारपोर[3]' 'जानने की उत्सुकता बनाये रखता है[4]।

'हिन्दी उपन्यास' के रचयिता शिवनारायण श्रीवास्तव भी कथा-कहानियों

---

१ बाबू गुलाबराय—'काव्य के रूप' प्रथम संस्करण—पृ० १५१।

२ बाबू गुलाबराय—'साहित्य सन्देश' (उपन्यास अंक) अक्टूबर–नवम्बर १९४०—पृ० ४६–४७।

३ हिन्दी के 'तब फिर' का बंगाली पर्याय।

४ सीताराम चतुर्वेदी—'समीक्षाशास्त्र'—प्रथम संस्करण—पृ० ६६५–६६६

की परंपरा बहुत प्राचीन मानते हैं, क्योंकि इनके प्रति मानवमन में आरंभ से ही बड़ा कुतूहल रहा है। वर्तमान उपन्यास और कहानियों को वह उसी परंपरा के नवीन उत्कर्ष के रूप में लेते हैं जिनकी सत्ता का प्रधान कारण सर्वत्र एवं सर्वदा मानव-रागों, मनोवेगों और क्रियाकलापों में मनुष्य की अभिरुचि को ठहराते हैं।

''''गद्य और पद्य के स्थूल अन्तर के अतिरिक्त उपन्यास और कविता में सबसे बड़ी भेदक-विशेषता यही है कि उपन्यास में हमारी चित्त-वृत्ति अधिकांशतः विभिन्न चमत्कारपूर्ण क्रियाकलापों से आनन्द प्राप्त करती है, पर काव्य में वह भावात्मक सौन्दर्य में तन्मय होकर अपना पूर्ण परितोष करती है। एक श्रेष्ठ उपन्यास की कसौटी है उत्तरोत्तर विकसित होने वाली जिज्ञासा-वृत्ति जो अन्त में भी अतृप्त ही रहती है। सत्काव्य भी अनेक बार पढ़ जाने के उपरान्त लालसा को शेष कर देता हो ऐसा नहीं है।' अस्तु, काव्य की अपेक्षा उपन्यास कहीं अधिक कुतूहलप्रधान होता है।

ब्रजरत्नदास का भी कथन है कि कुतूहल तथा जिज्ञासा ही वे मनोवृत्तियाँ हैं, जिनकी पूर्ति के लिये कथा-साहित्य की आवश्यकता पड़ी और यह निरन्तर विकसित होती गई। ये ही प्रायः सभी साहित्य की रचना के मूल कारण हैं और विशेषकर मनोरंजक साहित्य भाग की।[१]

मनोरंजन

वेदान्ती लोग माया को आनन्द अनुभव करने में बाधक समझते हैं, किन्तु कवि का प्रपंच अर्थात् साहित्य अपने जन्म-काल से लेकर आज तक रसिकों तथा सहृदयों को निरंतर आनंद देता रहा है। इसलिये भारतीय साहित्य-परंपरा में काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर अर्थात् ब्रह्मानंद का समानधर्मा कहा गया है। दोनों आनंदों में अन्तर है—ब्रह्मानंद शाश्वत, नित्य और स्थायी हैं, किन्तु काव्यानन्द अशाश्वत, अनित्य और अस्थायी है।

१, बृजरत्नदास– 'हिन्दी उपन्यास साहित्य', प्रथम संस्करण, सम्वत् २०१३ वि०—पृ० ११-१२

२. तैत्तिरीय उपनिषद्—११/७/१

"सत्वोद्रेकादखण्ड स्व प्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्म स्वाद सहोदरः॥"

काव्यानन्द।

में गिरि-गुहा-निवासी प्रागैतिहासिक मानव ने लग कर अपने पूर्वजों का प्रतिनिधित्व किया था ...।

उसी लेख में वे आगे चल कर लिखते हैं कि हमारे उपन्यासकार उर्वशी के समान हमारी चिर-यौवना-कौतूहल वृत्ति की तृप्ति के लिये किसी अज्ञात प्रेरणा से उपन्यास लिखते रहते हैं....वे अपनी कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठ कर हमारे लिये 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' वाले रमणीयता पूर्ण नये कथानक रचते रहते हैं। वे अंग्रेजी शब्द 'नाबेल' (जिसका शाब्दिक अर्थ नवीन है) की सार्थकता भी इसी में मानते हैं।....

वे आजकल के उपन्यासों को हमारी नानी की कहानी के वंशज ही मानते हैं।....इस उपन्यासरूपी संतान में कौतूहल का परम्परागत गुण तो मौजूद ही होता है। संस्कार चाहे जितना हो गया हो, किन्तु जाति का गुण कहाँ जाय? 'संस्कारातप्रबलाजातिः' उपन्यास मूल में कहानी है....। अन्तर केवल वह यह बताते हैं कि उपन्यास कहानी की अपेक्षा अधिक सुगठित, सजीव और शृंखलाबद्ध होता है। उसमें कौतूहल के साथ-साथ बुद्धि तत्व और भाव-तत्व भी रहता है।[1] उसमें जीवन की प्रतिच्छाया ही नहीं रहती, वरन् उसकी व्याख्या भी रहती है[2]।

समीक्षा शास्त्र के लेखक सीताराम चतुर्वेदी जी भी साधारण पाठक को महत्व देते हुए कहते हैं कि उपन्यास में उसको ऐसी सामग्री मिलनी चाहिए जिसमें वह तन्मय हो सके। इसीलिये साधारण उपन्यासकार भी अपने विषय को कुतूहलजनक बनाने का प्रयत्न करता रहता है और समीक्ष्यवादी भी ऐसे ग्रन्थों की यों ही चलती-सी समीक्षा कर देते हैं। किंतु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उपन्यास के कौशल में सूक्ष्मता और जटिलता के साथ-साथ सरलता लाते हुए भी वह उसमें 'तारपोर[3]' जानने की उत्सुकता बनाये रखता है[4]।

'हिन्दी उपन्यास' के रचयिता शिवनारायण श्रीवास्तव भी कथा-कहानियों

---

१ बाबू गुलाबराय—'काव्य के रूप' प्रथम संस्करण—पृ० १५१।

२ बाबू गुलाबराय—'साहित्य सन्देश' (उपन्यास अंक) अक्टूबर–नवम्बर १९४०—पृ० ४६–४७।

३ हिन्दी के 'तब फिर' का बंगाली पर्याय।

४ सीताराम चतुर्वेदी—'समीक्षाशास्त्र'—प्रथम संस्करण—पृ० ६६५–६६६

की परंपरा बहुत प्राचीन मानते हैं, क्योंकि इनके प्रति मानवमन में आरंभ से ही बड़ा कुतूहल रहा है। वर्तमान उपन्यास और कहानियों को वह उसी परंपरा के नवीन उत्कर्ष के रूप में लेते हैं जिनकी सत्ता का प्रधान कारण सर्वत्र एवं सर्वदा मानव-रागों, मनोवेगों और क्रियाकलापों में मनुष्य की अभिरुचि को ठहराते हैं।

''''गद्य और पद्य के स्थूल अन्तर के अतिरिक्त उपन्यास और कविता में सबसे बड़ी भेदक-विशेषता यही है कि उपन्यास में हमारी चित्त-वृत्ति अधिकांशतः विभिन्न चमत्कारपूर्ण क्रियाकलापों से आनन्द प्राप्त करती है, पर काव्य में वह भावात्मक सौन्दर्य में तन्मय होकर अपना पूर्ण परितोष करती है। एक श्रेष्ठ उपन्यास की कसौटी है उत्तरोत्तर विकसित होने वाली जिज्ञासा-वृत्ति जो अन्त में भी अतृप्त ही रहती है। सत्काव्य भी अनेक बार पढ़ जाने के उपरान्त लालसा को शेष कर देता हो ऐसा नहीं है।' अस्तु, काव्य की अपेक्षा उपन्यास कहीं अधिक कुतूहलप्रधान होता है।

ब्रजरत्नदास का भी कथन है कि कुतूहल तथा जिज्ञासा ही वे मनोवृत्तियाँ हैं, जिनकी पूर्ति के लिये कथा-साहित्य की आवश्यकता पड़ी और यह निरन्तर विकसित होती गई। ये ही प्रायः सभी साहित्य की रचना के मूल कारण हैं और विशेषकर मनोरंजक साहित्य भाग को।[१]

मनोरंजन

वेदान्ती लोग माया को आनन्द अनुभव करने में बाधक समझते हैं, किन्तु कवि का प्रपंच अर्थात् साहित्य अपने जन्म-काल से लेकर आज तक रसिकों तथा सहृदयों को निरंतर आनंद देता रहा है। इसलिये भारतीय साहित्य-परंपरा में काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर अर्थात् ब्रह्मानंद का समानधर्मा कहा गया है। दोनों आनंदों में अन्तर है—ब्रह्मानंद शाश्वत, नित्य और स्थायी हैं, किन्तु काव्यानन्द अशाश्वत, अनित्य और अस्थायी है।

१, बृजरत्नदास— 'हिन्दी उपन्यास साहित्य', प्रथम संस्करण, सम्वत् २०१३ वि०—पृ० ११-१२

२. तैत्तिरीय उपनिषद्—११/७/१

"सत्वोद्रेकादखण्ड स्व प्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्म स्वाद सहोदरः॥"

काव्यानन्द।

इस अन्तर के होने पर भी दोनों में समता भी है। दोनों की प्रकृति एक है, अर्थात् जिस प्रकार निर्विकल्प समाज में परात्पर ब्रह्म का ध्यान करते हुए योगी परमानंद का अनुभव करता है और संसार के मायाजाल से पूर्णतः निर्लिप्त तथा विरक्त हो जाता है, उसी प्रकार काव्यानंद का रस लेने वाला व्यक्ति काव्यानंद लेने की अवस्था में संसार से पूर्णतः विरक्त होकर आनन्द मग्न रहता है। ब्रह्मानन्द की स्थिति में हमारी चेतना का सम्पूर्ण व्यापार ब्रह्ममय हो जाता है। मन की समस्त क्रियाएँ ब्रह्म में पूर्णतः संग्लन होकर उसी में रमण करने लगती हैं। काव्य के अध्ययन की भी कुछ ऐसी ही दशा है। उस समय हमारी चेतना-वृत्ति जागतिक-व्यापारों से परे होकर काव्य के भावात्मक जगत में ही रमण करने लगती है और उसी में विभोर होकर आनंद की उपलब्धि करती है। ब्रह्मानंद और काव्यानंद दोनों ही की प्राप्ति में व्यक्ति-वैयक्तिकता से पूर्ण मुक्त होकर विशुद्ध रुप से भावसत्ता का प्राणी बन जाता है।

लेखक अपने को पाठक के साथ भाव के एक सूत्र में बाँधने का सुख प्राप्त करता है। साधारणीकरण में भी कला की सामाजिकता का भाव निहित रहता है। पाश्चात्य देशों में प्रायः काव्य को कलाओं के अंतर्गत माना है। इस कारण यहाँ काव्य के प्रयोजनों का विवेचन व्यापक रूप से कला के प्रयोजनों के साथ चलता है। इन्हीं को लक्ष्य करके प्रतिभावनापुरुष काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं। कला के प्रयोजन बहुत से माने गये हैं, किन्तु उनमें नौ अधिक प्रख्यात हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१. कला कला के लिये (आर्ट फार आर्ट्स सेक)
२. कला जीवन के लिये (आर्ट फार लाइफ्स सेक)
२. कला जीवन से पलायन के लिये (आर्ट ऐज एन ऐस्केप फ्राम लाइफ)
४. कला जीवन में प्रवेश के लिये (आर्ट ऐज एस्केप इन्टु लाइफ)
५. कला सेवा के लिये (आर्ट फार सर्विस सेक)
६. कला आत्मानुभूति के लिये (आर्ट फार सेल्फ रियलाइजेशन)
७. कला आनंद के लिए (आर्ट फार ज्वाय)
८. कला विनोद के अर्थ (आर्ट फार रिक्रियेशन)
९. कला सृजन की अदम्य आवश्यकता-पूर्तिके अर्थ (आर्ट एज् क्रियेटिव नेसेसिटी)

ये सब प्रयोजन एक-दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं हैं फिर भी इनमें दृष्टिकोण की भिन्नता है।

उपन्यास के प्रेरक तत्व के रूप में हमें छठी, सातवीं और आठवीं कोटि की कला पर विचार करना है। यह भारतीय आदर्श के निकट है! कला द्वारा आत्मानुभूति में सहायता मिलती है। कला में हम अपने भावों को मूर्तिमान देख कर एक प्रकार से अपनी आत्मा के दर्शन ही करते हैं। उसमें हमको आत्मानुभव का आनन्द आता है। वह 'सद्यः परनिर्वृत्तये' के निकट आ जाता है। यह आनन्द मन को व्याप्त कर लेता है और सृष्टा के सम्बन्ध में यह रस के बहुत निकट हैं। यह सृजन की अदम्य आवश्यकता (creative necessity) को जन्म देता है। आठवें नम्बर पर मनो-विनोद के अर्थ में कला आनन्द के नीचे की श्रेणी को प्रस्तुत करती है। यह दिल-बहलाव, दुख के भूलने के लिये, जैसा कि दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाकर किया था अथवा मन की ऊब मिटाने के लिए, जैसे लोग कभी-कभी कुछ गुनगुना उठते हैं, होता है। अच्छे आदमियों में मनोविनोद भावी कार्य परायणता की तैयारी के रूप में रहता है।[1]

काव्य का साधारण धर्म आनन्द की सृष्टि करना होता है। वह किसी भी विद्या में क्यों न हो मन के रमाने का साधन अवश्य होगा। हाँ, इस स्थल पर यह निश्चित करना आवश्यक होगा कि मनोरंजन के क्या अर्थ हैं। उपन्यास के प्रेरक तत्व के रूप में मनोरंजन की स्थिति काव्य के ब्रह्मानंद सहोदर काव्यानंद एवं मनोरंजन के सब से हलके रूप प्रहसन के बीच में होती है। इसको समझाने के लिए हम एक साधारण उदाहरण-क्रम प्रस्तुत करेंगे। काव्यानुशीलन का सबसे नरम प्रयोजन यही है। इसलिए इसको हृदयंगम करना आवश्यक है। आजकल प्रायः आनन्द, सुख और मौज के अर्थ में मनोरंजन का अर्थ बिना हाथ-पैर हिलाए समय को यों ही बिताते हुए संयोगात्मक खेलों आदि से या गप्पबाजी करने से प्राप्त आनन्द ही होता है। साहित्यिक अध्ययन हमें आगे पीछे घुमा-फिरा शब्दों के ठीक अर्थनिर्दिष्ट करने की प्रक्रिया में ले आता है। साधारण अर्थ में कभी-कभी शब्द बड़े हलके और गंवारू अर्थ में उतर आते हैं और हमारे लिए अभीष्ट अभिव्यक्ति दिवास्वप्न-सी होने लगती है। साहित्य को तो हमें शब्दों के प्रति प्रेम का पाठ पढ़ाना चाहिये जिससे हम उनके ध्वनि-माधुर्य को और संपर्क सौन्दर्य को हृदयंगम कर सकें। हमें उनके ठीक अर्थ और प्रयोग के लिये स्पर्धा के रूप में तत्पर करना चाहिये और इसलिए यदि यह कहा जाय कि पढ़ने में आनन्द की खोज प्रथम उद्देश्य ही नहीं

---

१ कालिदास—अभिज्ञान शाकुन्तलम् चित्रांकन संदर्भ—६२६

होता, वरन् चरम उद्देश्य होता है तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि उसका उद्देश्य निश्चेष्ट ढंग के मनोविनोद का अनुशीलन करना मात्र ही है। मनो-विनोद से हमारा अभिप्राय आंतरिक आह्लाद से है। आह्लाद में हर्ष और सन्तोष दोनों ही होते हैं—हलके स्तर के मनोविनोद में इन दो में से एक भी नहीं प्राप्त होता। जब हम ठीक ढंग से पुस्तक का अनुशीलन करना सीख जाते तो हमें पहला पुरस्कार हर्ष-प्राप्ति के रूप में प्राप्त होता है। बाद में जब हम पढ़ने में पुस्तक में प्रकट किये गए मन्तव्य के अनुशीलन में और अधिक कुशल हो जाते हैं, तब हमारा संसार-विषयक ज्ञान और आगे बढ़ने लगता है और हम संसार से लोगों को भली-भाँति समझने लगते हैं। जैसे-जैसे हमारी कल्पना और सहानुभूति का विकास होता जाता है वैसे-वैसे लोगों को समझने वाली हमारी क्षमता बढ़ती जाती है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक महान् पुस्तक वही नहीं होती जो केवल कुछ क्षणों के लिए हमारे आह्लाद का कारण बनती है। वास्तव में महान पुस्तक तो वह है जो हमें शाश्वत आह्लाद प्रदान करती है और यह पहले से भिन्न बहुत ही बड़ी बात है। बहुधा प्रत्येक उपन्यास हमें हर्षित करता है, क्योंकि कहानी सदैव आकर्षक और मनोरंजक होती है, पर महान उपन्यास वे हैं जो हमें बार-बार पढ़ने पर भी आह्लादित करते रहते हैं जब हम उनके प्रत्येक ब्यौरे से परिचित हो जाते हैं तब भी वे हमें हर बार नये रूप में आह्-लादित करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कहानी के अतिरिक्त भी और कुछ होता है जो उपन्यास में मनोरंजन का कारण बनता है—उस और कुछ को हम अच्छे चरित्रों, बुद्धि, समझ अथवा वाग्वैदग्ध्य, शैली के सौन्दर्य आदि में पृथक्-पृथक् या सब में सम्मिलित प्रभाव में एक साथ देख सकते हैं। जब हम किसी प्राचीन भवन या मन्दिर को देखने जाते हैं तो पहले तो हम उसके बाह्य रूप से आकर्षित होते हैं और हर्षित होते हैं और जब हम बार-बार उस भवन या मन्दिर को देखने जाते हैं तो प्रत्येक बार नई-नई और पहले से अधिक आह्-लादकारक बातों को देखते हैं। अच्छे उपन्यास के विषय में यह कहना बिलकुल गलत होगा कि 'अरे, इसको तो मैंने बहुत पहले अपने विद्यार्थी-जीवन में पढ़ लिया था।' बहुत से लोग जब वह अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तब पहले पढ़े हुए उपन्यास में वह नया आनन्द प्राप्त करते हैं। रमरग-वृत्ति सद् काव्य का साधा-रण लक्षण है। बहुत से लोग प्रेमचन्द, शरत्, जेन आस्टिन, डिकेन्स आदि के उपन्यासों को एक बार एक एक करके एक लेखक के सब ग्रन्थों को पढ़ना

समाप्त करके फिर अवसर मिलने पर इसी क्रम की अनेक आवृत्तियाँ (साइकिल्स) करते हैं। प्रत्येक वार चित्त को उनसे आह्लाद प्राप्त होता है।

पुस्तकों के पढ़ने का एक और अच्छा उपयोग है। प्रायः यह कहा जाता है कि जीवन का महत्व पुस्तकों से कहीं अधिक है। बात वास्तव में ठीक है। और उसके साथ यह भी कहा जाता है कि पढ़ने से बढ़ कर जीवन-यापन करना महत्वपूर्ण है। यह बात भी ठीक है। किन्तु आधुनिक सभ्यता में अधिकांश लोगों के लिये जीवन जैसा होना चाहिये उससे कहीं अधिक संकुचित रूप में है। बहुत कम लोगों को विस्तृत एवं पूर्ण अर्थ में जीने का अवसर प्राप्त होता है। पूरे के पूरे जीवन को स्कूल, दफ्तर, घर और अवकाश के घन्टों में सामाजिक कर्तव्यों में बिता देने से कभी कभी जीवन के पूरे के पूरे क्षेत्र अछूते रह जाते हैं। इस कारण से आधुनिक जगत में अध्ययन कार्य जीवन एवं अनुभव के स्थानापन्न रूप में ही नहीं, वरन् अनुभव के पूरक और सम्बर्द्धक रूप में अधिकाधिक आवश्यक होता जाता है। पढ़ने के लाभ के रूप में अनुभववृद्धि भी (व्यापार में बड़े लाभ की भाँति) उपन्यास के अध्ययन का आह्लादपूर्ण अनुभव है। इसी कारण उपन्यास को जन-साधारण के अवकाश के अवसर का शास्त्र कहा जाता है। इस प्रकार उपन्यास 'कान्तासम्मित उपदेश' की सीमा को छूता है। पर सीख की कहानियों (मारल फेबुल्स) और उपन्यास में एक अन्तर होता है। सीख की कहानियाँ अथवा धार्मिक दृष्टान्त आदि पढ़ते समय मनुष्य को भान होता है कि उसे कुछ सिखाया जा रहा है। 'मित्र-सम्मत'-साहित्य में भी उसको दूसरों के द्वारा जो उससे अच्छे हैं, अधिक अनुभवी हैं। उनके द्वारा अपने को रास्ते पर लाये जाने का भाव रहता है। उसको अपने प्रति हीनता के भाव का भी समावेश रहता है, पर अच्छे उपन्यास के अध्ययन में पढ़ने वाले को कभी यह आभास भी नहीं होने पाता कि उसे उपदेश दिया जाता है। उसे तो केवल जो जैसा है वह दिखा दिया जाता है और इस व्यापार में उसे अच्छा सफल सिनेमा अथवा अपने मन के रंगमंच पर कल्पना की पूरी शक्ति की 'सेटिंग' के साथ अभिनीत जीवन को देखने का-सा आनन्द मिलता है और स्वयं देख कर स्वतः प्रेरित होने की प्रक्रिया पाठक के अनजाने में ही हो जाती है। इसको महात्मा सुकरात द्वारा प्रस्तुत किये गये रूपक की सहायता से प्रस्तुत किया जायगा।

महात्मा सुकरात अपने एक प्रशंसक से सामने देखने को कहते हैं। वह देखता है कि मानव-जाति के प्राणी पृथ्वी के गर्भ में एक खोह में रहते हैं,

जिसमें जिस ओर से प्रकाश आ रहा है, उधर ही एक द्वार है। उस द्वार से आकर प्रकाश पूरी खोह में फैल जाता है। ये सब प्राणी यहाँ (इस गुफा में) अपने बचपन से हैं। उनकी गर्दन और टांगें इस प्रकार लौह-शृंखला से बंधी हैं कि वह इधर-उधर हिल नहीं सकते और केवल अपने सामने ही देख सकते हैं। क्योंकि लौह-शृंखलाओं के कारण वे अपने सर को घुमा नहीं सकते हैं। पीछे की ओर कुछ दूर पर उनके ऊपर आग जल रही है। आग और कैदियों के बीच एक ऊँचा उठा हुआ मार्ग है। अगर कोई देखे तो उसी मार्ग से लग कर बनी हुई एक नीची दीवार है। वह उस जाली का काम करती है जिसके पीछे बैठ कर कठपुतली का नाच दिखाने वाला अपना करतब दिखाता है।

सुकरात की बताई हुई बातों को वह प्रशंसक देखता है।

सुकरात फिर कहते हैं—"क्या तुम दीवार के सहारे चलते हुए मनुष्यों को देख रहे हो जो अपने हाथों में लकड़ी और पत्थर तथा अन्यान्य चीजों के बने सब प्रकार के पात्र और पशुओं की मूर्तियाँ और आकृतियाँ लिये जा रहे हैं और जो सब दीवार के ऊपर दिखाई पड़ रहे हैं उनमें से कुछ बातचीत कर रहे हैं और कुछ चुप हैं।"

'तुमने मुझे विचित्र मूर्ति दिखाई है और वे विचित्र बन्दी हैं।'

"मैंने उत्तर में कहा—हमी लोगों की भाँति····जो चीजें ले जाईं जा रही हैं उनकी वे केवल उसी छाया ही को देख रहे हैं, जो पीछे जलती हुई आग की रोशनी सामने की दीवाल पर छाया के रूप में प्रस्तुत करती है।"

"जी हाँ," उनके साथी (ग्लासां) ने कहा।

"आगे और सोचो कि कैदखाने में एक प्रकार की प्रतिध्वनि उठती है जो दूसरी ओर से आती है। ऐसे अवसर पर क्या वह इस बात की कल्पना नहीं करेगा कि कोई पास से जाने वाला उस ध्वनि को सामने की छायाओं से आता हुआ बता सकता है।"

उसके प्रशंसक ने कोई प्रश्न नहीं पूछा।

"मैंने कहा कि उनके लिए सत्य का शाब्दिक स्वरूप उन मूर्तियों की छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।"

महात्मा सुकरात फिर ज्ञान की परम्परा स्पष्ट करने के लिये अपने ही रूपक का विकास करते हुए दिखलाता है कि आत्मा ऊपर उठते हुए शाश्वत स्वरूपों तक पहुँचता है। लेकिन हमें इस रूपक को कैदियों के इस भ्रम के आगे नहीं ले जाना है कि वे जो छायाएँ देखते हैं वे वास्तविक लोग हैं और

जिन बोलियों की प्रतिध्वनि होती है वे उन्हीं लोगों की बोली की प्रतिध्वनि है। पूरा का पूरा कथा-साहित्य इन्हीं विचित्र मूर्तियों से सम्बद्ध रहता है, कथा कहने वाले का उद्देश्य सुनने वाले के मन में बिल्कुल इसी प्रकार की धारणा को जमा देना है[1]।

इस रूपक से यह निष्कर्ष निकलता है कि पढ़ने वाले का कार्य एक आविष्कार करने वाले अथवा खोज करने वाले का-सा कार्य रहता है और जब हम किसी भी उपन्यास को पढ़कर उसके अन्तर्निहित मन्तव्य को कहानी की ओर को अलग हटा कर देख पाते हैं तब हमें वैसा ही अनन्द होता है जैसा आनन्द कोलम्बस को अमरीका की भूमि को देख कर हुआ होगा अथवा जैसा आनन्द एक वैज्ञानिक को अपने सफल आविष्कार में होता है।

यहाँ पर इस बात को थोड़ा-सा और स्पष्ट कर देना है। अह्लाद, स्वाद अथवा हर्ष तीन प्रकार का होता है। एक प्रकार के आह्लाद के लिए हमें अपने को ढीला करके ढाल की ओर छोड़ देना होता है और हमें ऊँचाई से नीचे की ओर लुढ़कने में आनन्द आता है। इस में व्यक्ति का स्वयं कुछ करना तो दूर की बात रही वह पतनोन्मुख होते हुए भी अपने को नहीं रोकता। उसे गिरने में ही (पतन में ही) झूठे प्रकार का अह्लाद होने लगता है। इस कोटि में वे पाठक आते हैं जो घासलेटी साहित्य, अधुनिक अमेरिकन-'कामिक' की भाँति यौनस-मस्यापरक अश्लील साहित्य में ही पढ़ने का पूरा मज़ा लूटने का उपक्रम करते हैं। ऐसे लेखकों और पुस्तकों को तो प्लेटो की ही भाँति आज के गणतन्त्रात्मक देशों में भी कोई स्थान न मिलना चाहिए। दूसरी कोटि होती है उन व्यक्तियों की जो स्वयं कुछ न करते हुए भी दूसरों के आयास की सहायता से—मोटर में बैठ कर साथियों के साथ घूमने में-सिनेमा अथवा नाटक देखने में आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इस कोटि में उपन्यास के वे पाठक आते हैं जो घटनापूर्ण विचित्र-वृत्त पूर्ण कथानकों को पढ़कर केवल अपना कुतूहल शान्त करते हुए

1 "All stories are dramas. All dramas take place in the Theatres. All theatres are dark and the darkest theatre is the one where the drama of fiction is staged : it has no light at all except on the novelist's word, the word used for this stage was originaly a 'den' which in Plot's allegory gets the form of a 'cave'.

—BERNARD DEVOTE—'*The World of Fiction*'—p. 77.

पढ़ने का मजा लेते हैं। ऐसे लोग उपन्यास से मनोरंजन प्राप्त करते हैं पर केवल मध्यम श्रेणी का ही। उपन्यास से उत्तम कोटि का मनोरंजन प्राप्त करने के लिए हमें तेनसिंह और सर हिलैरी ऐसे 'माउन्टेनियर्स'—पर्वतारोहियों का उदाहरण लेकर समझना पड़ेगा। चढ़ने की कठिनाई, पद-पद पर जीवन का भय, होते हुए भी चढ़ते ही चढ़ते प्राकृतिक सुषमा का दृश्य तथा अभीष्ट 'प्वाइंट' पर पहुँच कर अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव दोनों ही पर्वतारोही की सतत साधना का वरदान होते हैं। उपन्यास के पढ़ने में भी जो पर्वतारोहियों की भावना, उनका-सा साहस और दृढ़ता लेकर धरती पर पैर जमा कर आगे बढ़ते हैं वे ही प्रथम श्रेणी के पाठक उपन्यास के प्रेरक तत्व मनोरंजन के वास्तविक स्वरूप की सिद्धि कर लेते हैं। योगी न होते हुए भी ब्रह्मानन्द का ज्ञान न रखते हुए भी वे कुछ ऐसा करते हैं जो योगी-सा व्यक्ति ही कर पाता है और जो आनन्द उनको होता है उस आनन्द की तुलना बड़ी अच्छी तरह से अपनी ऐकान्तिकता एवं शाश्वतता के कारण ब्रह्मानन्द से की जा सकती है।

अर्थसिद्धि

उपन्यास रचना का एक और प्रेरक तत्व है और वह है सहज में अर्थ-सिद्धि की भावना। आज के संसार में और कुछ लिखकर मनुष्य इतना अधिक धनोपार्जन नहीं कर सकता जितना कि उपन्यास के लिखने के द्वारा। उपन्यास के स्वरूप स्थिर करने में तथा उसके उपकरणों के चयन एवं उनमें से किसी एक को ही बढ़ावा देने के कार्य में इस अर्थ सिद्धि की भावना का बड़ा महत्व है।

प्रारंभ में तो अंग्रेजी के उपन्यास साहित्य में भी उपन्यास का आरंभ 'स्त्री-सुबोधनी'-सी पुस्तक के रूप में एक प्रकाशक के द्वारा हुआ। पत्रों के संग्रह के रूप में वह पुस्तक खूब सफल हुई। इसका लेखक दूर-दूर की पाठिकाओं का 'प्राइवेट ऐडवाइजर' (वैयक्तिक सलाहकार) बन गया। इससे उसको बड़ा लाभ भी हुआ उसकी देखा-देखी अनेक लेखकों ने साहित्य के इस प्रकार को 'बिजनेस-प्रोजेक्ट' के रूप में अपनाया। आधुनिक युग में उपन्यासों का प्रचार भी बढ़ा। पढ़ने वाले अधिकतर उपन्यास ही पढ़ते थे। प्रकाशकों और लेखकों को अधिक से अधिक इन्हीं से लाभ भी होता था और छापाखानों में इन्हीं के कारण अधिक काम रहता था। अतः लोगों ने इसकी रचना की ओर विशेष ध्यान दिया।

हिन्दी में उपन्यास की परंपरा को जमाने वाले बाबू देवकी नन्दन खत्री थे। इन्होंने उर्दू के रतननाथ सरशार तथा तिलिस्म होशरुबा के आधार पर हिन्दी में 'चन्द्रकान्ता' लिखी। 'चन्द्रकान्ता' के अन्त में लेखक का उद्देश्य स्पष्ट

किया गया है पर उन सब बातों के साथ जो बात नहीं कही गई है वह यह है कि उपन्यास को अर्थसिद्धि के सरल साधन के रूप में निम्नतम कोटि के लेखकों ने भी अपनाया। अंग्रेजी और हिन्दी—दोनों में ही पहले-पहल तृतीय श्रेणी के लेखक और लेखिकाओं ने उपन्यास-रचना को अपनी जीविका का साधन बनाया। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों की बड़ी बिक्री हुई। इस प्रकार के उपन्यासों की सफलता से प्रभावित होकर प्रकाशक लोग अन्य साहित्यिकों से भी बड़े-बड़े उपन्यास लिखने की माँग करने लगे और कहीं हो या न हो, पर उपन्यास में तो धन की प्राप्ति की ऐषणा इसकी रचना के लिए विशेष प्रभावशाली प्रेरिका-शक्ति बन गई।

प्रेमचन्द के सन्निकट रहने वाले लोग इस बात के साक्षी हैं कि वे अपने उपन्यासों को अर्थ-प्राप्ति के लिए ही इतनी शीघ्रता से लिखते थे, पर उनका यह दुर्भाग्य था कि लाभ का ९० प्रतिशत प्रकाशक के पास जाता था। के० एम० मुंशी ने अपने वकील-जीवन के प्रारंभिक काल में अपना दिन-प्रतिदिन का खर्चा पूरा करने के लिए अपना प्रसिद्ध प्रभावशाली 'तन मन' के चरित्र वाला 'वैरनी वसूलात' नामक उपन्यास लिखा। 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और यशपाल तथा भगवती प्रसाद बाजपेयी आदि लेखक आज के युग में अपने उपन्यासों को अर्थोपार्जन की प्ररणा से ही लिख रहे हैं। उनके उपन्यासों के द्वारा साहित्य-सेवा नहीं होती—ऐसी बात नहीं है।

अंग्रेजी साहित्य में चार्ल्स डिकेन्स और सर वाल्टर स्काट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डिकेन्स ने इसी 'अर्थकृते' की वृत्ति से अपने सब उपन्यास लिख कर अपनी हैसियत बनाई थी। सर वाल्टर स्काट ने भी तो उपन्यास रचना को धनोपार्जन का सहज द्वार मान कर लाखों पैदा किए और लाखों खोए।

स्टीवेन्सन तो स्पष्ट रूप से कहता है कि लोग चाहे जिन महदुद्देश्यों की दुहाई दें पर मैं तो यह बता देना चाहता हूँ कि मुझे उपन्यास लिखने की प्रेरणा देने वाली यही अर्थ-प्राप्ति की बात है और मैं इसी से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ।[1] ऊपरी साहित्यिकता के आडम्बर से भले ही कोई इसे

1 "'Let us tell each other', he said 'sad stories of the bestiality of the beast whom we feed.' Reader, Stevenson meant you. And he goes on to say; What the public likes is work (of and kind) a little loosely executed; so long as a little

स्वीकार न करे पर वास्तव में अपने मन ही मन सभी स्टीवेन्सन के कथन का समर्थन करते हैं।

प्रेरक तत्व कुछ भी हो, पर इतना तो निश्चय है कि लेखक पाठक को प्रभावित करना चाहता है। अपनी उपन्यास की सफलता वह अधिक से अधिक संख्या में लोगों का मनोरंजन करने में और अपने प्रकाशक से एक बड़ी रकम 'रायल्टी' के रूप में पाने में ही समझता है। इन सब के बाद वह साहित्य-संसार के आलोचक की ओर ध्यान दे लेता है। कुछ लेखक पाठकों को सन्तुष्ट करते हैं पर आलोचक उनकी रचनाओं को देख कर नाक-भों सिकोड़ते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लेखक (विशेषत: विद्वज्जन लोग) जो आलोचना की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी पाठक-जनता में सर्वप्रिय नहीं बन पाते। कला एवं शैली के उपासक न धन की परवाह करते हैं और न निम्नकोटि की जनरुचि की ही। उनकी रचनाएँ विशुद्ध रूप से कला की उपासना का परिणाम हैं, यथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'मंगल-प्रभात' एवं राखालदास का 'करुणा' एवं 'शशांक', फकीरमोहन सेनापति का 'समाज'। तीसरे प्रकार के बड़े भाग्यवान लेखक वे होते हैं जो अपने रचना-कौशल के सामंजस्य से सामान्य जन-रुचि को मुग्ध और सन्तुष्ट करते हुए आलोचकों की दृष्टि में भी ऊँचा स्थान प्राप्त करते हैं, यथा—प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, नागार्जुन, फणीन्द्रनाथ रेणु, शरत्चन्द्र, बंकिम बाबू, विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय और ताराशंकर पाठक, रमणलाल बसन्तलाल देसाई आदि। इस अन्तिम सफलता का कारण इन लेखकों का रचनाकौशल होता है। इन लेखकों ने उपन्यासों के उपकरणों का उपयुक्त ढंग से संघटन किया है और फिर उनको इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि उपन्यास अपना वांछित स्वरूप पा गया है, और उसमें पाठक सहजभाव से लेखक के मन्तव्य को प्राप्त करते हुए अपने जीवन सम्बन्धी अनुभव में वृद्धि कर एक प्रकार की खोज-सी कर लेने के आंतरिक आह्लाद का अनुभव करता है।

---

wordy, a little slack, a little dim and knotless, the dear public likes it; it should (if possible) be a little dull into the bargain. Iknow that good work sometimes hits; but with my hand on my heart, I think it is by accident. And I know also that good work must succeed at last; but that is not the doing of the public; they are only shamed into silence or affectation. I do not write for the public; I do write for money, a nobler deity ; and most of all for myself, not perhaps any more noble, but both more, intelligent and nearer home."

—WALTER ALLEN : '*Reading a Novel*'—p. 7.

उपन्यास के तत्व[1]

जिस प्रकार सृष्टि के निर्माण के मूल में पंचतत्वों के मेल का खेल है उसी प्रकार उपन्यास की सृष्टि में प्रेरक तत्वों के अतिरिक्त उपकरण रूप कुछ विशिष्ट तत्वों का भी योगदान होता है। वास्तव में पूर्णता को प्राप्त कलाकृति की भाँति उपन्यास एक इकाई है पर अध्ययन की सुविधा के लिए एवं तत्संबंधी विवेचन के लिये उसके मूल उपकरण रूप तत्वों का निरूपण आवश्यक है।

विलियम हेनरी हडसन उपन्यास को घटनाओं और कृत्य के योगफल के रूप में लेता है। किन्हीं घटनाओं का कारण परिस्थितियाँ ही होती हैं और कुछ घटनाएँ इन्हीं परिस्थितियों के बीच में स्थित किन्हीं व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं। इन सबके एक में मिले-जुले रूप को कथावस्तु या प्लॉट कहते हैं। इस प्रकार की घटनायें कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन की निधियाँ होती हैं। जो स्त्री पुरुष या अन्य जीव इस प्रकार आगे बढ़ने के लिये घटनाओं को गति देते हैं वे सब चरित्र-वर्ग की सीमा में आते हैं। इन चरित्रों के बीच की मौखिक वार्ता का सम्बन्ध उपन्यास के कथोपकथन अथवा संवाद नामक तीसरे उपकरण से होता है। घटनाओं के रंगमंच के लिए और चरित्रों के उपयुक्त पृष्ठभूमि के साथ प्रकट होने के लिये देश और काल का एक और उपकरण बन जाता है। तत्वों की संख्या की परिगणना में शैली के रूप में हम एक और नवीन उपकरण को ग्रहण कर सकते हैं। स्पष्ट रूप से हो या सांकेतिक रूप में हो उपन्यास को आवश्यक रूप से जीवन का एक दृष्टिकोण उपस्थित ही करना पड़ता है। इस उपकरण को हम उपन्यास के 'उद्देश्य' की संज्ञा दे सकते हैं। उपन्यास पढ़ने से या सुनने से जिस आस्वादन की भावना उत्पन्न होती है उससे उपन्यास के अन्य उपकरण 'रस' का समावेश उपन्यास के तत्वों में किया जा सकता है।

कुछ आलोचकों ने उपन्यास के तीन साधक वर्गों की विवेचना की है—

१. लेखक के 'उपन्यास तत्व एवं रूप विधान' से संकलित

'कथावस्तु' (प्लॉट) 'चरित्र-चित्रण' और 'सेटिंग'। अन्तिम तत्व के रूप में हम सभी साधक तत्वों (वातावरण, संवाद, शैली, ध्वनि, रस आदि) को ले सकते हैं।

'समीक्षा-शास्त्र' के लेखक ने भी उपन्यास के तीन ही प्रधान उपकरण माने हैं। उनका कथन है—"कुछ विद्वानों के उपन्यास के छः तत्व माने हैं— १ वस्तु, २ पात्र, ३ संवाद, ४ देशकाल, ५ शैली, ६ उद्देश्य। किन्तु वास्तव में तो उपन्यास के तत्व तीन ही होते हैं—१ कथा, २ पात्र, ३ व्यापार (घटना समूह)। 'उद्देश्य' वास्तव में तत्व न होकर परिणाम है और 'संवाद' तथा 'शैली' उस कथा को उद्देश्य तक पहुँचाने के साधन हैं। देश-काल भी घटना समूह या व्यापार के अन्तर्गत ही आ जाता है। कुछ आचार्यों ने घात-प्रतिघात या द्वन्द्व (कॉनफ्लिक्ट) तथा कुतूहल (सस्पेन्स) को भी तव माना है, किन्तु ये सब तो उद्देश्य सिद्धि के लिये तत्वों के संयोजन कौशल हैं अथवा पाठकों को फँसाए रखने के उपाय हैं। इन्हें तत्व नहीं समझना चाहिये।

'हिन्दी उपन्यास साहित्य' के लेखक ने 'शैली' के स्थान पर रस को उपन्यास के उपकरण रूप में रखा है। इस प्रकार उन्होंने भी कथा-वस्तु, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, देशकाल तथा रस को उपन्यास के छः तत्वों में ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द इन उपकरणों में चरित्र-चित्रण को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं। वे लिखते हैं—'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" अंग्रेजी का प्रसिद्ध आलोचक 'वाल्टर एलेन' भी चरित्र-चित्रण को प्रथम स्थान देता है। उसके अनुसार इन चरित्रों के ही माध्यम से उपन्यास लेखक उपन्यास के प्रमुख सामाजिक कर्तव्य का संपादन करते हुए पाठकों में सहानुभूतिपूर्ण मर्मज्ञता का उदय करते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार तो मानव-चरित्र की ग्रन्थि खोलने के व्यापार को ही प्रधानता देते हुए उपन्यास में चरित्र-चित्रण को सबसे अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार उपन्यास के अन्य सब तत्व उपन्यास के क्रमिक विकास के साधन अथवा आधार मात्र होते हैं।

वास्तव में प्रत्येक तत्व का अपना स्वतन्त्र महत्व होता है। प्रत्येक तत्व अन्य तत्वों का अवधारण साधन होता है। यदि हम ध्यान से देखें तो यह

पता चलेगा कि उपन्यास अपने उपकरणों की समष्टि का उत्पादन है और प्रभावात्मकता उत्पन्न करने में सबका समान रूप से योग रहता है।

कथावस्तु

कथावस्तु अथवा 'प्लॉट' एक निश्चित साहित्यिक पारिभाषिक शब्द है और इसका प्रयोग साहित्य की कई विधाओं में होता है। यह पारिभाषिक शब्द अपने व्यापक एवं सर्वगृहीत अर्थ में 'एलिस इन वंडरलैंड,' 'चन्द्रकान्ता', 'ट्रिस्ट्र-मशैंडी', 'बिल्लेसुर बकरिहा,' 'रेबेका', 'चित्रलेखा', 'बियांड डिजायर', 'वलच-नमा', 'ले मिजराव्ल,' 'झाँसी की रानी', 'यूलिसिस', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'जां क्रिस्तॉफ, 'वाणभट्ट की आत्मकथा' आदि सभी को समेट लेता है। इन सब उपन्यासों में कुछ-कुछ बातें घटित होती हैं और उस घटित होने में एक क्रम होता है। इस कथाक्रम-नियोजन में कथावस्तु की विशेषता ढूँढ़ी जा सकती है।

कहानी और कथावस्तु

कहानी कथात्मक साहित्य का सबसे सरल एवं प्राचीनतम रूप है। कहानी में भी प्रायः आश्चर्यमय क्रमागत घटनाओं का अंकन मात्र होता है। कहानी बिना विचार के सब कुछ स्वीकार कर लेने वाली हमारी उत्सुकता की प्रवृत्ति को संतुष्ट करती है। कहानी में हमारी रुचि 'तब फिर' अथवा 'तारपोर' (अर्थात् आगे क्या हुआ) में होती है। इसके लिए लेखक कल्पना में हमें चाहे जहाँ घुमा सकता है। कहानी में घटनाओं और स्थानों का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता। घटनाएँ भी किसी भी क्रम से प्रस्तुत की जा सकती हैं। लेखक का उद्देश्य कहानी में केवल 'आश्चर्यजनक क्या है? इसी को बताने का होता है।

उपन्यास में प्रतिभासित स्वाभाविकता का क्रम स्वच्छन्द कल्पना के विस्तार को कम अवकाश देता है। कहानी के साधारण आकर्षण का सा प्रभाव उपन्यास में घटनाओं के क्रम-नियोजन द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है। उपन्यास में साधारण पाठक के लिए कहानी ही विशेष महत्व रखती है परन्तु इसका आरंभ और अन्त उपन्यास में बिल्कुल स्वाभाविक रूप से होता है और यहीं से कथावस्तु का प्रभाव आरम्भ होता है।

यदि हम कहानी की परिभाषा करने की चेष्टा करें तो हम कह सकते हैं कि कहानी घटनाओं की गाथा जो समयक्रम की सिधान में प्रस्तुत की जाती है। इसमें सबेरे के जलपान के बाद मध्याह्न का भोजन, रविवार के बाद सोमवार

और जन्म के पश्चात वृद्धि एवं मृत्यु आदि का यथाक्रम वर्णन होता है। साहित्यिक संघटनों में यह निम्नतम एवं साधारणतम संघटन है। इसके विपरीत उपन्यास साहित्य का सबसे अधिक चक्करदार संघटन हैं। उसमें भी कहानी महत्तम समापवर्त्य के रूप में रहती है पर उसका रूप उपन्यास के प्रथम तत्व के रूप में पूर्ण संस्कार से युक्त होता है। कहानी में घटनाएं समयक्रम में होती हैं पर समय-प्रवाह के अतिरिक्त जीवन और कुछ भी है जो घंटा, मिनट, सेकण्ड में नहीं नापा जाता, वरन् अनुभूति की तीव्रता से नापा जाता है। उपन्यास लेखक साहित्यिक कलाकार के रूप में कहानी के समय-क्रम से मुँह फेर कर खड़े होने का साहस करता है। वह स्मृति एवं आशा के लम्बे-लम्बे डगों से कल्पना के विस्तार में बड़ी स्वाभाविकता से पदचिन्ह् बनाते हुए चलता है। कथावस्तु में हम कहानी के समय-क्रम बाधित जीवन को पार कर अनुभूति की तीव्रता के जीवनक्रम में—'मान' के जीवन-क्रम में प्रवेश करते हैं।

कथावस्तु और कहानी में अन्तर समझ लेने पर कथावस्तु की परिभाषा को समझना और भी सरल हो जायगा। कहानी को जीवन प्रवाह से मिले हुए समय क्रम के अन्तर्गत घटनाओं के कुतूहल-वर्धक कथन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कथावस्तु में भी अनुभूति की तीव्रता से युक्त जीवन क्रम में ही घटनाओं का कथन होता है पर इसमें संयोग पर अधिक बल दिया जाता है। 'प्रेमी मरा और उसके बाद प्रेमिका मर गई' यह तो कहानी है। 'प्रेमी मरा और शोक से प्रेमिका भी मर गई' यह कथावस्तु है। पिछले उदाहरण में भी यद्यपि समयक्रम को जैसे का तैसा रहने दिया गया है, पर संयोग के भाव की छाया उस पर पूरी तौर पर है। कहानी की घटना सुनकर या पढ़कर श्रोता या पाठक आगे की घटना जानने की उत्सुकता को प्रकट करते हुए कहता है—'फिर इससे आगे क्या हुआ ?' यदि यही घटना कथावस्तु के उत्पादन के रूप में होती है तो बुद्धितत्व एवं स्मृतितत्व को सजग रखते हुए पाठक प्रश्न करता है—'ऐसा क्यों हुआ ?' कथावस्तु की घटनाओं के संयोजन में किसी भी प्रकार की रिक्तता का आभास नहीं मिलता और न उसमें किसी प्रकार की असंगति का ही दोष मिलता है। उसके विभिन्न अंग उचित रूप से अनुपात में होते हैं। और उनमें परस्पर सामंजस्य भी होता है। कथावस्तु की घटनाएँ आरम्भ में दिये हुए तथ्यों से और एक-दूसरे से स्वतः संजात रूप से निकलती हुई प्रतीत होती हैं। उसकी साधारण-सी घटनाएँ भी लेखक के व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर महत्वपूर्ण बन जाती हैं। उसमें घटनाओं की गतिशीलता इतनी अच्छी प्रकार

नियंत्रित होती है कि वह पाठक को स्वाभाविक गति से बढ़ती हुई मालूम पड़ती है और अन्तिम घटना—चाहे वह प्रत्याशित हो अथवा अप्रत्याशित—इस प्रकार घटित होती है कि वह पिछली सब घटनाओं का तर्क सिद्ध परिणाम ही प्रतीत होती है।

ई० एम० फार्स्टर तथा हडसन दोनों ही ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि कोरी कहानी उपन्यास नहीं बन सकती। उपन्यास में जब कोरी कहानी होती है, घटना-गुंफन और कौशल नहीं होता तो वह नानी की कहानी या शेखचिल्ली की कहानी बन कर रह जाता है। उपन्यास कोरी कहानी बनकर न रह जाय इसके लिए उसके घटना-संघटन अर्थात् कथावस्तु पर विशेष ध्यान देना होता है।

कथावस्तु और वास्तविकता के प्रति आग्रह

कथावस्तु की सामग्री हमारे अपने अनुभव की बातों (वह काल्पनिक ही क्यों न हो उन्हीं) से ली जाती है। कल्पना से कहानी के आकर्षण की वृद्धि तो होती है पर उसकी अतिरंजना कथा-वस्तु का दोष बन जाती है। कथावस्तु के संघटन की सबसे पहली शर्त यही है कि लेखक अपने प्रति ईमानदार हो। वह जो जानता हो, वही लिखे। अंग्रेजी की प्रसिद्धि-प्राप्त स्त्री लेखिका ने अन्य स्त्री-लेखिकाओं के विषय में लिखते हुए कहा है कि वे वहीं असफल होती हैं जहाँ वह पुरुष लेखकों की भाँति लिखने का प्रयत्न करती है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका जेन आस्टिन कथावस्तु के इस सिद्धान्त का आदर्श उदाहरण उपस्थित करती है। उसके उपन्यासों में प्रायः ऐसे ही प्रसंगों की अवतारणा की गई है जिसमें केवल उन्हीं पुरुषों का उल्लेख है जो स्त्रियों के बीच में बैठ कर बातचीत करते हुए पाये गये है। अंग्रेजों में दूसरा उदाहरण हार्डी का है जिसने अपने उपन्यासों की रंगभूमि केवल इंग्लैण्ड के वेसेक्स प्रदेश को ही रखा है। यही कारण है कि उसकी कथावस्तु सुसंघटित रूप में वातावरण को भी एक चरित्र के समान महत्व देने में सफल हुई है। कथावस्तु के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास हिन्दी में विशेष महत्व रखते हैं। इनकी रचनाओं में कथावस्तु-सम्बन्धी विभिन्नता भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है। वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़कुंडार' (१९२९), 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) तथा 'झाँसी की रानी' (१९४६) अधिक ख्याति प्राप्त हैं। इनमें क्रमशः वास्तविकता का आधार बढ़ता गया है। 'झाँसी की रानी' में वास्तविकता इतनी उभर आई है कि उसके जीवन चरित्र

से लगने की बात स्वयं उपन्यास लेखक से गोष्ठियों में पूछी जा चुकी है। लेखक इस प्रकार के प्रश्न की जिज्ञासा उत्पन्न होने को ही अपने कथा-वस्तु के संघटन की विशेषता समझता है। प्रेमचन्द की कृतियों में कथावस्तु की वास्तविकता का पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है इन रचनाओं में प्रायः पात्र ही कथावस्तु के विन्यास एवं घटनाओं के संगटन में क्रियाशील रहते हैं। उनकी क्रियाओं में लेखक की स्वानुभूति का पूर्ण योग रहता है। अतः वास्तविकता का पूर्ण एवं सफल आभास उनके उपन्यासों की अपनी विशेषता है। प्रेमचन्द की रचनाएँ पुरुषप्रधान हैं। उन्होंने पुरुष-प्रकृति का मूलरहस्य पा लिया है। संसर्गवश स्त्री-चरित्रों का भी सफल चित्रण उन्होंने किया है, पर मूल प्रकृति जो नारी है उसकी आत्मा के भीतर उन्होंने दृष्टि नहीं डाली। समय की समस्याओं को ही प्रधानता दी है। कथावस्तु के संघटन-कौशल के साथ वास्तविकता की पूरी पकड़ किसी भी व्यक्ति को सफल उपन्यासकार बना देती है।

कथावस्तु की एक और विशेषता है—उसके कसाव का होना। उसकी अपनी पूर्णता आन्तरिक तत्वों को अपने में कसकर एक इकाई में बाँधती है। साथ ही साथ वह इकाई भी अपने आसपास के वातावरण में 'स्ट्रीमलाइन्ड' वस्तु की भाँति लक्ष्य की ओर बिना अधिक बाधा पाए बढ़ती रहती है। कथा-वस्तु में साज का सा कसाव होता है सब तरफ से मिला हुआ और सबके साथ सहज भाव से। हाँ, कहीं पर उसमें ढील भी हो सकती है पर वह ढील भी इतनी ही दूर तक होती है जितनी दूर तक उसमें सहज भाव की सृष्टि हो। पर प्रत्येक दशा में रहेगी उसमें आदि से अन्त तक साज की-सी एकतानता कि फिर जब संगीत निकले तो उसमें सहज सा निकास हो। उपन्यास लेखक अपने में तो पूरा सतर्क रहता है। भीतर से पूरा कसाव रहता है पर प्रकट में ऐसा लगता है मानों कथानक बहते जीवन का प्रवाह है।

जहाँ कहीं भी संयोजक तत्वों का मेल ठीक से नहीं हो पाता वहाँ लेखक वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता, पर जो लेखक इस संयोजन कार्य को कुशलता से कर लेता है वह प्रत्येक संयोजक घटना का पृथक् पृथक् प्रभाव और उन सब का सम्मिलित प्रभाव भी उचित अनुपात में लाने में समर्थ होता है। अंग्रेजी के लेखक 'थैकरे' के प्रसिद्ध उपन्यास (वेनिटीफेअर) में खण्डों का अलग अलग और सब का मिला कर पूरे उपन्यास के कथानक के अतिशय अधिक प्रभाव का अच्छा उदाहरण है। हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में 'सूरज का सातवां घोड़ा' और 'बहती गंगा' साज के कसाव के अच्छे उदाहरण हैं। ये

उपन्यास उस कोटि के हैं जहाँ पृथक् पृथक् घटनाओं से मिलकर पूरे कथावस्तु का निर्माण होता है। सब घटनाएँ अपने में स्वतन्त्र, पूर्ण एवं परस्पर असंबद्ध-सी लगती हैं पर कथानक की एकता घटनाओं के गतियन्त्र पर आश्रित नहीं होती, वरन् वह प्रधान पात्र के व्यक्तित्व पर सधी होती है जो उपन्यास में वर्णित उन समस्त घटनाओं से जिनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता और जो बिखरी-सी होती है—सूत्रवत् होकर निकलता हुआ गुरियों की माला की डोरी की तरह सबको एक में मिलाए रखता है।

इस प्रकार की कथावस्तु के अध्ययन से पता चलता है कि जितना घटनाओं से मिलकर साधारण ढंग से व्यक्त होता है उससे कहीं अधिक व्यक्त करने का लेखक का प्रयोजन है। अतः सब घटनाओं का नियोजन उसी लक्ष्य को लेकर किया जाता है और घटनाएँ विभिन्न निर्दिष्ट मार्गों से बढ़ती हुई अन्त में सब एक निर्दिष्ट परिणाम को स्पष्ट करने में सहायक होती हैं।

कथानक के ऐक्य का सिद्धान्त हमें उसके एक विशिष्ट पहलू पर विचार करने पर विवश करता है और वह है उपन्यास में नियोजित एक से अधिक कथाओं का होना। जिस उपन्यास में एक कथा होती है उसको साधारण कथानक कहते हैं। जिसमें एक से अधिक कथानक होता है उसके कथानक को मिश्रित या संयुक्त कथानक कहते हैं। मिश्रित कथानक में एक प्रमुख कथा सूत्र होता है और एक या एक से अधिक प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। इसी मुख्य कथा को कथासूत्र (थीम) और प्रासंगिक कथा को 'एपीसोड' या उपकथा अथवा 'अंडरप्लाट' की संज्ञा दी गई है।

कथावस्तु-निर्माण के मूल सिद्धान्त

कथावस्तु की विभिन्न पद्धतियों की उद्‌भावना जहाँ एक ओर जीवन की विविधता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है उसी के साथ कथावस्तु के निर्माण के मूल-सिद्धांतों को भी निर्धारित करती है। जीवन में जो कुछ भी होता है वह कथावस्तु का कारण भले ही बन जाय पर जीवन की प्रत्येक घटना उपन्यास की घटना नहीं होती। जीवन का सत्य कथानक का सत्य नहीं बन पाता। उपन्यास में कथानक की सत्यता भावजगत् की सत्यता को अपने आधार रूप में लेती है।

अब प्रश्न उठता है कि कथावस्तु की उपलब्धि किस प्रकार हो ? हेनरी जेम्स के अनुसार उपन्यासकार कथावस्तु के बीज अथवा कीटाणु किसी न किसी प्रकार निरीक्षण के द्वारा अथवा सुनकर जीवन से ही पा लेता है। जीवन

विषयों से पूर्ण है पर हमें यह पता नहीं कि उनका उपयोग कैसे किया जाय। उपन्यासकार की यही विशिष्टता होती है कि वह उपयुक्त विषय को चुन लेता है। एक सफल उपन्यासकार एक बिन्दु से चलकर आवश्यकतानुसार चरित्रों की सृष्टि करता हुआ अथवा उल्लिखित चरित्रों को वांछनीय गुणों से अभिषिक्त करता हुआ उन्हीं के हाथ में स्वाभाविक ढंग से कथा के प्रवाह को छोड़ देता है।

इस प्रकार के कथानक-बीज अथवा कारण-कीटाणु का अच्छा होना मात्र ही या उपन्यास के द्वारा चुना जाना मात्र ही उपन्यास की सफलता का कारण सिद्ध नहीं होता। जब कथावस्तु निर्दिष्ट हो जाय तब उसका तकाजा लेखक से पूरी ईमानदारी से काम करने का होता है। फ्लावेयर का भी यही कहना है कि जैसा (कथाबीज) सोचे वैसा ही (उसी के अनुरूप ही उपन्यास का) निर्माण करे। उपन्यास सम्बन्धी अपने किसी बीज रूप विचार को विकास देना, इधर-उधर से फूलों को खोज कर पत्तियों की डाली को मोड़-माड़ कर एक गुलदस्ता नहीं बना देना है। यह बहुत-कुछ एक बच्चे को जन्म देने के समान होता है। कुमारी रेबेका ने तो इसकी तुलना वृक्ष की वृद्धि के साथ की है।

जार्ज इलियट और हेनरी जेम्स के ग्रन्थों की तुलना करने से अथवा किशोरीलाल गोस्वामी और जैनेन्द्र की रचनाओं की तुलना करने से हम इस बात को सहज में समझ सकते हैं। किसी भी प्रकार से कथावस्तु का संघटन हुआ हो उन सब में लेखक की जिस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया की अपेक्षा होती है यह आविष्कार की अपेक्षा खोज करने वाली मानसिक प्रक्रिया के अधिक निकट है। आरम्भ से ही कहानी में स्वाभाविकता आ जाती है। लेखक अपने से यह नहीं पूछता, "अब मैं पाठकों की रुचि के लिए आगे किस बात को घटित करूँ? वरन् वह अपने से यह पूछता है कि (ऐसी परिस्थिति में) वास्तव में क्या घटित हुआ?"

शिल्प एवं विषयवस्तु की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास के कथानक के विकास क्रम की रेखा बहुत कुछ इस प्रकार है—सरल एक धारा घटना प्रधान कथानक, पेचीदा चक्करदार अनेक धारा घटना प्रधान कथानक, छिन्न दल-कमल-कथानक, अध्ययन प्रसूत चरित्र-प्रधान, भाव प्रधान एवं नाटकीयता प्रधान कथानक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक रोमांस समस्यामूलक और वातावरण एवं मनोविश्लेषण प्रधान कथानक। हिन्दी उपन्यास का कथानक आदि में सुगठित घटना प्रवाह से युक्त पाठक का प्रमुख आकर्षण था, तत्पश्चात् शिल्प के विकास एवं अध्ययन

के आग्रह वश उसे गौण स्थान प्राप्त हुआ। प्रमुख से गौण होता हुआ वह अतिसूक्ष्म लगभग अदृश्य तक हो गया। कथानक की वह शिथिल बन्धता बहुत समय तक नहीं रही, शीघ्र ही फिर से संगठन, संतुलन, कौतूहल एवं नाटकीयता की माँग हुई और इस प्रकार उपन्यास के रचना कौशल में उसे पुनः प्रमुखता प्राप्त हो रही है। कथानक की यह प्रमुखता उसके प्राचीन रूप की उद्धरिणी न होकर बीच के युगों के तमाम विकास एवं उपलब्धियों से उसे पूर्णतः संशोधित एवं परिबर्धित करती हुई एक नवीन निखरा हुआ रूप दे रही है।

चरित्र चित्रण

चरित्र-चित्रण का महत्व—उपन्यास का विषय मनुष्य और उसका कार्य व्यापार माना गया है। अतः उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व चरित्र चित्रण है। *कुछ आलोचक चरित्र-चित्रण को अधिक महत्व नहीं देते हैं। * इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि चरित्र उपन्यासकार की नहीं पाठक की सृष्टि होता है। निस्सन्देह यहाँ पर यह कहना कोई अच्छा तर्क उपस्थित करना नहीं होगा कि स्वयं उपन्यासकार ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपन्यासकार का सबसे महत्वपूर्ण करणीय चरित्र निर्माण ही है। उपन्यास एक समग्रता की दशा का नाम है और जो कुछ भी उसमें लिखा होता है, उस एक एक शब्द से मिलकर वह बनता है। उसके महत्व का निर्णय भी समग्रता की दृष्टि से होना चाहिये। चरित्र-चित्रण इस समग्रता का एक अंशमात्र होता है पर यह स्पष्ट है कि यह उसका सबसे महत्वपूर्ण अंश है और उसके अवयवात्मक संघटन के विचार से शीर्षस्थान पर रखा जा सकता है क्योंकि जहाँ तक पाठक का सम्वन्ध है बिना चरित्र की सहायता के मनुष्य के भाग्य का विधान स्पष्ट ही नहीं किया जा सकता। उपन्यास में जो कुछ भी होता है उन सबका योग चरित्र के संघटन में होता है। हम चाहे अंग्रेजी में हार्डी के चरित्र अथवा हिन्दी में जैनेन्द्र के चरित्र उदाहरण के रूप में लें तो हमें पता चलेगा कि वे ऊपर से कितने भी साधारण से लगें पर उनके समझने के लिए दोनों लेखकों के पूरे उपन्यासों के संघठन को ध्यान में रखते हुए ही उन पर विचार करना होता है।

यह सभी अच्छे उपन्यासकारों के चरित्र के विषय में सच है। आंशिक रूप से वे अवश्य ही पाठक और चरित्र के बीच में मध्यस्थता का कार्य करते हैं। यह कार्य वह लिखे हुए प्रत्येक शब्द द्वारा सम्पन्न करता है क्योंकि उपन्यासकार का लिखा हुआ प्रत्येक शब्द चरित्र विशेष के प्रति उसके दृष्टि-कोण को ही स्पष्ट नहीं करता वरन् पूरी परिस्थिति को भी स्पष्ट करता है।

इस प्रकार अच्छे लेखकों के चरित्र एक साथ मिल कर उनके उपन्यासों को लेखकों के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का दृष्टान्तरूप बना देते हैं। इन्हीं चरित्रों के माध्यम से वे अपना जीवन-दर्शन भी उपस्थित करते हैं।

चरित्र-चित्रण का आरम्भिक स्वरूप

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में प्रारम्भ में ही हमें कुछ आधारभूत तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है। क्या उपन्यासकार अपने पुरुषों और स्त्रियों को हमारी कल्पना में वास्तविकता का रूप दे सकता है? महान् उपन्यासकार अपनी महान् कृतियों में इस बात को सम्भव बना देते हैं। हम उनके द्वारा निर्मित चरित्रों में ऐसी ही रुचि लेते हैं जैसे अपने आसपास रहने वाले परिचित लोगों में। इस प्रकार सबसे पहली बात जो हमें एक उपन्यासकार की रचना में देखनी पड़ती है वह यह है कि क्या उसके और सब ब्यौरों के भूल जाने पर भी स्वाभाविकता से कार्य करते हुए उपन्यास के चरित्र जीवन की पुस्तक के बन्द करने पर भी जीवित मनुष्यों की भाँति हमारी स्मृति में टिके रहते हैं।

हम यहाँ उस नाटकीय प्रतिभा की मनोवैज्ञानिकता पर वाद-विवाद करना अनावश्यक समझते हैं जिसके द्वारा हमारी स्वच्छन्द कल्पना के स्वरूपों को वास्तविकता का आभास दिया जाता है। इसके मूल में विचार की तीव्र धारणा एवं यथार्थोन्मुख कल्पना है। पर इसके साथ ही साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चरित्र के सृजन की प्रक्रिया स्वयं रचनात्मक शक्ति रखने वालों के लिए उतनी ही रहस्यपूर्ण है जितनी औरों के लिए।

चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में यदि हम अदृश्य शक्ति की बात एक ओर छोड़ दें तो दूसरी ओर हमें यह देखना होगा कि उस[illegible] चरित्र-चित्रण की सफलता यथातथ्य रूप से वर्णन करने पर निर्भर रहती है। नाटकीय पात्रों में व्यक्तित्व का जो प्रभाव उनकी वेशभूषा, हावभाव और बाह्यसंभार द्वारा अर्जित किया जाता है वही सब बातें उपन्यास पढ़ने में, केवल डिकेन्स अथवा प्रेमचन्द ऐसे लेखकों की रचनाओं के सचित्रीकरण को अपवादरूप में छोड़कर कल्पना की सहायता से सम्पन्न की जाती हैं। इसलिए उपन्यासकार के द्वारा चरित्र के बाह्य स्वरूप तथा विशिष्ट स्वभाव का सुस्पष्ट वर्णन चरित्र-चित्रण का आवश्यक अंग होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि यह कार्य संपन्न कैसे किया जाय। लेसिंग के मतानुसार प्रत्येक कुशल कलाकार की यह पहचान होती है कि वह कुछ महत्वपूर्ण ब्यौरों का चयन कर उन्हें एकत्रित करके

विभिन्न अवसरों पर हल्के संकेतों से पाठक की कल्पना को उद्दीप्त करने की चेष्टा करें।

विश्लेषणात्मक और नाटकीय ढंग

चरित्र चित्रण अपने विशिष्ट रूप में—अर्थात् अपने मनोवैज्ञानिक पक्ष में दो बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है जिससे उपन्यास की परिस्थितियाँ दो विरोधी ढंगों को सामने आने देती हैं—प्रथम है सीधा विश्लेषणात्मक ढंग और द्वितीय वक्र नाटकीय ढंग। पहले प्रकार में तो उपन्यासकार किसी चरित्र को लेता है और उसका बाहर से चित्रण करता है। वह उनकी वासनाओं, उद्देश्यों, विचारों और भावनाओं को उघार कर देखता है,, उन्हें स्पष्ट करता है, उन पर टीका करता है और तब अधिकार पूर्ण ढंग से अपने निर्णय देता है। दूसरे प्रकार के चरित्र चित्रण में वह अलग जा खड़ा होता है और चरित्रों को स्वयं अपने भाषणों एवं कृत्यों द्वारा अपने को उघारने देता है। वह चरित्रों के आत्म चित्रण को अन्य चरित्रों के द्वारा उनके विषय में कही गई टिप्पणियों की सहायता से और अधिक स्पष्ट करता है। उपन्यासों में प्रायः इन दोनों ढंगों का मिश्रण होता है। आत्मकथात्मक उपन्यास-चरित्रों में तो लेखक को सब कुछ चरित्र के हाथ में छोड़ देना पड़ता है। प्रायः लेखक द्वारा वर्णन और पात्रों के बीच में संभाषण यह उपन्यास के चरित्रों का व्यापक रूप होता है।

चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया

जिस प्रकार कथावस्तु के मूल में कहानी होती है उसी प्रकार चरित्र चित्रण के मूल में मनुष्य होता है। जब हम संसार को तत्वः देखने का प्रयत्न करते हैं तब उसे मानव की क्रियाओं एवं विचारों के प्रकट विस्तार के रूप में पाते हैं। उपन्यास मानव के संसार का उपन्यासकार की कल्पना के माध्यम से प्रक्षिप्त रूप है अतः उपन्यास के संसार में उपन्यास के चरित्रों का प्रमुख स्थान होता है। संसार में तो सभी प्राणी होते हैं पर उपन्यास में तो प्रायः केवल मनुष्य ही होते हैं। अपवाद रूप में हमें कुछ उपन्यास मिलते हैं जिनमें मनुष्येतर प्राणियों का चरित्र भी मिलता है। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान रूसी एवं अमेरिकन स्पुतनीक और कृत्रिम चन्द्र के प्रयोग द्वारा विज्ञान भविष्य में उपन्यास के चरित्रों का विस्तार मनुष्येतर वर्गों में भी करेगा। पर जब तक 'लेका' अथवा 'चेतक' ऐसे चरित्रों का प्रवेश उपन्यास जगत में नहीं होता तब तक हमें यही मानना पड़ेगा कि उपन्यास के पात्र मनुष्य ही होते हैं।

ई० एम० फार्स्टर चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया को अपने तत्संबंधी प्रवन्ध में प्रस्तुत करता है। उसका कथन है कि उपन्यासकार स्वयं मनुष्य होता है; अतः उसके द्वारा निर्मित चरित्र में जो निकट का संबंध होता है वह कला के और किसी स्वरूप में नहीं होता। इतिहासकार आदि का संबंध भी मनुष्यों से होता है पर वह संबंध उतना अंतरंग नहीं हो सकता। चित्रकार एवं मूर्तिकार का इस प्रकार का भौतिक संबंध चित्र अथवा मूर्ति से अथवा 'माडेल' से भी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कवि और संगीतज्ञ का तो प्रेरणा देने वाली मानवीय शक्ति के रूप में अथवा सुनने वाले गुणग्राहकों के रूप में कलाकार से भले ही कुछ सम्बन्ध हो किन्तु कविता एवं संगीत-सृष्टि के रूप में उसका उस तरह का कोई संबंध नहीं होता।

वास्तविक जीवन के मानव और कथात्मक जगत के मानव में भी अन्तर होता है। कथा-जगत का मानव अपने इस निकट वन्धु से अधिक भ्रमात्मक होता है। दूसरी प्रकार का मानव विभिन्न उपन्यासकारों के मस्तिष्क में स्थान पाता है और मस्तिष्क स्थित चरित्र के विकास करने के उनके अलग-अलग ढंग होते हैं अतः इसके विषय में सामान्य नियम नहीं बनाए जा सकते। तो भी हम कुछ बातें निश्चित रूप से कह ही सकते हैं। सबसे आवश्यक बात जो उसके विषय में हम जानते हैं वह यह है कि हम-उसके विषय में अपने परिचित व्यक्तियों से अधिक जान सकते हैं क्योंकि उनका स्रष्टा और उनके विषय में लिखने वाला एक ही होता है। चाहे वह उन सब बातों को हम पर प्रकट न भी करना चाहे और बहुत-सी ऐसी बातें जो विल्कुल स्पष्ट होती हैं उन्हें भी चाहे वह न लिखे—इतना होने पर भी वह हमारे ऊपर कुछ ऐसा प्रभाव डाल सकता है कि यद्यपि चरित्र की व्याख्या की नहीं गई पर उसकी व्याख्या की जा सकती है और इसमें हमें जिस प्रकार की स्वाभाविकता पुस्तक के चरित्र में मिलती है वैसी दैनिक जीवन में नहीं मिलती। इस दिशा में उपन्यास इतिहास से अधिक सत्य के निकट है क्योंकि उसका ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के पार जाता है और इसमें से प्रत्येक जानता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के पार भी कुछ है और उपन्यासकार यद्यपि उसे पूर्ण रूप से नहीं भी प्राप्त कर सकता है तो भी वह उसे जानने का सफल प्रयत्न तो करता ही है।

इसी कारण वे सब चरित्र वास्तविक संसार में नहीं देखे जा सकते। उनका छिपा-जीवन स्पष्ट रहता है या स्पष्ट हो सकता है परन्तु हम ऐसे हैं जिनके जीवन का रहस्य अभेद्य ही रहता है। इसी कारण दुष्ट चरित्रों वाले

उपन्यास भी सांत्वना देते हैं। वह एक अधिक समझदार और नियन्त्रण में रहने वाली मानव जाति का विचार प्रस्तुत करते हैं। वे हमें अन्तर्दृष्टि एवं शक्ति की संभावना का भ्रम देते हैं।

उपन्यास में ई० एम० फार्स्टर महोदय के अनुसार चरित्रचित्रण के दो मुख्य पहलू होते हैं। एक ओर तो उसमें मानवप्रयत्न (अर्थात् उपन्यासकार की सृजन-शक्ति) का कौशल होता है और दूसरी ओर प्रकृति की स्वाभाविकता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति। उपर्युक्त विवेचन में यह तो स्पष्ट हुआ कि चरित्र को हम जीवन से निकालकर पुस्तक में रख सकते हैं अथवा पुस्तक के पात्रों को हम अपने बीच में पा सकते हैं। इसका नकारात्मक उत्तर नया महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित कर देता है कि क्या हम दिन प्रतिदिन के जीवन में एक दूसरे को समझ सकते हैं? यह समस्या अधिक शास्त्रीय है। इसके पश्चात् फार्स्टर महोदय चरित्र का अध्ययन उपन्यास के अन्य पहलुओं के साथ प्रस्तुत करते हैं। यह पहलू हैं कथावस्तु, उद्देश्य, साथ के दूसरे चरित्र, वातावरण आदि। वह चरित्र को अपने रचने वालों की अन्य बातों को अनुकूल बनाने की आवश्यकता का भी अनुभव करता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुस्तक के चरित्र दैनिक जीवन से मेल नहीं खाते, केवल उसके सामानान्तर चलते हैं। जब हम बोलचाल की भाषा में कहते हैं कि अमुक चरित्र 'बिल्कुल जीवन से मेल खाता है' तो उससे यही अभिप्राय होता है कि उसके जीवन खंड पृथक्-पृथक् वास्तविक जीवन खंडों की भाँति हैं, पर अपने पूरे रूप में केवल वह किसी ज्ञात व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) के समान-सा है। उसको हम साहित्यिक एवं आलोचनात्मक विवेचना के लिए भी उपन्यास से अलग करके नहीं ले सकते क्योंकि उसको वहाँ से उखाड़ने में साथ में लगे हुए अन्य चरित्र-वातावरण आदि भी उखड़े चले आएँगे। अधिकांश उपन्यासों में चरित्र अपना विस्तार अपने आप नहीं करते उन्हें परस्पर व्यवहार जन्य संयम से काम लेना पड़ता है।

चरित्रों के प्रकार

ई० एम० फार्स्टर का चरित्र विभाजन कुछ बातों के अपवाद के सहित सार्वभौम सा होगया है। वह चरित्रों को दो प्रकारों में बाँटता है।

(१) स्थिर (Flat) (२) गतिशील (Round)।

स्थिर चरित्रों को १७ वीं शताब्दी में 'प्रवृत्ति विशेष' वाले चरित्र (Humaur) कहा जाता था। एक समय उन्हें 'प्रकार' (Types) की संज्ञा दी

जाती थी और कभी वह व्यङ्ग अथवा विकृत' चरित्र (Caricature) के नाम से अभिहित होते थे। अपने शुद्धतम स्वरूप में स्थिर चरित्र किसी एक गुण अथवा विचार को लेकर गढ़ा जाता है। जब उनमें एक से अधिक प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगती है तो उनमें गतिशीलता का आरम्भ हो जाता है। जो सचमुच में 'स्थिर' चरित्र होता है, उसको एक वाक्य में प्रस्तुत किया जा सकता है—I will never desert Mr. Micowber हिन्दी में प्रेमचन्द की रंगभूमि में बिल्कुल इसी का समानान्तर चरित्र ईश्वर सेवक का है जो सदैव—'प्रभु मसीह, मुझे अपने दामन में छुपा'—इन शब्दों में पहचाना जा सकता है।

एडविन म्योर भी फार्स्टर का चरित्र विभाजन स्वीकार करते हैं पर वह फार्स्टर से इस बात में सहमत नहीं है कि स्थिर कम महत्वपूर्ण होते हैं। एडविन म्योर ने फार्स्टर के स्थिर चरित्र को नया रूप दिया। उसके अनुसार स्थिर कहे जाने वाले चरित्रों में केवल वही गुण नहीं होता जिसकी विशिष्टता से वह भीड़ में भी पहचाना जा सकता है। वह विशिष्ट गुण उसके विषय में चरित्र का 'सत्य' हो सकता है पर उसका 'सम्पूर्ण' नहीं होता। चरित्र-प्रधान उपन्यास उसके उसी एक अंश को सामने लाता है।

युग युग की उद्‌भावनाओं के अनुसार उपन्यास में चरित्र की उद्‌भावना की जाती है। 'स्थिर' या गतिशील कहा जाने वाला चरित्र इसी विशेषता को प्रमुख रूप से अपने में स्पष्ट करता है।

चरित्र के अन्य प्रकार : स्थिर, निर्मित तथा विकसित

चरित्र की उद्‌भावना के विचार से सभी प्रकार के पात्र तीन कोटियों में रखे जा सकते हैं। पहली कोटि स्थिर चरित्रों की होती है। उपन्यास में स्थिर चरित्र वर्गों के प्रतीक के रूप में आते हैं। वे उसके ऐसे रूप होते हैं जो जन-मानस की कल्पना में रूढ़ मूर्ति हो जाते हैं। ऐसे चरित्र किसी बुरी विशेषता को हास्य का विषय बना देते हैं अथवा मनुष्य को पत्थर का पुतला बना देते हैं। इसके निर्माण के पीछे वास्तविक जीवन में चरित्र-सुधार का उद्देश्य रहता है।

निर्मित चरित्र कथानक की अनुरूपता में हम जब और जैसा चाहते हैं, वह तब वैसा ही बनता चलता है। ऐसी स्थिति में तब हम पात्र को आरम्भ में गढ़कर उसमें वांछित गुणों का समावेश कर उन्हें जीवित कर देते हैं। निर्मित पात्र वास्तविकता की कठिनाई पर कल्पना की गढ़न होती है। निर्मित चरित्र को

लेखक कथानक की आवश्यकतानुसार बनाते हुए आगे बढ़ता है। उसमें स्वयं अपनापन यहीं के समान होता है। अवसर की अनुकूलता उसे गढ़ती रहती है पर उपादन की समानता से चरित्र में एकतानता बनी रहती है। मूर्ति में आरोप सा होता रहता है और ऐक्टर स्वांग भरता रहता है।

विकसित चरित्र में पुष्प का सा विकास होता है। वह निर्भर रहता है केवल समय के क्रम के अन्तर पर। उपन्यास का विकसित पात्र डण्ठल पर खिलता हुआ फूल होता है। उसका विकास स्वयं अंकुर की शक्ति एवं वातावरण के अनुदान पर निर्भर रहता है। यह पात्र निर्मित चरित्र की भाँति कलाकार द्वारा गढ़ी हुई जीवित मूर्ति नहीं होता वरन् स्वाभाविक गति से वृद्धि-प्राप्त जीवन का व्यक्तित्व होता है।

मनोविज्ञान और चरित्र चित्रण

वस्तुतः उपन्यास मानव की जीवन-गाथा ही है जिसे हम पात्रों के माध्यम से जानते हैं। इन पात्रों के चरित्र के संबंध में हमें तीन बातों पर विचार करना होता है–(१) चरित्रोद्घाटन (Exposition) (२) चरित्र-वर्णन (Desription) (३) चरित्र-चित्रण (Charecterization)

उपन्यास में गंभीर-प्रकृति के लेखक के लिए साधारण ढंग का चरित्र का उद्घाटन, वर्णन अथवा चित्रण साधारणतया पर्याप्त नहीं होता। समय-समय पर पाठक जानना चाहता है कि चरित्र अमुक परिस्थिति विशेष में कैसा अनुभव करता है, विशेषकर संकटापन्न स्थिति में होने पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, अपने ही कार्यों के प्रति उसके मन में कैसा द्वन्द्व उठता है, जिस प्रकार कार्य हो रहा है, उसका उद्देश्य क्या है ? इसी प्रकार वह इस बात को भी देखता है कि परिस्थिति-विशेष के होने पर उसकी भावनाएँ और मानसिक प्रक्रिया किस प्रकार की होती है। उसकी भावनाओं को इन समस्त विवरणों के साथ प्रस्तुत करने की क्रिया को कथा साहित्य को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम दिया गया है। यह वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय ढंग से अध्ययन किए जाने वाले मनोविज्ञान से बिल्कुल भिन्न होता है। वर्णनात्मक कलाओं में मनोविज्ञान वह तत्व है जो 'साइक' अथवा अनुभव के वैयक्तिक पहलू से सम्बन्धित होता है। अँग्रेजी साहित्य में सन् १८५० ई० के लगभग साहित्य में इसका प्रयोग हुआ। यह हेनरी जेम्स के उपन्यासों में अपने शीर्ष बिन्दु पर पहुँचा, पर उसके उपन्यासों में वह अपने चरम बिन्दु तक नहीं पहुँचा। जेम्स ज्वाएस तथा वर्जीनिया वुल्फ आदि लेखकों की रचनाओं में चरित्र-चित्रण संबंधी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की

और अधिक प्रगति हुई। यह यहाँ तक हुआ कि कहीं तो इस प्रकार के उपन्यास में 'प्लाट' का पता ही नहीं चलता।

हिन्दी उपन्यास साहित्य पर भी इन लेखकों का प्रभाव पड़ा। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाने वालों में जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा प्रो० देवराज का नाम मुख्य है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि इसके पहले उपन्यासकार मनोविज्ञान से प्रभावित नहीं था। उपन्यास ('नावेल') के साधारण जन से—यथार्थ जीवन से सम्बन्धित होने के कारण जिस प्रकार अँग्रेजी के प्रमुख आदि उपन्यासकार फील्डिंग के उपन्यासों के चरित्रों में मनोविज्ञान का प्रभाव है उसी प्रकार हिन्दी में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों के चरित्रों में भी मनोविज्ञान का सहज प्रभाव परिलक्षित होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ये पहले लेखक यथार्थ चित्रण को सहज भाव से लेते थे और अब लेखक सजग हो कर खोज करने वाले की भाँति चरित्र में बैठते हैं। इसके परिणाम स्वरूप चरित्र-चित्रण में एक विशेष प्रक्रिया ने स्वरूप पाया है जो अँग्रेजी में 'स्ट्रीम आव कान्शेसनेस' के नाम से विख्यात है। इसी को हिन्दी में 'चेतना प्रवाह' की तकनीक का नाम दिया गया है।

चेतना प्रवाह तकनीक का आविर्भाव

एक दृष्टि से देखने पर 'चेतना प्रवाह' तकनीक काल-परिमाण से पलायन करने का साधन है। वर्तमान पर अतीत का आघात न केवल स्पष्ट स्मृतियों के रूप में होता है, बल्कि अधिकाधिक अस्पष्ट और सूक्ष्मतर ढंगों से भी होता है, हमारा मस्तिष्क किसी एक ऐसी धारा में बह चलता है जो धरातल पर अप्रासंगिक होता हुआ भी वास्तव में प्रारंभिक स्थिति से एक निश्चित संबंध रखता है। इस प्रकार घटनाओं के प्रति पात्रों की प्रतिक्रियाओं को दिखाते हुए लेखक हमें वर्तमान स्थिति से प्रसूत होने वाली स्मृतियों एवं विचार साहचर्यों से युक्त मस्तिष्क की अवस्थाओं को प्रस्तुत करता है। ऐसा करते हुए वह वर्तमान स्थिति की सृष्टि करता है और साथ ही साथ अतीत की निरंतर बदलती हुई घटना शृंखलाओं का उल्लेख भी करता जाता है।

मस्तिष्क की दशा का यह चित्रण यदि सतर्कता एवं कौशल से किया जाय, तो लेखक सहज ही एक ढेले से दो शिकार कर सकेगा। यह अपने पात्र के वर्तमान अनुभव की यथार्थ प्रकृति की सूचना दे सकेगा और साथ ही प्रसंगवशात्, प्रस्तुत क्षण के पहले के पात्र के जीवन विषयक तथ्यों को भी दे सकेगा। 'पहले के' का अर्थ; सभी संभावनाओं में, उस क्षण से पहले है जब पुस्तक

खुलती है, और इस प्रकार उपन्यास की कालक्रमानुगत योजना भले ही अत्यन्त सीमित-एक ही दिन सही-हो जाए परन्तु पात्रों का ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण अभ्युदय होगा।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में चरित्र-चित्रण

हिन्दी उपन्यास साहित्य के आरंभ में उपन्यास रचना का मुख्य उद्देश्य पाठक की कुतूहल प्रियता को संतुष्ट करना था। लेखक की दृष्टि चित्र-विचित्र घटनाओं पर अधिक लगी रहने के कारण तात्कालिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण को कोई विशेष स्थान न मिल सका। यद्यपि घटनाप्रवाह को स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए लेखकों को थोड़ा बहुत चरित्र चित्रण करना ही पड़ता था और यह चरित्र-चित्रण लेखक स्वयं कह कर अथवा कथोपकथन एवं पत्रादि के माध्यम से करता था। चरित्र-चित्रण की यही विधि पं० किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू देवकी नंदन खत्री तथा उनके समकालीन अन्य उपन्यासकारों ने अपनाई।

अय्यारी एवं जासूसी के विशुद्ध घटना प्रधान उपन्यासों के बीच लाला श्रीनिवास दास, मेहता लज्जाराम, पं० बालकृष्ण भट्ट प्रभृति उपन्यासकारों का एक छोटा-सा दल ऐसे उपन्यासों की सृष्टि कर रहा था जो घटना-प्रवाह की रोचकता के साथ-साथ जीवन के अन्य महत्वपूर्ण पक्षों पर भी दृष्टि रखते थे, जो मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा को भी आवश्यक समझते थे। इनके सोद्देश्य अथवा उपदेशपूर्ण उपन्यासों में घटना प्रवाह से कुछ समय के लिए ध्यान हटा कर जीवन में चरित्र एवं सद्गुणों की व्याख्या का भी अवसर निकाल लेते थे। अपने समकालीन रचनाकारों के पात्रों की भाँति इनके चरित्र भी यद्यपि स्थिर और गतिहीन ही होते थे फिर भी वे मानवीय चेतना से सर्वथा शून्य नहीं जान पड़ते।

चरित्र-चित्रण की दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कदम हमें प्रेमचन्द के चरित्र प्रधान उपन्यासों में ही देख पड़ता है। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं के प्रमुख पात्र या तो बिल्कुल काले हैं या सफेद। प्रकटतः इस प्रकार का चरित्र-चित्रण जीवन की वास्तविकता से सर्वथा अछूता ही रहता है। मुंशी प्रेमचन्द ने ही अपने उपन्यासों के माध्यम से पहले-पहल यह दिखाया कि 'मानवचरित्र' न बिल्कुल श्याम होता है और न बिल्कुल श्वेत। उसमें दोनों ही रंगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है। किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषितुल्य हो जाता है प्रतिकूल हुई तो नराधम। प्रेमचन्द के पात्रों का चरित्रो-

द्घाटन एक क्रम से होता है। प्रेमचन्द से पहले चरित्र-चित्रण की शैली कुछ इस प्रकार की थी कि सभी पात्र प्रायः एक टाइप-विशेष के होते थे। प्रेमचन्द जी हिन्दी जगत् के सर्वप्रथम एक ऐसे कलाकार थे जिन्होंने उन्हीं के अपने शब्दों में 'अभिन्नत्व और भिन्नत्व देखने की सफल चेष्टा की है। उनके प्रायः सभी पात्रों में वैयक्तिक दुर्बलताएँ एवं सफलताएँ हैं। जीवन की कभी एक धारा नहीं होती है। एक प्रमुख जीवन धारा की अनेक जीवन धाराएँ इधर-उधर फूटती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। जो प्रत्यक्षतः अलग-अलग होती हुई भी आगे-पीछे पुनः एक ही रूप को प्रतिभासित करती हैं। व्यक्ति अपने अन्तस में किसी एक ही भाव को पालता-पोसता है, पर सामाजिक भय, मर्यादा उसे किसी दूसरे ही भाव की ओर खींचती है। सारांश यह कि भाव और कार्य की एकरूपता के अभाव में अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि होती है और यही अन्तर्द्वन्द्व व्यक्ति वास्तविक जीवन है। प्रेमचन्द जी ने जीवन के इस अन्तर्द्वन्द्व का मानव-मन के अन्तराल में प्रविष्ठ होकर अध्ययन किया था।

चरित्र-चित्रण की परोक्ष विधि का आधुनिकतम, उग्र एवं उत्कृष्टतम विकास जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में पाया जाता है। मनोविश्लेषण साहित्य के इन पंडितों ने मनुष्य के अन्तर्मन की अतल गहराइयों में पैठने के सराहनीय प्रयत्न किए हैं और अपने पात्रों के वाह्य एवं अन्तरंग दोनों के ही विषद, तुलनात्मक एवं सापेक्षिक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। कला की दृष्टि से यह प्रयोग अकादमीय होते हुए भी लेखक की रससयी कला का सहारा पाकर कहीं तो बड़े सुन्दर और कहीं विषय की अनिवार्य दुरूहता से आच्छादित होने के कारण विशिष्ट अध्ययन से वंचित रहने वाले पाठकों के लिए बड़े शुष्क, विरस और उबा देने वाले भी हो गए हैं। चरित्रांकन की यह विशिष्ट अध्ययन प्रसूत मनोविश्लेषणात्मक यथातथ्य निरूपण की शैली बहुत रुचिकर एवं लोकप्रिय नहीं जान पड़ती। ऐसे उपन्यासों की खपत का क्षेत्र कालेज और विश्वविद्यालयों की शिक्षा पाए हुए पाठक वर्ग तक ही सीमित रहता है।

कथोपकथन

कथोपकथन का महत्व—किसी भी मनुष्य के सम्बन्ध में ज्ञान संग्रह हम उसके कृतित्व के सहारे तो करते ही हैं पर उसके विषय में दिन प्रतिदिन का ज्ञान हमें उसकी बातों द्वारा होता है। जो कुछ वह दूसरों से कहता है (दूसरों के संबंध में या अपने संबंध में) और जो कुछ दूसरे उससे कहते हैं उसी

के सहारे हम उसके भीतर पहुँचते हैं। उपन्यास में तो वार्तालाप अपनी विविधता के साथ प्रयुक्त होता है। कभी-कभी वार्तालाप पानी के सोते सा फूट पड़ता है और तभी तो वह कथोपकथन का स्वाभाविक, उपयुक्त और नाटकीय रूप होता है, अन्यथा प्रायः संभाषण नल के पानी की तरह जितना उपन्यासकार चाहता है निकालता रहता है। उस स्थिति में कथा-प्रवाह एवं चरित्रविकास की दृष्टि से जितना आवश्यक होता है, उतना ही बोला जाता है।

ध्वनि और नाद का महत्व बहुत अधिक है। ध्वनि एवं नाद की सार्थकता मानव की अपनी विशेषता है। भाषा-ज्ञान का आविष्कार, ध्वनियों की संगीतात्मकता की पकड़ और उसका रियाज़ (अर्थात् अभ्यास)—लहजा (ध्वनि-विकार या टोन') सब वार्तालाप, संवाद अथवा कथोपकथन की विशिष्टता एवं प्रभावात्मकता के बढ़ाने में सहायक होते हैं।

उपन्यास का सर्वोत्तम स्वरूप वही माना जाता है जिसमें पाठक को यह न प्रतीत हो कि कोई उससे क्या कह रहा है। जार्ज एम० कोहन कहा करता था—"Don't tell 'em"—"Show 'em अर्थात् पाठकों को बताओ मत—उन्हें दिखाओ।[1] बाद वाली क्रिया को यदि हम बदल कर 'देखने दो' कर दें तो अर्थ अधिक स्पष्ट होगा। इस दृष्टि से उपन्यास में कथोपकथन का महत्व अधिक है।

कथोपकथन का अवयविक प्रभाव चरित्रों के विकास और कथावस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक होता है। जिस उपन्यास में कथावस्तु की प्रगति और चरित्र का विकास—लेखक के मन से न होकर संयोग का परिणाम होता है अथवा एकान्त रूप से अज्ञात तत्व की भाँति होता है, उस उपन्यास में यथार्थता नहीं आ पाती। आनन्द के बिल्कुल न होने से उपन्यास में एक प्रकार से कृत्रिमता का वातावरण आ ही जाता है। इसलिए प्रेमचन्द का विचार है कि 'उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय उतना ही अच्छा है। इस सम्बन्ध में इतना ध्यान रखना

---

1 "The aphorism is even more binding and Novelist whose effort is to tell as little as the circumstances permit to show what he has decided is essential, and to make what is shown, suggest the rest."

—BARNORD DE VOTO '*The World of Fiction*' P. 250.

आवश्यक है कि वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। किसी भी चरित्र के मुँह से निकले हुए प्रत्येक वाक्य को उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, और सूक्ष्म होना आवश्यक है।[1]

साहित्य की खोजों से यह पता चला है कि बहुधा संभाषण का कथावस्तु (प्लाट) के क्रम-विकास के प्रयोजन से किया जाता है। अन्तर्धारा की भाँति कथानक की गति संभाषणों के नीचे (जैसा कि बहुधा नाटक में होता है) प्रवाहित होती है। पर संभाषण का मुख्य कार्य चरित्रों से सीधा सम्बन्ध रखता है। चरित्रों के मनोवेगों, उद्देश्यों, भावनाओं के प्रदर्शन के रूप में, जिन घटनाओं में वे भाग लेते हैं, उनके सम्बन्ध में बोलने वालों की प्रतिक्रिया को मुखरित करने के रूप में और उनके एक दूसरे के द्वारा पड़े हुए प्रभावों के परिलक्षित करने के रूप में संभाषण का अत्यधिक महत्व है।

कथोपकथन कहानी का एक अपरिहार्य अंग है। कथोपकथन को सीधे ढंग से अथवा गौण रूप से कथानक की गति में योग देना चाहिये। जहाँ तक चरित्र-विकास का सम्बन्ध कथानक की गति को योग देने से है, वहाँ तक कथोपकथन का भी उसमें सहयोग रहता है। ऐसा कथोपकथन जिसका कथानक के विस्तार अथवा चरित्र के विकास से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, कितना ही चतुराई से पूर्ण अथवा रोचक क्यों न हो, उपन्यास में इसी तरह अग्राह्य होना चाहिए जिस प्रकार स्वयं लेखक द्वारा उपन्यास में सम्मिलित किए जाने वाले विविध विषयों पर लिखे गए निबन्ध। इस प्रकार कथोपकथन से उपन्यास अवकाश का बौद्धिक अभिसार-स्थल बन जाता है और तब तक पूरा का पूरा उपन्यास मनोरंजन के ऊपर बुद्धि का बोझा बढ़ा देता है। ऐसे उपन्यास में पात्र प्रतिभा के अवतारी बन कर विद्वता के ऊँचे कंगूरे पर से वर्तालाप को बुद्धि विलास का रूप दे देते हैं। लेखक आदि से अन्त तक पाठक को दिमागी कसरत या कभी-कभी बौद्धिक 'जिमनेज़ियम' का भी अभ्यास करता है। ऐसे वार्तालाप का महत्व कथानक को आगे बढ़ाने की दृष्टि से कुछ भी नहीं होता।

कभी-कभी सब कुछ कहने के प्रयास में पाठक को इतना अधिक लेखक के द्वारा सुन पड़ता है कि वह ऊब जाता है। अनजाने में 'चेतना-प्रवाह' की शैली

---

१ प्रेमचन्द 'कुछ विचार' (भाग १) पृष्ठ ५५

वाले लेखकों से यह बात कभी-कभी बहुत अधिक मात्रा में संवाद के कारण घटित हो जाती है।

कथोपकथन की वांछित विशेषताएँ

कथावस्तु के साथ आवयविक सम्बन्ध के अतिरिक्त कथोपकथन को स्वाभाविक, उपयुक्त और नाटकीय भी होना चाहिये। वक्ता के व्यक्तित्व के के अनुरूप कथोपकथन अच्छे प्रतीत होते हैं। कथोपकथन में परिस्थिति की अनुरूपता का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। उसे सहज, सुस्पष्ट, रोचक और उसी समय का कहा हुआ सा लगना चाहिये। यह बात तो प्रत्यक्ष है कि ये सब अच्छे कथोपकथन के प्रारम्भिक गुण हैं। इसके साथ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अन्तिम रोचकता का गुण पहले दो गुणों का विरोधी-सा है और उन सबको एक साथ प्रस्तुत करना उन सब के बीच में एक सूक्ष्म संगति की अपेक्षा रखता है और वह उपन्यास के रचना कौशल का सब से कठिन कार्य है।

आदर्श कथोपकथन की परिभाषा करते हुए आर्लोबिटस ने लिखा है—'ऐसी रचना जो मनुष्यों की साधारण बातचीत का सा प्रभाव उत्पन्न करे अथवा यथासंभव उस संभाषण-सा लगे जो कहीं ओट में होकर सुना गया हो।'[1]

जीवन का सौंदर्य उसकी स्वाभाविकता है। जहाँ जीवन में बनावट होती है वहाँ गढ़ा हुआ-सा कौशलपूर्ण भले ही लगे पर उसमें सहज-सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। उपन्यास में भी जीवन के इस सहज-सौन्दर्य वर्णन का एकमात्र माध्यम है पात्रों का संभाषण—उनका कथोपकथन। वर्णन में—कथानक के प्रवाह में लेखक के व्यक्तित्व की गन्ध आ ही जाती है, पर जहाँ लेखक पात्रों को स्वाभाविकता में प्रस्तुत करता है, उनकी बातचीत को इस सहज और सरल भाव से प्रस्तुत करता है जिससे यह मालुम पड़ता है कि यहाँ लेखक की कल्पना नहीं काम कर रही, प्रत्युत उसने ओट में खड़े होकर उन सबकी बातचीत को सुनकर, ज्यों का त्यों लिख कर परिस्थिति के वातावरण को इसी तौर से ग्रहण करके प्रस्तुत किया है। ऐसे खण्डों में हमें सम्पूर्ण अर्थों में (उपन्यास के) जीवन की झलक मिलती है। जब इस प्रकार के कथोपकथन पाठक के सामने आते हैं तो वह लेखक को, अपने को, सबको भूल जाता है और उसकी आँखों के सामने रहते हैं केवल पात्र और उनकी परिस्थिति।

---

1 Arlobatus 'Talk awriting English' series. 2. P. 25

कुछ उपन्यासकारों में हमें संभाषण का खूब मंजा हुआ और ऊपर से खूब बना-ठना तथा कुशलता से गढ़ा हुआ रूप मिलता है। अंग्रेजी में 'हेनरी जेम्स'[१] और कुमारी 'काम्पटन बर्नेट'[२] इसके अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हिन्दी में अमृतलाल नगर[3] तथा अज्ञेय[४] और फणीस्वर नाथ रेणु'[५] के उपन्यासों में इस प्रकार के संभाषण प्रचुर मात्र में मिलते हैं। पर उपन्यासों के चतुर लोग नाटकीय ढंग से चतुर हैं और उसकी कही गई उक्तियाँ उसी क्षण की उपज होती हैं; उन्हें पहले ही से अध्ययन करके एकत्रित नहीं किया जाता है। उन्हें उद्धरण के रूप में हम संदर्भ से सरलता से पृथक् नहीं कर सकते और पूरा का पूरा सन्दर्भ अत्यन्त विदग्धता पूर्ण होता है। यह केवल कुछ भड़कीली चीजों (यथा सुभाषित-वाक्य रत्न आदि) की आधारभूमि मात्र नहीं होता। जहाँ सब चीजें स्वभावतः प्रसंगवशात् आती हैं वहाँ पर बुद्धिमान तो उसका महत्व समझ जाते हैं। किन्तु स्वाभाविक रुचि एवं कुछ भावुकता के प्रभाव में पाठक इसके सौन्दर्य की आत्म तक पहुँच नहीं पाता है।

वास्तविकता और नाटकीयता का समन्वय कथोपकथन को कलात्मक रूप विधान के साथ ही उसे सरस और स्वाभाविक बनाता है। प्रेमचन्द ने कथोपकथन कला की इस समन्वित प्रणाली द्वारा उत्कृष्ट कथोपकथनों की सृष्टि की है। बाबू गुलाबराय भी प्रेमचन्द की भाषा को पर कहीं-कहीं उसकी अति ही कथोपकथन का दोष बन गया है। उनकी धारणा है कि वास्तव में भाषा का बदलना एक निश्चित सीमा के भीतर होता है। एक ही भाषा के भीतर बोलने वालों के बौद्धिक विकास के अनुकूल भी कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। वे मुन्शी प्रेमचन्द को पुलिस के पात्रों की भाषा को भी हिन्दी का ही एक रूप समझते हैं। कुछ स्थलों में यह अवश्य दुरूह होगई है। इसके विपरीत वह प्रसाद जी के पात्रों की भाषा में एक रस पाते हैं क्योंकि उनके 'कंकाल' के सभी पात्र संस्कृत गर्भित भाषा बोलते हैं। गुलाबराय इस भाषा को पात्रों की भाषा नहीं वरन् स्वयं प्रसादजी की भाषा मानते हैं। वह इस बात पर

---

1 Henry James 'Roderic Hudgsan (1875) Portrait of a Lady'

2 Compton Burnet

३ अमृत लाल नागर-'बूंद और समुद्र' (१९५६)

४ अज्ञेय-'नदी के द्वीप'

५ फणीश्वर नाथ रेणु-''मैला आंचल''

बल देते हैं कि केवल कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी चाहिए वरन् उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वांछनीय है।[1]

पात्रानुकूल भाषा की समस्या ऐतिहासिक और आंचलिक उपन्यासों के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। अँग्रेजी में सर वाल्टरस्कॉट तथैव हिन्दी में वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में पात्रों की भाषा को समय तथा वर्ग विशेष की भाषा के अनुकूल रखा है। आंचलिक उपन्यासों में अँग्रेजी में हार्डी के उपन्यासों के पात्रों की भाषा तथा हिन्दी में नागार्जुन के 'बलचनमा' तथा फणीश्वरनाथरेणु के 'मैला आंचल' प्रभृति उपन्यासों के पात्रों की भाषा में स्थानीय बोली के प्रचुर व्यवहार के कारण उन उपन्यासों में स्थानीय रंग आगया है जो उनके प्रभाव को बढ़ाता है।

हमें संभाषण को खूब सँवार कर रखने के तथ्य से भड़क कर इस निश्चित तथ्य से दूर न हो जाना चाहिए कि भाषण में चुनाव का होना, व्यवस्था का एवं उसका शैलीपरक होना आवश्यक है। इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना है कि केवल भिन्न उद्धरण चिह्न लगा कर एक पात्र की बात को दूसरे पात्र की बात न बनाया जा सके। उपन्यास के उत्तम पात्रों को अपने अपने स्थान पर अपनी-अपनी बोली में बोलना होता है। यह तथ्य जेन आस्टिन, डिकेन्स, प्रूस्ट, शरद, प्रेमचन्द्र, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर प्रभृति उपन्यासकारों के चरित्रों के व्यक्तित्व सूचक भाषणों के संबंध में पूर्णांश में सत्य है।

कौशल की दृष्टि से संवादों के विकास की महत्वपूर्ण उपलब्धि परिस्थिति अथवा घटनाविशेष में कही गई बातों अथवा कार्यों द्वारा वक्ता के चरित्र का सूक्ष्म एवं प्रमाणिक चित्रण है। इन संवादों की भाषा अधिक दाक्षिण्य की अपेक्षा रखती है। व्यंजनाशक्ति के साथ अन्तर्भेदिनी दृष्टि का समन्वय हुए बिना ऐसे संवादों की सफलता प्रायः संदिग्ध ही रहती है। भावावेग अथवा उत्तेजना के क्षणों में व्याकरण तथा सामान्य शिष्टाचार की आकस्मिक उपेक्षा स्वाभाविकता की दृष्टि से इन्हें अधिक व्यंज ापूर्ण बना देती है। वैसे इस प्रकार के चरित्रों की भाषा पात्रानुकूल देश-क ल की मर्यादाओं से बँधी हुई रहती है कभी-कभी भावावेश में स्थानीय अ वा प्रान्त विशेष की बोली (पात्र के

---

१ बाबू गुलाबराय काव्य के रूप पृष्ठ १७२-१७३

व्यक्तित्व में गुँथी होने के कारण) भी स्थान पा लेती है। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, फणीश्वरनाथ रेणु तथा वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास प्रस्तुत किए जा सकते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की 'परती:परिकथा' के पात्र डा० राम चौधरी अपने आन्तरिक आवेश में आकर बोल उठते हैं—'तुमी पारवे ! फिर तुमी पारवे ! तुमी जे निजेई एक विरल वनस्पति ।'[1]

वक्ता की अपनी बात का अंश न होते हुए भी संबंधित कथन की प्रकृति एवं स्वराघात पर व्यापक प्रकाश डालने वाले रचनाकार के सूचनात्मक एवं व्याख्यात्मक क्रियाविशेषण भी संवादों के अविभाज्य अंग से ही हैं। इनसे न केवल संवादों के सौन्दर्य को निखार मिलता है प्रत्युत वक्ता के वाह्य एवं अन्तरिक व्यक्तित्व का तीन आयामों वाला चित्र भी उभर आता है। इसे नाटककार के संवाद कौशल की तुलना में उपन्यासकार का अतिरिक्त शिल्प-वैभव ही कहना चाहिए। जिसने कालान्तर में 'शा'[2] और 'गाल्सवर्दी'[3] जैसे कुशल नाट्य शिल्पियों का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने अपने नाटकों में इसका समुचित उपयोग भी किया है। हिन्दी के उपन्यासों में इसके सर्वोत्तम उदाहरण प्रेमचन्द[4] और वृन्दावनलाल वर्मा[5] के उपन्यासों में पाए जाते हैं।

पात्र की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से उभारने एवं व्यक्त करने के लिए लेखक कभी कभी उसके मन के माध्यम से अतीत स्मरण अथवा स्वगत-कथन द्वारा चरित्रांकन को गहराई, वातावरण को सजीवता तथा कथानक को बल देता है। उत्तमकोटि के अतीत स्मरण एवं स्वगत कथन संवाद से अधिक उपन्यास रचना कौशल में सहायक सिद्ध होते हैं। अतीत स्मरण के अच्छे उदाहरण जैनेन्द्र[6] और अज्ञेय के[7] उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' नामक उपन्यास में सोफिया के स्वगत-कथन और 'गोदान' में रायसाहब के आत्मसंभाषण भी कथन के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

---

१ फणीश्वरनाथ रेणु 'परती: परिकथा' पृष्ठ ३७७ प्रथम सं०

मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासों में व्यक्ति के उद्‌गार संवेगों की अन्तःक्रीड़ा यथारूप अंकन द्वारा मन के महासागर तुल्य अंतराल के अन्वेषण एवं तद्विषयक मानसिक आलेखन की ही प्रमुखता रहती है। इन उपन्यासों के संवादों में देशकालानुमोदित सुरुचि एवं शिष्टाचार की दृष्टि से भाषा परिष्कार की साग्रह उपेक्षा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके साथ ही संवाद में भाग लेने वाले पात्रों के अपने-अपने अन्तस् में भी विचार-साहचर्य; इन्द्रियों की नियन्त्रित न की जा सकने वाली गतिविधि और चंचलमन की अदमनीय उच्छृं-खलताओं, प्रवृत्तिजन्य विकारों अथवा वासनाओं के कारण एक ही साथ एक ही समय में उठने वाली भाव-तरंगों के आलेखन के प्रयत्नस्वरूप एक नए प्रकार के एक पात्रीय अंतःकथित, स्वयंचालित, निर्लक्ष और अनियंत्रित संवादों की सृष्टि होती है। विश्व-साहित्य में इस प्रकार के संवाद के टकसाली उदा-हरण दो जेम्स ज्वाएस के 'यूलिसिस' में ही उपलब्ध है। हिन्दी साहित्य में ऐसा साहस पूर्ण प्रयास फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों 'मैला आँचल' और 'परती: परिकथा' में ही मिलता है।

वातावरण

सेटिंग और वातावरण—विश्लेषणात्मक आलोचना के द्वारा उपन्यास के तीन संघटनात्मक अवयव निश्चित किए गए हैं—प्लाट, चरित्र चित्रण और सेटिंग। अन्तिम अवयव प्रतीकात्मक होने के कारण आजकल के सिद्धान्त ग्रन्थों में 'वातावरण' की संज्ञा पागया है। ये तीनों ही अवयव अन्योन्याश्रित हैं। चरित्र यदि घटनाओं के निश्चित करने वाले गतिमान के साधन के रूप में नहीं तो और क्या हो सकता है? घटनाएँ यदि चरित्र की क्रियाओं के सब कालों में मन्तव्य के सहित रूप नहीं हैं तो फिर उनको क्या समझा जाय? इस प्रसंग में एक प्रश्न यह उठता है कि 'सेटिंग' यदि इन दोनों अवयवों को प्रभावात्मक ढंग से एक साथ, एक रस, और एक रूप में प्रकट करने वाली पृष्ठभूमि अथवा वातावरण नहीं हैं तो फिर उसका दूसरा क्या अर्थ होगा?

'सेटिंग' पर ध्यान देना वर्णन का साहित्यिक तत्व होता है। यह कथात्मक विवरण से भिन्न होता है। इसके संबंध में पहला विचार तो यही होता है कि कदाचित् यह कथा-साहित्य को नाटक से भिन्न करता है। पर दूसरी बार ध्यान देने से यह अवधि-बाधित तत्व सिद्ध होता है। यदि हम नाटक अथवा उपन्यास के बहुत ब्यौरों पर ध्यान दें तो ऐसा करना हमें रोमांटिक

(जैस प्राचीन काल में था) अथवा यथार्थवादी (जैसा १६ वीं शताब्दी के कथा साहित्य में हुआ) बना देगा। ऐसा करने से हम सर्वकालीन एवं सार्वभौम नहीं बन सकते।

सेटिंग, वातावरण और वर्णन

गीतिकाव्य में साहित्य की वर्णनात्मक विधा रानी के पद पर अभिषिक्त की गई थी, पर गद्यात्मक कथा-साहित्य में वह बहुधा विमातृ-उपेक्षिता कला-पुत्री की भाँति रहती आई है। वह एक ऐसी महत्वहीन देवदासी के रूप में रखी गई है जिसके विषय में कोई कुछ सोचता भी नहीं है। विरले ही अवसरों पर सफल शब्द चित्र के रूप में अथवा भूमि विस्तार के चित्र के रूप में इसका उपयोग किया गया है। अधिकांश स्थलों पर तो बस किसी न किसी प्रकार विवरणात्मक आख्यान के कथा-सूत्र को साधे रहने का ही कार्य इसको सौंपा गया था। इस रूप में भी यह कार्य अपने में बहुत महत्वपूर्ण रहा है; क्योंकि वर्णन के रूप में 'सेटिंग' ने कहानी से देश-काल तथा सामाजिक वातावरण को स्थिर रखा है, पर अपने इस निकट से सम्बन्धित कार्य के अतिरिक्त पात्र को परिवर्तित किया है अथवा तदर्थ (अच्छे-बुरे, दोनों ही प्रकारों के लिए) संकेत दिए हैं। वर्णन ने कथावस्तु के प्रवाह-मार्ग से जहाँ एक ओर बाधाएँ हटाई हैं वहाँ कुछ बाधाएँ उत्पन्न भी की हैं। इस प्रकार वर्णन कथा को प्रगट स्वरूप देने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है। यह अविश्वास के भाव को जानबूझ कर थाम्ह देने का-सा वातावरण उपस्थित कर देता है जिससे समय, विस्तार एवं स्थल, वस्तु-आधार-विस्तार के दो आयामों में निरपेक्ष वातावरण की सृष्टि कर देता है। उपन्यास में 'सेटिंग' से अभिप्राय कथा की घटनाओं के आधाररूप देश-काल से है। इस पारिभाषिक शब्द के अन्तर्गत कथा का 'वातावरण समुच्चय' (मिल्यू') सम्मिलित होता है—ढंग, रीति-रस्म, जीवन-यापन के ढंग और उसकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि अथवा अन्य परिस्थितियाँ। इनको हम दो प्रकार में बाँट सकते हैं— सामाजिक सेटिंग और पदार्थ संबंधी सेटिंग।

वातावरण अध्ययन के मूल्य में

जैसे-जैसे उपन्यास-साहित्य की प्रगति होती गई वर्णन करने के ढंग भी बदलते गए। चित्रमयता, आश्चर्यान्वित करने का भाव, भय का भाव आदि का सफल वर्णन करने के लिए रोमैंटिक शैली के लेखकों ने वातावरण या सेटिंग को बहुत बढ़ा-चढ़ा दिया था। कथा-जगत के परिचित अतीत को

प्रत्यक्ष करने के लिए पृष्ठभूमि का महत्व बढ़ गया। प्राचीनकाल की साधारणीकरण की भावना से आधुनिक व्यक्तिगत भावना के परिवर्तन से स्थानों (भूमि विस्तार, सामाजिक वातावरण) और मनुष्यों दोनों का ही महत्व बढ़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान-प्रधान उत्तरार्द्ध में अपने-अपने दार्शनिक विचारों की पुष्टि करने के लिए यथार्थवादियों (रियलिस्ट्स) और प्रकृतिवादियों, दोनों ने ही वातावरण से आवश्यकता से अधिक लाभ उठाया है। अभी हाल में ही सामाजिक परिवर्तनों और फ्रायडियन मनोविज्ञान, (बाल-मनोविज्ञान) में रुचि लेने वाले लेखकों ने वातावरण का अध्ययन अध्यवसाय के साथ करके प्रस्तुत किया है। इस प्रकार वर्णन आज के उपन्यास में उपेक्षित एवं दासी के रूप में नहीं है, वरन् उसकी स्थिति पोषण करने वाली धाय की तरह है, जिस प्लाट और चरित्र दोनों ही अपना चरम स्वरूप और अस्तित्व का आधार प्राप्त करते हैं।

स्थानीय रंग

आजकल के विचारकों के एक वर्ग का मत है कि उपन्यास में स्थानीय रंग अधिक और सटीक होना चाहिए। जब किसी उपन्यास और कहानी में किसी स्थान-विशेष के संबंध में विस्तृत-विवरण दिया जाता है और वहाँ के सामाजिक, भौगोलिक तथा सांसारिक विषयों का सूक्ष्म निदर्शन किया जाता है तब वह स्थानीय रंग देना कहलाता है। 'समीक्षा-शास्त्र' के लेखक श्री सीताराम चतुर्वेदी जी इसे प्रदेशवाद (रीजनलिज्म) से भिन्न समझते हैं। उनका कथन है कि इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें नए या अपरिचित दृश्य खोजे जाते हैं या किसी परिवर्तनोन्मुख या ह्रासोन्मुख स्थानरूप का विवरण सुरक्षित किया है जैसे—राहुल सांकृत्यायन की 'वाल्गा से गंगा' अथवा रुद्र की 'बहती गंगा' में। प्रदेशवादी तो प्रत्येक प्रदेश में ऐसी विभिन्न स्थितियाँ देखता है, जो वहाँ के निवासियों के जीवन पर बहुत प्रभाव डालती हैं और तदनुसार संस्कृति तथा चरित्र के विभिन्न साँचे उपस्थित करती हैं, किन्तु स्थानीय रंगकार किसी ग्राम-दृश्य के प्रति पर्यटक का दृष्टिकोण उपस्थित करता है। अतः स्थानीय रंग का अर्थ हुआ—'किसी कथा के मूलतत्व के रूप में नहीं, वरन् सजावट के रूप में उस कथा के लिए दृश्य, भाषा, देश, आचार-विचार और व्यवहार सटीक विस्तृत वर्णन देना।

देशकाल

कथावस्तु का आधार होती हैं किसी विशिष्ट देश की घटनाएँ।

ये घटनाएँ त्रिकाल बाधित होती हैं। यद्यपि ये घटनाएँ काल्पनिक होती हैं पर कल्पना में भी वह इसी संसार में घटित हुई-सी मानी जाती हैं। देश से अभिप्राय पृथ्वी के उस भू-भाग से होता है जहाँ पर उपन्यास की घटनाओं का काल्पनिक रंगस्थल होता है। भारत ऐसे महाद्वीप में भिन्न-भिन्न लोगों के आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रस्म आदि में अधिकांश में विभिन्नता है। समय परिवर्तन के साथ क्रम से सब बातें पहले से बहुत बदल गई हैं। अतः जिस समय की तथा जिस स्थान की घटनाओं का वर्णन किया जाय वहाँ की परिस्थिति, रहन-सहन सामाजिक अवस्था में पूर्ण-परिचय प्राप्त करके ही उसे लिखा जाना चाहिए। जिससे कालगत या देशगत दोषों का समावेश न हो पावे। इन सबका वर्णन इस प्रकार होना चाहिए कि वह अपनी विभिन्नता के कारण आश्चर्यजनक भले ही लगे पर अस्वाभाविक न हो।

वर्णन शैली का समाहार

उपन्यास में वर्णन प्रकट में कथानक का अंग प्रतीत होते हुए भी लेखक के गूढ़ उद्देश्य को प्रकट करने में काव्यात्मक प्रतीक का रूप ले लेता है। राजनैतिक कारणों से, शिष्टता से तथा लेखन-कौशल के रूप में भी प्रायः नकाबपोश के चेहरे की तरह अथवा सुन्दरी के घूँघुट की भाँति, अथवा आकर्षक आवरण के पीछे छिपे हुए कला चित्र के समान जो प्रेषणीय हैं उसके प्रभाव को तीव्रतर बनाता है। प्रतीक हमारी लेखन कला की आवश्यकता एवं विलास दोनों ही के रूप में प्रस्तुत होता है। अंग्रेजी में 'स्विफ्ट' के 'गलीवर ट्रैवल्स' कतिपय अंग इसके बड़े अच्छे उदाहरण हैं। हल्के उपन्यासों में 'माया-पुरी' नामक पूरा का पूरा उपन्यास इसका नमूना है। प्रतीक किसी पराधीन जाति के साहित्य में मानसिक उकसाहट के प्रच्छन्न रूप से सम्पन्न करने का सर्वोत्तम साधन है।

उद्देश्य

जीवन को जब कला का आधार मानते हैं तब उसका अभिप्राय जीवन की निष्प्राण अनुकृति नहीं होती। ललित कलाओं में उपन्यास जीवन के सबसे निकट है। अतः उसमें जीवन का आधार भी अपने वास्तविक रूप में सबसे अधिक है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उपन्यासकार जीवन से लेकर मनुष्य के चित्र उपस्थित करता है। उसका अभिप्राय यही होता है कि उपन्यासकार का उद्देश्य बिखरी हुई मानवीय विशेषताओं में से प्रसंग के अनुकूल,

समय की आवश्यकतानुसार कुछ को समेट कर ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना और तत्संबंधी जीवन व्यापारों की नियोजना करना जो एक या अनेक प्रतिनिधि-चरित्र की सृष्टि करना होता है। इस प्रकार के चरित्र में उसके किसी क्षण-विशेष का चित्र नहीं होता; प्रत्युत सब समयों में प्रवहमान चरित्र की समग्रता उपन्यास द्वारा सृजित चरित्र की विशेषता होती है। इस प्रकार के चरित्रों के माध्यम से प्रत्येक उपन्यास का उद्देश्य सामाजिक जीवन के वृहत् क्षेत्र को उपस्थित करना होता है।

उपन्यासकार सजग कलाकार की भाँति केवल समाज के दर्पण के रूप में ही अपनी कलाकृति को प्रस्तुत नहीं करता, वरन् वह जीवन को उसकी पूर्णता और व्यापकता में देखने का प्रयत्न करता है और फिर जब वह अपनी रचना के प्रणयन में रत होता है तो जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता हुआ चलता है। मैथ्यु आर्नल्ड ने तो काव्य के विशुद्ध भावात्मक स्वरूप कविता की परिभाषा भी 'जीवन की व्याख्या' के रूप में प्रस्तुत की है। उपन्यास तो कल्पनात्मक एवं कलात्मक साहित्य में जीवन के स्थूलतम रूप को प्रस्तुत करता है। अतः अत्यन्त स्वाभाविक रूप से जीवन की व्याख्या उपस्थित करते हुए चलना उपन्यासकार का उद्देश्य होता है।

हडसन[1] ने भी जीवन की आलोचना, व्याख्या अथवा दर्शन को उपन्यास के एक तत्व अथवा उपकरण के रूप में लिया है। हडसन जीवन को उपन्यास के विषय के रूप में लेता है। उपन्यासकार के लिए यह असंभव है कि वह व्यक्त अथवा संकेत रूप में अपने ऊपर पड़ी हुई जीवन की छाप का आभास भी न दे। यह कहा जा सकता है कि फुरसत का समय काटने के लिए लिखे गए, क्षणस्थायी, उपन्यासों को लेकर जीवन-दर्शन की बात करना बिल्कुल बेकार है, क्योंकि उनमें उद्देश्य की गहराई तो होती ही नहीं, परन्तु वह ऐसा केवल इसलिये नहीं है कि उसमें किसी प्रकार का कोई दर्शन नहीं है, वरन् केवल इसलिए कि वह इतना ताजा और गंभीर नहीं होता कि विचारणीय बन सके। महान् उपन्यासकार जीवन के चिन्तक और पर्यवेक्षक दोनों ही रहे हैं और उनका चरित्र विषयक ज्ञान, उद्देश्य एवं वासना में बैठने वाली उनकी अन्तर्दृष्टि, चिरस्थायी तथ्यों एवं अनुभव की समस्याएँ और उनकी परिपक्व बुद्धि ये सब मिलकर उनके संसार विषयक दृष्टिकोण को एक ऐसा नैतिक महत्व प्रदान करते हैं जिसकी कोई विचारवान् पाठक उपेक्षा नहीं कर सकता।

इसके अर्थ यह नहीं है कि हम उपन्यासकार को आचार विषयक सिद्धान्तों की स्थापना अथवा जीवन संबंधी कुछ निश्चित विचारों की मूर्त अभिव्यक्ति के लिए कथा रचने वाले समझ लें। यह सच्चे सृजन शक्ति संपन्न कलाकार के दृष्टिकोण एवं शिल्प विधान की सर्वथा भ्रान्तपूर्ण धारणा है। उपन्यासकार जो कुछ सोचता है कथावस्तु की व्यवस्था एवं पात्र-चित्रण में वही उसका मार्ग प्रदर्शन करता है। परन्तु उसकी प्रथम चिन्ता का विषय अमूर्त प्रश्न न होकर जीवन के ठोस तत्व होते हैं और वह इन तथ्यों को नैतिक अर्थ देने के किसी प्रयास अथवा इच्छा के बिना ही व्यवस्थित कर सकता है।

संसार के जीवन का केन्द्र मानव है। समस्त संसार में मानव का कार्य-विस्तार विधाता की सृष्टि-विस्तार के साथ होड़ करने का वामन-प्रयास करता रहा है। इसी सतत प्रयास में मानव का व्यक्तित्व निखरता चलता है। सभी काव्यांगों में इसी मानव चेतना की अभिव्यक्ति के प्रकारों के दर्शन होते हैं। कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास में मानव-जीवन का चित्र उपस्थित करने का अधिक अवकाश रहता है। उपन्यास ने अपने व्यापक संसार में सभी पुराने साहित्य रूपों की शिल्पगत विशेषताओं को ग्रहण किया था। इस अपेक्षाकृत नवीनतम साहित्य-रूप का एक मात्र उद्देश्य है कि वह प्रथम बार मनुष्य की अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेश के साथ साहित्यिक भूमि पर अवतारणा कर उसके समस्त उलझे हुए सूत्र—फैले हुए सीमांत और गति तथा प्रकार के अतिरिक्त गहराई के आयाम का चित्रण करके मानव-जीवन का सर्वांग सम्पूर्ण प्रतिपालन करने में कविता और नाटक आदि सभी पुराने साहित्य रूपों में से सर्वाधिक सफलता प्राप्त करे।

जीवन में मनोरंजन है, उससे मनोरंजन होता भी है, किन्तु जीवन का आग्रह मनोरंजकता में ही नहीं होता, उसी प्रकार उपन्यासों द्वारा मनोरंजन होता है। वे मनोरंजक होते भी है, किन्तु न तो मनोरंजकता ही उसकी परमोपलब्धि उपन्यासकार का उद्देश्य उपन्यासों में मानव-जीवन का अपनी विविधता, विषमता और उलझनों के साथ अभिचित्रित करना होता है। मनोरंजकता का तत्व वह दृष्टि-विस्तार और रागात्मक संस्पर्श देता है जिससे अभिव्यक्ति जागृत, शक्त और जीवित हो जाती है। उपन्यासकार का उद्देश्य जीवन के तत्वों का विश्लेषणात्मक काल्पनिक संश्लेष उपस्थित करता है और उसकी दृष्टि इस स्थान में रासायनिक की है। उसके उद्देश्य का एक

अंश संघर्ष प्रवण तत्वों का संश्लेष समग्रता की इकाई के रूप में प्रकट करना होता है।

उपन्यास के उद्देश्य का एक बड़ा महत्वपूर्ण अंग होता है—अपने पाठकों को जीने की कला सिखाना। एक अच्छा उपन्यास अपने पाठक के लिए दिशा निर्देशक का काम बड़ी सफलता के साथ कर सकता है। जीवन के सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर उपन्यासकार प्रकाश डालता है। 'राबर्ट गोरहम डेविस' का कथन है कि "अंग्रेजी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने अपने पाठकों को उदारता, सहानुभूति, विनोद तथा नैतिक एवं सौंदर्यात्मक चेतना की शिक्षा दी। उन्होंने संस्थाओं को सुधारने तथा सामाजिक स्थिति को उन्नत करने की इच्छा भी उत्पन्न की।" हिन्दी का आदि उपन्यास—'परीक्षागुरू भी इसका अच्छा उदाहरण है।

उपन्यास का एक व्यावहारिक उद्देश्य होता है—जनतन्त्र को प्रश्रय देना। जनतन्त्र तथा उपन्यास का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनतंत्र का आयोजन इसलिए किया जाता है कि व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सकें, तथा विभिन्न मूल्यों को मान्यता देने वाले मनुष्य अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ सकें और इस पर भी समाज की उन्नति में वे अधिक से अधिक सहायता दे सकें। उपन्यास हमें बहुमुखी-दृष्टि, अधिकाधिक सहानुभूति, सहिष्णुता तथा व्यक्तिगत दायित्व की भावना देकर, इस कार्य में हमारा हाथ बटाता है। इस प्रकार जनतन्त्र और उपन्यास सदैव एक दूसरे को प्रश्रय देते हैं।[1]

यथार्थवाद ने मानव-सत्य के कुछ ऐसे पक्षों को अवश्य उद्घाटित किया है जो उसकी आत्मोपलब्धि को और भी सम्पन्न बना सकते थे, किन्तु यथार्थवादी लेखका में अधिकांश ने यह भुला दिया कि मनुष्य इन सभी चिन्तन-सम्प्रदायों और मतवादों से बड़ा है, उसकी जीवन प्रक्रिया इतनी गहन, बहुमुखी और वैभवशालिनी है कि वह किसी भी मतवाद द्वारा पूर्णरूप से बाँधी नहीं जा सकती। इसलिए जिस उपन्यासकार का उद्देश्य मानव-सत्य को उसकी समग्रता में ग्रहण करना हो उसे कलाकार की दृष्टि अपनानी चाहिये, मनोवैज्ञानिक या राजनैतिक कनिस्सार की दृष्टि नहीं। उस कलादृष्टि में एक ऐसी व्यापक सहानुभूति होती है जो किसी भी पात्र को अपने रंगीन चश्मे से नहीं देखना

१ आलोचना (उपन्यास विशेषांक) 'उपन्यास के दायित्व'—रामस्वरूप चतुर्वेदी अक्टूबर (१९५४) पृ० ५०

चाहती, वरन् अपने को उसी की परिस्थितियों में रख कर, उसी की अनुभूतियाँ करके, उसी के आत्मान्वेषण के दर्द में डूब कर, उसकी आत्मोपलब्धि के सन्तोष में तुष्ट हो कर उसकी मानवीयता को उद्घाटित करती है।[1] वह कला-दृष्टि मनुष्य की चेतना के विविधि आयामों में उसकी सत्ता के विविध स्तरों में और उसकी अदम्य अपराजेयता में पूर्ण विश्वास रखती है।

समाज को श्रेय की ओर ले जाने में आज जो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हैं, भौतिकवाद की एकान्त तथा एकान्त तथा अनन्य साधना उनमें से एक है। ऐसे खतरों से बाहर निकालने के लिए आज हमें जिन साधनों की आवश्यकता है उनमें साहित्य का प्रतिनिधित्व केवल उपन्यास करता है और इसके अतिरिक्त उपन्यास में वह क्षमता भी है जिससे वह सम-सामयिक तथा सामाजिक दार्शनिक गतिरोध को दूर कर सकता है। श्रान्त तथा विभ्रमित राष्ट्र का उपचार उपन्यास बड़े हल्के ढंग से अनजाने में ही कर डालता है। इसके लिए कभी कभी वह 'शाक ट्रीटमेंट' का सहारा भी लेता है।[2] परन्तु किसी भी दुष्प्रवृत्ति पर वह खुले ढंग से आक्रमण कभी नहीं करता।[3] इसीलिए उपन्यास द्वारा किया जाने वाला उपचार अपनी प्रकृति में पूर्णतः मनोवैज्ञानिक होता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यक्ति का आदर करते हुए जनतन्त्र की स्थापना करना उपन्यास का अन्तर्निहित उद्देश्य होता है।

शैली

उपन्यास में शैली का महत्व—साहित्यिक कलाकृति के निर्माण में जिस सामग्री का प्रयोग किया गया है उसकी संज्ञा है भाषा। किन्तु भाषा ही मूल सामग्री नहीं है। मूल-सामग्री तो भाषा में प्राप्त ध्वनि है। ध्वनि को व्यक्त करने के लिए शब्दों का चयन किया जाता है, पदों और वाक्यों की योजना की जाती है जिससे ईप्सित अर्थ की प्राप्ति हो सके।[4]

प्रायः यह समझा जाता है कि शैली या अभिव्यक्ति की बिधि का अध्ययन

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय पृष्ठ १८८

२ उदाहरण—'टाम काका की कुटिया' (स्टो)

३ c+उग्र के उपन्यासों का खुले ढंग का आक्रमण तथा एलेक्जेण्डर क्यूपरिन के 'यामा दि पिट' का आदर्शप्रच्छन्न रूप।

४ Hudson, William Henry 'An Introduction to the Study of Literature' पृष्ठ ३३।

केवल विशेषज्ञ ही किया करते हैं। पर धारणा नितांत भ्रममूलक है। सत्य तो यह है कि साहित्य के माध्यम से जीवन का अध्ययन करने के लिए शैली एवं अभिव्यक्ति की विधि का ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक होता है। उपन्यास में तो सर्वांशतः जीवन की ही व्याख्या होती है। उसके अध्ययन के द्वारा एक प्रकार से जीवन का ही अध्ययन होता है। अस्तु, उपन्यासों के तत्वों में शैली के अध्ययन का महत्व अन्य साहित्यिक विधाओं की शैली के अध्ययन के महत्व से कहीं अधिक बढ़ कर है।[1]

रीति और शैली

कुछ लोग भारतीय साहित्य-शास्त्रियों द्वारा वर्णित रीति को ही शैली मानते हैं किन्तु वास्तव में वे तो साहित्यिक अभिव्यक्ति की कुछ प्रणालियाँ मात्र हैं। रीति और शैली में विशिष्ट अन्तर तो यही है कि "रीति तो काव्य रचना का ढंग है" और "शैली है भावात्मक अभिव्यक्ति की प्रणाली।" शैली वास्तव में उस साधन का नाम है जो वाणी की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा समर्थ शक्ति का संचार करे, किन्तु 'रीति को काव्य की आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) मानने वाले आचार्य वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में "पदों की विशिष्ट रचना को रीति" (विशिष्टा पद रचना रीतिः) माना है। अतः गुणों के आधार पर की हुई विशेष-पद-रचना-रूप इस रीति को शैली से सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिये।

भारतीय दृष्टि से शैली के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया गया है किन्तु आज के संसार के समस्त देश एक दूसरे के निकट आगये हैं, एक-दूसरे की भावना से प्रभावित हो रहे हैं अतः शैली पर विचार करते समय हमें लेखक पर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार विवेचन करके ही उसकी शैली की समीक्षा करनी चाहिये।

शैली की आवश्यकता

शैली उपन्यास कथा-साहित्य का मुख्य अंग हैं। इसकी वस्तुगत विशेषता भी है और तदनुरूप आवश्यकता भी। खाद्य (आस्वाद्य) सामग्री चाहे जितनी मूल्यवान् (महत्वपूर्ण) क्यों न हो, किन्तु जब तक उसको आस्वादन के लिए संभाल कर और सजा कर न रखा जायगा वह पूर्ण रूप से ग्राह्य न होगी।

भाषा सम्बन्धी ज्ञान का महत्व साहित्य के विद्यार्थी के लिए बहुत अधिक

---

१ बाबू गुलाबराय 'काव्य के रूप (२००४ वि०) पृ० १०३

है। शब्द केवल अपने कोषगत अर्थ को ही लेकर नहीं चलता वरन् उसके साथ पर्यायवाची एवं विलोमार्थी शब्दों का वातावरण भी रहता है। शब्दों का केवल अर्थ ही नहीं होता, वरन् वह शब्दों के अर्थों का आह्वान-सा करते हैं— जिन शब्दों को आह्वान के रूप से अभिनिमंत्रित किया जाता है वे ध्वनि के माध्यम से, अथवा तद्गत अर्थ के माध्यम से अथवा उससे निकले हुए शब्दों के अर्थ के माध्यम से मूल शब्दों से जुड़े रहते हैं। उनसे उन शब्दों का भान भी होता है जो विरोधी अर्थ रखने वाले होते हैं अथवा जो शब्द द्वारा प्रकट होने वाले अभिप्राय एवं अर्थ की परिधि से सर्वतोभावेन पृथक् होते हैं।

भाषा के अध्ययन का महत्व अकेले शब्दों अथवा वाक्यांशों के अर्थ को आत्मसात् करने के प्रयत्न तक ही सीमित नहीं रहता। साहित्य का सम्बन्ध भाषा के सभी पक्षों से है। साहित्यिक प्रयोजन के लिए भाषा का ध्वन्यात्मक अध्ययन उसके अर्थ संबंधी अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता।

शैली परकता का अनुशीलन तब तक सफल ढंग से नहीं हो सकता जब तक भाषाविद् होने के साधारण सिद्धान्तों से हमारा पूर्ण परिचय न हो क्योंकि स्पष्ट रूप से इसका केन्द्रीय कार्य यही होता है कि वह समय के मुहावरों एवं लोकोक्तियों की तुलना उस समय के मुहावरों एवं लोकोक्तियों से असमानता दिखलाने के लिये करे। साधारण बोलचाल की भाषा के ज्ञान के बिना इस प्रकार की शैली परकता के कोई अर्थ नहीं होते। कुछ लोगों ने शैली परकता को भाषा सम्बन्धी ज्ञान एवं अध्ययन से सम्पर्क रखने वाला भाषा-शास्त्र का अंशमात्र माना है। पर शैली परकता वह स्वतन्त्र विज्ञान हो या न हो, अपनी समस्याओं के लिए हुए अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है। इस प्रकार हमने देखा कि भाषा के सुरम्य प्रभाव तथा किसी साहित्यिक कलाकृति की भाषा-प्रणाली और युग के परम्परागत प्रयोग में अन्तर जानने के लिये शैली परकता का सम्यक् अध्ययन अत्यावश्यक है।

उपन्यास में शैली की आवश्यकता

जहाँ तक उपन्यास की कलात्मकता का सम्बन्ध है वह उसका अलंकरण नहीं है, वरन् आवश्यकता है। उपन्यास में शैली "बाहर का जामा" न बन कर स्वस्थ शरीर की ऊपरी सतह के समान होती है जिसमें सब अंग अपने सुडौल-पन के साथ प्रकट होते हैं। उपन्यास का आरम्भ जीवन के आरम्भ की भाँति कहीं से भी माना जा सकता है। जीवन अपने खण्ड में पूर्ण है और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में भी अखण्ड नहीं। उपन्यास के पात्र जीवन के व्यक्तियों की

भाँति एक होते हुए भी अपने में अपनी विचित्रता और अपने आसपास की विचित्रता तो रखते ही हैं। परस्पर संसर्ग भी कभी-कभी उन विशेषताओं को उभारता है और कभी-कभी उन बातों को जन्म भी देता है। कथावस्तु तथा वातावरण एवं प्रसंग जीवन की अनुहार करते ही हैं।

उपन्यास में जाते जाते यदि हम ऐसा अनुभव करें जैसा कि स्वप्न देखते समय अनुभव करते हैं जब कि सब चीजें जैसी सोचो वैसी ही और जैसे न सोचो वैसे ही घटित होती जाती हैं तो उपन्यास में जाने का अनुभव कल्पना की नीद का सुख बन कर रह जाता है। पर यदि हम उपन्यास में आगे बढ़ते बढ़ते ऐसा अनुभव करते हैं जैसा कि एक पर्वतारोही अनुभव करता है जो पहाड़ की ऊँचाई पर और कुछ न सही तो शुद्ध वातावरण और उन्मुक्त आकाश का अबाधित दृश्य इस प्रकार देख पाता है जैसा कि पहाड़ की ऊँचाई पर ही देखा जा सकता है तब उपन्यास का पाठन एक खोज के परिणाम से कम नहीं होता। ऐसा उपन्यास लेखक की कल्पना की सजगता का पुरस्कार होता है। उपन्यास में शैली का तत्व कुछ ऐसा ही महत्व रखता है।

लघु उपन्यास की शैली

शैली एवं वर्ण्य विषय का सम्बन्ध लघु-उपन्यासों के रचना-कौशल की संक्षिप्त भावाभिव्यक्ति के सूक्ष्म रहस्य द्वारा अधिक स्पष्ट होता है। जहाँ रचनाकार की अभिव्यक्ति संक्षिप्त एवं सांकेतिक होगी, उसकी रचना-शैली समास-प्रधान ही होगी। ऐसा रचनाकार पाठक के हृदय तथा बुद्धि पर विश्वास रख कर चलता है। उसकी रचनाओं में एक-एक शब्द तथा वाक्य सार्थक होकर आता है। इस शैली में रचनाकार का अभिव्यक्ति संयम विशेष रूप से महत्व पूर्ण होता है। जैनेन्द्रकुमार में भी रचनाकार के उक्त गुणों की सन्निहिति के कारण 'सुनीता' तथा उनके अन्य उपन्यासों में भी अभिव्यक्ति का संयम है।[1] रचनाशिल्प के क्षेत्र में बंगला लघु उपन्यासों के आचार्य की यह बात बहुत अच्छी लगने वाली है कि—'छोटा होने से ही तो रस घना होगा।[2]

"शैली बोलने एवं लिखने की एक नित्य एवं निरंतर प्रयुक्त होने वाली अभिव्यंजना विधि अथवा स्वभाव जन्य अंग है।............अतः हम कह सकते हैं

---

१ आलोचना—(उपन्यास अंक) पृष्ठ १०८।

२ डाक्टर महादेव सहाय 'शरत्-पत्रावली' पृष्ठ ६६।

कि किन्हीं दो लेखकों की शैली एक नहीं होती है और चूँकि लिखने या बोलने का ढंग लेखक के मस्तिष्क के विषयवस्तु एवं रुचि वैचित्र्य का प्रदर्शन करता है—इसलिये शैली मनुष्य की प्रतिच्छाया है। मनुष्य का मस्तिष्क ही उसका व्यक्तित्व है, और जिस प्रकार उसका मस्तिष्क विविध गुणों एवं विशेषताओं से युक्त होता है वैसे ही उसकी भाषा एवं भाषण होंगे। अपने स्व की अन्तर्मुखी अनुभूति उसके मस्तिष्क की वह सामग्री है जिससे वह बना है और भाषण की विधि उसकी स्वानुभूति का ताना बाना।[1]

परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि लेखक का व्यक्तित्व हमें अभिभूति किये रहे।

जब हम यह सोचें तो वह हमें एक विशिष्ट लेखक का निस्संदेह रूप प्रकट हो पर जब हम पढ़ें तब हम वह भूल जावें कि किसी का लिखा हुआ पढ़ रहे हैं। उपन्यास जब समय को बन्दी बनाता है तब उसमें अतीत के जीवन का बंधा रूप मिलता है और जब उपन्यास में जीवन के प्रवाह का निर्झर लाकर समाविष्ट कर दिया जाता है तब उपन्यास में स्वाभाविकता का जादू आ जाता है। उपन्यास पढ़ते समय यदि हम यह भूलते चलते हैं कि हम उपन्यास पढ़ रहे हैं तो मानों लेखक सफल हुआ और यदि उपन्यास पढ़ते समय लेखक का ही ध्यान रहा तो वह उपन्यास विद्वत्तापूर्ण बातों से कितना ही भरा क्यों न हो पर वह सफल उपन्यास न होगा क्योंकि व्यक्तित्व का समापहरण उपन्यास रचना-शैली की सफलता की पहली शर्त है।

शैली की विभिन्नता

हिन्दी में भाषा विषयक कई शैलियाँ प्रचलित हैं। उर्दू के पूर्व अभ्यास के कारण कतिपय हिन्दी उपन्यासकारों (जिनमें प्रेमचन्द, सुदर्शन एवं अमृतलाल नागर ऐसे प्रमुख एवं लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की गणना है उन) की रचनाओं में रूढ़ोक्तियों का अधिक प्रयोग है। दूसरी ओर सनातनी लेखक संस्कृत न जानने पर भी तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं, परिवर्तन करते हैं और रूढ़ोक्तियों को अस्पृश्य समझ कर अपने से दूर रखते हैं। तीसरे वर्ग के लोग मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं जो विषय के अनुसार अपनी भाषा के प्रयोग में परिवर्तन करते रहते हैं। परन्तु भाषा को इच्छानुकूल (नटी की भाँति) नचाने के लिये उसके विविध रूपों का परिचय रखने के साथ साथ उस पर पाण्डित्यपूर्ण

---

१ The Art of English Poesy (1589)

अधिकार की आवश्यकता रहती है। अतः सभी पक्षों से विचार करने के पश्चात् 'समीक्षाशास्त्र' के लेखक के शब्दों में कहा जा सकता है कि अच्छी शैली वही है जो लोक-प्रयोग से समन्वित हो और जो अपनी अपने देश की जान पड़े, जिसमें देशी शब्दों की अन्य शब्दों से अधिक समिन्विति हो, जिसके द्वारा उचित प्रभाव डाला जा सके।[1]

शैली के वांछित गुण

यद्यपि प्रत्येक लेखक की शैली उसकी रुचि एवं उसके संस्कार तथा वातावरण से प्रभावित होती है और वह उसे साधारणतः छोड़ भी नहीं सकता, पर उसे इतना तो ध्यान रखना ही पड़ता है कि वह केवल 'स्वान्तः सुखाय' ही नहीं लिख रहा है। उसका उद्देश्य अपने भावों, विचारों, मान्यताओं एवं ज्ञान को साधारण पाठकों तक भी पहुँचाना है। अस्तु, उसे ऐसी शैली का प्रयोग करना वांछनीय है जो सर्व-सुलभ हो सके और जिससे पाठक लेखक की कृति के माध्यम से उसके अन्तस् में भी प्रवेश पा सके। अस्तु, शैली का एक प्रमुख गुण है पाठक और लेखक के बीच आत्मीयता स्थापित करना।

शैली और शिल्प

शिल्प बात कहने का ढंग है, शैली वह वाणी है जो बात कहती है। शिल्प अभिव्यक्ति का प्रकार है, शैली अभिव्यक्ति का माध्यम है। शिल्प अधि-कांशतः काल-सम्मानित विधि होती है, किसी विषय को पकड़ने-समझने की किन्तु कथा भाव का निर्वाह करने, उसे प्रस्तुत करने की, शैली एक नितान्त व्यक्तिगत वस्तु है, वाणी के गुण-विशेष जैसी, यह एक विशेष उच्चारण से बोली जाने वाली भाषा है जिसका पैटर्न बोलने वाले के व्यक्तित्व से विशिष्ट संबंध रखता है। शिल्प विचार रूपी शरीर का शृंगार–उसका 'मेक अप' है–शैली उसकी त्वचा है। रचना रचना के शिल्प में अन्तर हो सकता है, परन्तु शैली अपरिवर्तनीय होती है। इच्छानुसार किसी शिल्प को अपनाया या त्यागा जा सकता है, शैली के संबंध में ऐसी बात नहीं—वह तो व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का अपरिहार्य अंग होती है। बाबू देवकीनन्दन, प्रसाद अथवा प्रेमचन्द यदि चाहें तो स्टीवेन्सन ऐसे अनुकरण-प्रवण ('सेडुलस एप') की भाँति 'चेतना-प्रवाह-तकनीक' अपना सकते हैं (ई० एम० फार्स्टर[1] द्वारा कल्पित एक बड़े कमरे में विश्व के सर्वकालीन उपन्यासकारों के साथ बैठकर लिखते हुए) किन्तु न तो

---

१. सीताराम चतुर्वेदी 'समीक्षा शास्त्र' पृष्ठ ५६५।

बाबू देवकीनन्दन खत्री और न प्रेमचन्द ही 'अश्क' तथा 'अज्ञेय' की शैली को अपनी बना सकते हैं। घोर प्रयत्न करने के बाद भी शैली का अन्तर तो बना ही रहता है। यह उक्ति कि—"शैली ही मनुष्य है" मानव अस्तित्व का एक ठोस तथ्य है। कला में प्राविधिक नैपुण्य शिल्प है, शैली उसमें निहित व्यक्तित्व। एक बाह्य है दूसरा अन्तरंग। एक ही कला में कई प्रकार हो सकते हैं और एक प्रकार में कई शैलियाँ हो सकती हैं। चित्रकला के कई प्रकार हैं, तैल-चित्रांकन (आएल पेंटिंग), जल-वर्ण चित्रांकन (वाटरकलर पेंटिंग), शुष्क-वर्ण चित्रांकन (पेस्टल कलर पेंटिंग), पेंसिल-चित्रांकन (क्रेयां पेंटिंग), नख-चित्रांकन (नेल या स्क्रेच पेंटिंग) इत्यादि। एक ही प्रकार में अनेक शैलियाँ जैसे काँगडा शैली, पहाड़ी शैली, राजपूत-शैली, मुग़ल-शैली, प्रतीकात्मक शैली (सिम्बालिक स्टाइल), अमूर्त शैली (ऐब्स्ट्रैक्ट), तथ्यातिरेकवादी (सरियलिस्टिक) शैली आदि।

उपन्यास और शैली

उपन्यास में शैली के प्रवाह का पूर मिलता है। उपन्यास में शैली अठखेलियाँ करती हुई आगे बढ़ती है। कहीं अंगड़ाइयाँ लेती है कहीं घूँघट की ओट से मुलकती है, कहीं मुँह उघार कर सामने आती है और कहीं तो पर्दे के पीछे ही चली जाती है। उपन्यास में शैली अपने अप्रकट रूप में व्याप्त रहती है। स्वाभाविकता उसका आदर्श होती है और वास्तविकता उसका साध्य।

उपन्यास की शैली जीवन की शैली की भाँति प्राचीन से भिन्न और अपने में नवीन होती है। नकल का जीवन नहीं अच्छा होता। उसके प्रकार किसी दूसरे उपन्यास की शैली की पुनरावृत्ति नाटकीयता का आभास भले ही दे दे अपने में जीवन की सहज नवीनता नहीं ला सकती।

उपन्यास का जीवन चित्रकार का चित्र होता हैं। स्वाभिकता के साथ उघरा हुआ अन्तर्निहित सौन्दर्य उसकी विशेषता होती है। जो साधारण दर्शन में नहीं देख पड़ता वह चित्र दर्शन में सहज में ही देख पड़ता है पर इसके लिये आवश्यक है कि चित्रकार को सभी रंगों का ज्ञान हो और साथ ही साथ रंगों के परिणामों और परिमाणों का भी।

उपन्यास और रस

'सेटिंग' अथवा वातावरण के सम्पर्क में 'चरित्र' तथा 'कथावस्तु' अभिन्न रूप से मिलकर पाठक को एक प्रकार की अनुभूति-जन्य मनोदशा में ले जाते हैं। इसे ही हम उपन्यास के पाठक की साहित्यिक रसास्वादन की

भूमिका के रूप में ले सकते हैं। इसकी तीव्रता तथा इसका स्थायित्व इस रसास्वादन को परिपक्वावस्था में ले आता है।

किसी उपन्यासकार की रचना का मूल्यांकन करते समय हमें दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा—प्रथम लेखक की शक्ति की सीमा एवं विस्तार। प्रायः यह देखा जाता है कि कोई हास्य रस से पूर्ण होता है तो कोई करुणा रस से और कोई रौद्र में। कुछ ऐसे भी प्रतिभाशाली कलाकार होते हैं जो शेक्सपीयर या तुलसी की भाँति समान रूप से सफलता के साथ अनेक रूपों में प्रमुखता प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ—कोई लेखक हास्य को ही स्थूल प्रहसन 'उच्च कमेडी' के सूक्ष्मतम संकेतों का रूप दे सकता है तो दूसरा कोई करुण-शिथिल-भावुकता से लेकर सुकुमार भावनाओं की कोमलतम अभिव्यक्ति कर सकता है और कोई लेखक 'ट्रैजेडी' पार्थिव विभीषिकाओं में थोड़ी अभिरुचि मात्र से लेकर नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की आत्मा को हिला देने वाली आपदाओं तक का स्वरूप उपस्थित कर सकता है।

बाबू गुलाबराय ने पाश्चात्य देश की कृतियों के 'मोटिव' तत्व से अपनी भारतीय कला-कृतियों की रसपरकता की तुलना करते हुए रस के महत्व की स्थापना की है। उपन्यास को वह काव्य-कोटि में रखते हैं। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' के सिद्धान्त के अनुसार उपन्यास में भी रस की सिद्धि आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वह स्थापना करते हैं कि रस तथा भाव को स्वीकार करने से विचार का तिरस्कार नहीं होता। उनकी मान्यता है कि हमारे विचार भी हमारे जीवन के प्रति रागात्मक अथवा विरागात्मक दृष्टिकोण के फलफूल हैं। विचारों के मूल भी भाव रखते हैं अर्थात् ये प्रायः भाव प्रेरित होते हैं। काव्यों में चाहे वे महाकाव्यों की भाँति पद्यात्मक हों या उपन्यास की भाँति गद्यात्मक हों विचार-सिकता के कण रस के सहारे ही ग्राह्य बनाये जा सकते हैं। उपन्यासों में ही महाकाव्य के रस-वैविध्य की भाँति शृंगार, वीर, हास्य, करुणादि रस मिले-जुले रूप में अथवा दृश्य-विशेष में अलग-अलग देखे जा सकते हैं। जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों में अद्भुत रस का पूरा परिपाक होता है। आजकल के राजनैतिक उपन्यासों में करुणा के साथ वीर रस का समावेश रहता है। सामाजिक उपन्यासों में समाज के कोढ़रूप पात्रों अथवा कलंकरूप स्थानों के वर्णन तथा उनके मूलोच्छेदन करने के उत्साह से उनमें वीभत्स और वीररस की अवतारणा की जाती है। उपन्यास में मनोभावों का चित्रण बहुतायत से रहता है। पर एक ही भावना का अतिशय वर्णन भी स्वाभाविकता को नष्ट करता है।

उपन्यासकार और उपन्यास-रचना

रैल्फ फाक्स उपन्यास-रचना को एक दार्शनिक कृत्य के रूप में स्वीकार करता है।[1] संसार के महान उपन्यासों का महत्व यही है कि उनके मूल में तो विचारों का आधार है और रचना में उच्चकोटि की कल्पना से काम लिया गया है। उन्हें हम देवोद्घटित जीवन-व्याख्याओं के रूप में ले सकते हैं। यह सत्य है कि कोई दार्शनिक सफल उपन्यासकार नहीं हो सका पर उसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि जब तक पहले से ही कोई दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित नहीं किया गया तब तक कोई उपन्यासकार अच्छा उपन्यास नहीं लिख सका। स्वयं सत्रवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में कोई महान् उपन्यास नहीं लिखा गया परन्तु इस शताब्दी के इग्लैण्ड में बड़े-बड़े दार्शनिक हुए जिनके कारण उसके बाद आने वाली शताब्दी में अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखे जा सके। इंग्लैण्ड के उपन्यासों के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी अपना सर्वोपरि महत्व रखती है और उसका कारण वह समय इंग्लैण्ड के दार्शनिक इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण शताब्दी का अनुवर्ती था।

इंग्लैण्ड में १८ वीं शताब्दी को हम उपन्यास का स्वर्णयुग कह सकते हैं। भले ही इस युग का कोई भी उपन्यास सरवेन्टीज़ और रेबले की कृतियों की महत्ता को न पहुँच सका हो, परन्तु इस युग की औपन्यासिक कृतियों ने अपूर्व साहससे जीवन के सत्य को उद्घटित किया। इन उपन्यासों में वाग्वैदग्ध, शिष्ट व्यंग एवं संस्कृत परिहास सभी का समावेश रहा। इन औपन्यासिक कृतियों ने मानव को यह समझने के लिए विवश किया किसी भी व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के जीवन होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी को ऐसा समय कह सकते हैं जब उपन्यासकार ने अपने में ही अपने को समेटने की चेष्टा की। इसका परिणाम आने वाली शताब्दी में—बीसवीं शताब्दी में नए-नए विचारों की सनसनीदार उद्भावना में प्रकट हुआ। अब उपन्यासों के रचना कौशल के विश्लेषण का युग आरंभ हुआ। उपन्यासकार अपना ही भेदिया आलोचक

1. Ralph Fox 'Novel & the People' P. 90.

बनने लगा। कलाकार अपनी कला के प्रशंसकों को विचार रूप में शरीर अपने 'मानसिक कारखाने' के भीतर ले जाकर कलाकृति के निर्माण इतिहास से अवगत कराने लगा। इस नई परम्परा का सूत्रपात होते ही लोगों की रुचि उपन्यास रचना को पार कर उसके निर्माण काल के इतिहास की विवेचना में भी होने लगी। अब तो उपन्यास के आलोचक का अभियान उपन्यास कृति के शरीर परीक्षण तक ही सीमित न रह कर कृति के अवयवों के संघटन की 'एक्सरे-परीक्षा' करने के लिए भी होने लगी। इन सब कारणों से जो कुछ उपन्यासकार स्वयं अपनी रचना के विषय में कहता है, उन तथ्यों का महत्व उपन्यास की नई आलोचना में बहुत होगया।

उपन्यासकार की सृष्टि में एक रहस्य निहित रहता है। प्रायः उपन्यासकार को स्वयं उसका ज्ञान नहीं रहता।[1] जितना ज्ञान रहता है उसको भी वह बतला सकता है—इसमें सन्देह है। तो भी यह तो निश्चित ही है कि उसके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता तो उसकी बातों से उसकी रचना-प्रक्रिया पर कुछ न कुछ प्रकाश तो पड़ता ही है। लेखकों ने भी अपनी रचनाओं के संबंध में किसी न किसी ढंग से बहुत कुछ कहा है। उन्होंने अपने लक्ष्य अथवा उद्देश्य ढंगों और प्रेरणाओं के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा है। उनके कथनों को हम उन्हीं के रूप में भले ही स्वीकार न करें पर वे उस सम्बन्ध में ज्ञान प्रथम एवं सर्वोत्तम अधिकृत सूचना अथवा प्रारम्भिक परिचय के रूप में तो बने ही रहते हैं।

काव्य के निर्माण के सम्बन्ध में वास्तव में हम बहुत कुछ जानते हैं और अभी भी जो कुछ हम जानते हैं उसके सम्यक् अध्ययन से और बहुत कुछ जाना जा सकता है। आख्यान अर्थात् फिक्शन की रचनात्मक प्रतिक्रिया का बहुत कम अध्ययन हुआ है और आनुपातिक दृष्टि से अब कहीं अधिक तथ्यात्मक सामग्री इस प्रकार के अध्ययन के लिये है। साहित्य के आदिकाल से कविता लिखी जा रही है। हिन्दी कबिता के ही लगभग आठ सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। वह कविता अब भी हमारे मतलव की है और जो भी हमारे मतलब का गद्यात्मक आख्यान साहित्य है वह केवल पिछले डेढ़ सौ वर्षों में लिखा गया है[2] और इन पिछले डेढ़ सौ वर्षों में ही कलाकार अपने सम्बन्ध में सबसे अधिक सचेत रहे हैं।

---

1. Rober Liddell 'A Treatise of the Novel' P. 17-18.
२. 'रानी केतकी की कहानी' (सन् १८०० ई०)

फोटोग्राफर की भाँति उपन्यासकार भी जब जीवन के ऊपरी रूप के वर्णन पर ही आग्रह रखता है तब वह पाठक का समय व्यर्थ ही नष्ट करता है। जिस प्रकार चित्र में जो चित्रित करने योग्य होता है, वही होना चाहिए, उसी प्रकार आख्यानात्मक साहित्य में जो कहानी में करने योग्य होता है वही होता है और जो गुण इसको इस योग्य बना देता है वह है 'पैटॅन' अथवा 'इन्सकेप'।[1] आज कल के कतिपय लेखक नग्नचित्र खींचने में अपना गौरव मानते हैं। वे वास्तव में स्वयं कला से पलायन कर जिन्दगी की गन्दगी में जा छिपते हैं। यह कृत्य उनकी कल्पना की उड़ान के लिए आत्महन्ता का काम करता है।

उपन्यासकार को अपने क्षेत्र से क्या निकाल बाहर करना चाहिए इस विचार के पश्चात् हमें यह सोचना है कि उपन्यासकार को क्या सम्मिलित कर लेना चाहिए। इसके लिए हमें फिर फ्रेञ्च कलाकार फ्लाबेयर को लेना होगा। फ्लाबेयर में धैर्य की असीम मात्रा थी। वह साहित्य संसार का महान साधक था। एकान्त के वातावरण में वह अपनी साधना में रत था। उसे हम उपन्यास का संरक्षक सन्त एवं आचार्य कह सकते हैं।

उपन्यास का विषय अपने समवेत रूप में एक साथ आकर उपस्थित होता है। पाठक और आलोचक दोनों ही भूल से यह सोचते हैं कि लेखक उपन्यास में कुछ अलग से इधर-उधर का जोड़ सकते हैं। बड़े-बड़े सफल उपन्यासों का रहस्य उपन्यास के विषय और लेखक की मनोवृत्ति (टेम्परामेंट) की तदाकारता एवं सामञ्जस्य में निहित रहता है।

जब उपन्यासकार अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने के प्रलोभन से अथवा पांडित्य प्रदर्शन के लालच से अपनी सूझ की पहुँच की परिधि की सीमा के बाहर जाने की भूल करता है तो कल्पना की खींचतान से उसकी प्रभावात्मकता बहुत कम रह जाती है। अंग्रेजी में जार्ज इलियट' का 'रोमोला' और हिन्दी में आचार्य चतुरसेन के 'वैशाली की नगर बधू' एवं वयं रक्षामः इस भूल के नमूने हैं। कभी-कभी अच्छे उद्देश्य से बहुत से लेखक 'प्रोलेटेरियन' विषय वस्तु को लेकर लेखन-वृत्ति में प्रवृत्त होते हैं—इस लिए नहीं कि ऐसा करना फैशन में होता है पर ऐसा वे इसलिये करते हैं क्योंकि अपने से हीन भाग्य वाले लोगों के प्रति उनकी पूर्ण सहानुभूति होती है। हम उन्हें इस सद्वृत्ति के लिए साधुवाद दे सकते हैं पर कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें लेखक जनता के हित की दुहाई देकर

---

1. Lord Devid Cecil 'Hardy the Novelist' Pp. 39-40.

भी नहीं खो सकता—उसे अपनी कलाकारिता की ईमानदारी को नहीं छोड़ना है। यदि वे सामाजिक चेतना के कारण वैसा करते हैं तो उन्हें यह समझना चाहिए कि उनकी सामाजिक चेतना विकृतावस्था में है—क्योंकि लेखक के रूप में उनका समाज के प्रति एक मात्र उत्तरदायित्व है कि वह जितनी अच्छी तरह से लिख सकता है लिखे। यदि वह पहुँच की सीमा के बाहर जाता है तो वह अपने कर्त्तव्य पालन में असफल रहता है।

उपन्यासकार का करणीय

उपन्यासकार का कार्य उपन्यास में प्रयुक्त तथ्यों के प्रमाण उपस्थित करने का नहीं होता—विश्वास जमा देने का होता है। उसका कार्य तो संसार के घटनाक्रम के समानान्तर चलता हुआ-सा तत्कालीन पत्रकार संसार एवं बात-चीतकी दुनियाँ से एवं क्षुब्ध की हुई प्रवृत्ति वाले पाठक आलोचक अथवा लेखक के अंतःकरण को शान्त करता है।

हम लेखक को जीवन के प्रति दृष्टिकोण के चुनाव करने की सलाह देने की धृष्टता नहीं कर सकते, पर उसे यह अवश्य बता सकते हैं कि वह स्वयं अपनी कृति को जाँच करे कि वह मानवता के सिद्धान्तों के अनुसार ही जीवन का दृष्टिकोण रखता है या नहीं और उसमें मानव प्रेमी के उपयुक्त सहिष्णुता एवं विवेक है या नहीं। उदाहरण के लिए हम अंग्रेजी में फार्स्टर एवं बंगला में विभूतिभूषण की कृतियों को ले सकते हैं। यह दोनों लेखक मानवतावादी हैं। यह बात उनके आख्यानात्मक साहित्य तथा इनकी अन्य प्रकार की कृतियों में भी देखी जा सकती है। यदि हम उनके उपन्यासों पर 'कैवमैन्स टेस्ट' लागू करें—उन्हें कहीं भी खोल कर, किसी भी पृष्ठ पर इधर-उधर पढ़ें तो हम निश्चित रूप से एक उत्तम प्रकार की समझ को कार्य करते हुए देखेंगे और एक सुन्दर विनीत, बुद्धिमत्तापूर्ण सत्य एवं पुनीत स्वर को बोलते हुए सुनेंगे। अपने कर्त्तव्य के प्रति सजगता प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्हें अपने स्थान का ज्ञान था। इस प्रसंग में वह उल्लेख कदाचित् अप्रासंगिक न होगा कि एक बार किसी व्यक्ति ने उनसे कौन्सिल के निर्वाचन में भाग लेने के लिये आग्रह किया। उस पर उन्होंने उत्तर दिया था—"यदि मैं एम० एल० ए० बन गया तो फिर इन सब एम०एल० ए० पर शासन कौन करेगा। लेखक रूप से मैं अपनी कृतियों द्वारा उनका मार्ग-निर्देशन कर सकता हूँ।" एक दूसरी घटना है। किसी ने कहा कि 'आप शरत की भाँति अपारिवारिक एवं नारी जीवन के चरित्र क्यों नहीं उपस्थित करते ?' प्रेमचन्द ने उत्तर दिया—"हिन्दी को अभी

शरत् की आवश्यकता नहीं इस समय तो उसे एक ऐसा सेवक चाहिए जो जन-जीवन में क्रांति के भाव को जागृत कर सके।' स्पष्ट है कि वे एक ईमानदार और निष्ठावान् लेखक थे। लेखक के रूप में वे शासक के ऊपर शासन कर सकते थे। साथ ही साथ उनकी कर्त्तव्य भावना उन्हें हिन्दी का शरत् बनने से रोकती थी। उन्होंने अपने को अन्त तक प्रेमचन्द ही बनाये रखा।

अर्न्स्ट बेकर उपन्यासकार के उत्तरदायित्व को बड़ी ऊँची स्थिति में रखता है। वह भी महान् औपन्यासिक कृतियों में जीवन दर्शन की खोज करता है। उसके अनुसार आख्यान साहित्य जीवन का दर्पण होता है परन्तु जीवन को मस्तिष्क स्थिति आभा से प्रदीप्त होना आवश्यक है—यह महान् उपन्यासकार का मस्तिष्क अन्तर्प्रकाश से जगमग होता है।[1] अन्यत्र औपन्यासिक की विशेषता बतलाते हुए वह कहता है कि कुछ लोग प्रकट में उपन्यास न लिखते हुए भी औपन्यासिक रचना करते हैं। उदाहरणस्वरूप 'डिफो' के काल्पनिक संस्मरणों एवं मनगढ़न्त रूप से लिखे हुए ऐतिहासिक ग्रन्थों को प्रस्तुत करता है जो वास्तविकता से जाँचने पर पूर्णरूप से औपन्यासिकता के गुणों से युक्त हैं।

उपन्यासकार जीवन का वृत्तिकार होता है। वह जन-आचरण का समालोचक होता है। उसके अध्ययन की सीमा मानव के कर्त्तव्य के विस्तार के उस पार भी होती है। उसकी रचना विधाता की सृष्टि में मनुष्य की भूल के संशोधन के रूप में होती है।

उपन्यास रचना-कौशल

संपूर्ण साहित्य को उसकी अन्तः प्रकृति के अनुसार हम पाँच भागों में विभक्ति कर सकते हैं—(१) कथात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) विचारात्मक (४) भावात्मक (५) कलात्मक अथवा चित्रात्मक।

(१) कथात्मक—कथा की अभिव्यक्ति करने वाले के रूप में—अर्थात् कथा उत्तम पुरुष में, मध्यमपुरुष में अथवा अन्यपुरुष में। इन तीनों को क्रमशः व्यक्तिगत अभिव्यक्ति, संवादात्मक अभिव्यक्ति, और 'एक था राजा' वाली अभिव्यक्ति कहते हैं। इन्हीं को क्रमशः १—संप्रेक्षक वृत्ति, २—स्वयंभागी वृत्ति तथा ३—वक्तृ वृत्ति भी कह सकते हैं।

---

[1]—ERNEST A BAKER *The History of the English Novl, voel 1. p.* **264.**

कथात्मक रूप में कहने वाले दृष्टिकोण से सब बातें देखी जाती हैं और उनका वैसा ही वर्णन किया जाता है जैसी कि वह दिखाई पड़ती हैं। स्वयं-भागी वृत्ति में स्वयं कथा के बीच में स्थित होकर तद्गत किसी पात्र अथवा पात्रों को संबोधन करते हुए कथा की पूरी बातें कही जाती हैं। तीसरी वक्तृवृत्ति अर्थात् 'एक था राजा'—कौशल तो वही है जिसमें प्रायः कथाएँ प्रस्तुत की जाती हैं अर्थात् जिसमें कथा कहने वाला द्रष्टा होकर संवाददाता के समान समाचार कहता है और उस पर बीच-बीच में अपनी वृत्ति संजय के अनुसार अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का पुट देते हुए चलता है। संसार के समस्त प्रबन्ध काव्यों, उपन्यासों और कहानियों में लगभग ९९ प्रतिशत रचनाएँ इसी शैली में हैं।

कथा प्रस्तुत करने के ऊपर जो तीन भेद बताए गए हैं, उनके अतिरिक्त और भी कौशल प्रयोग में लाए जाते हैं, जैसे पत्र, संवाद, आत्मकथा, दैनंदिनी (डायरी) विवरण, समाचार, व्याख्यान, संस्मरण अथवा कथा के किसी पात्र द्वारा ही कथा-वर्णन करा देना। यदि कोई चाहे तो होमर के प्रसिद्ध-काव्य 'इलियड' की कथा 'अदूलियस' के लिए एक अभिनन्दन-पत्र लिख कर उसी में अत्यन्त भावुकतापूर्ण शैली में पूर्ण कथा कह सकते हैं। इसी प्रकार कुछ लोगों ने शास्त्रार्थ, रूपक या अध्यवसाय, संबोधन, मूर्तीकरण, आवाहन, उपालंभ, उन्मत्त-प्रलाप स्वप्न में देखी हुई घटना के रूप में भी कथाएँ प्रस्तुत की हैं। ज्ञान-विज्ञान की उन्नत्ति के साथ-साथ नए-नए रचना कौशलों का आविर्भाव भी होता रहता है। यथा—फ्रायड की खोजों के फलस्वरूप अंग्रेजी के उपन्यासों में 'स्ट्रीम आव कान्शेसनेस टेकनीक' (चेतना-प्रवाह कौशल) का आविर्भाव हुआ।

किसी कृति का संपूर्णतः लिख कर समाप्त कर देना उतना कठिन नहीं है जितना उसका प्रारम्भ करना। साहित्य की चाहे कोई भी विधा क्यों न हो यह नितान्त आवश्यक है कि रचना का प्रथम वाक्य-प्रारम्भिक स्थल ही पाठक की सम्पूर्ण जिज्ञासा को—कुतूहल को अपनी ओर आकृष्ट कर ले। इस आकर्षण की सृष्टि ही लेखक का कौशल एवं उसकी सफलता का प्रमाण है।

ऊपर की पंक्तियों में रचना के प्रारम्भ-कौशल पर विशेष बल दिया गया है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका अंतिम भाग किसी भी प्रकार अपेक्षाकृत कम महत्व रखता है। प्रायः यह देखा जाता है कि रचना के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते एक यात्री की भाँति साधारण लेखक भी थक कर हार-सा जाता है। वह कृति को जिस तिस भाँति समाप्त कर देने की जलदबाजी में पड़ जाता

है। उसकी यह जल्दबाजी ही सम्पूर्ण कृति के सौष्ठव को नष्ट कर देती है। अतः यह आवश्यक है कि जिस प्रकार किसी यज्ञ का उपसंहार-समापन कार्य बड़ी साजसज्जा एवं उत्साह के साथ होता है, उसी प्रकार रचना का अन्त भी लेखक के संपूर्ण उत्साह एवं कौशल का परिचायक होना चाहिए।

उपन्यास रचना के अन्तिम भाग में इस बात पर सदैव ध्यान रखना चाहिये कि कहीं भी किसी प्रकार से उसमें अस्वाभाविकता का समावेश न होने पावे। कार्यों एवं चरित्र के अनुसारी परिणाम ही वहाँ पर व्यक्त हों। साधु नायक का उत्कर्ष एवं दुष्ट नायक का पतन जीवन की एक स्वाभाविक क्रिया है। अस्तु इसी स्वाभाविकता का निर्वाह वांछनीय है पर सभी परिस्थितियों में ऐसा हो ही इस पर आग्रह नहीं भी हो सकता है।

रचना के परिणाम सम्बन्धी वर्णन के विषय में विवेचना करते हुए एक विद्वान का कथन है—"परिणाम सुखद हो या दुःखद, किन्तु उसके औचित्य और अपरिहार्यत्व के पूर्ण प्रमाण देकर उसे ऐसे क्रम में उपस्थित किया जाय कि ग्राहक को विश्वास हो जाय कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई परिणाम संभव । नहीं हो सकता था। बस यही एक रास्ता था।"[1]

जब समीक्षक किसी भी साहित्यिक कृति के रचना-कौशल का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है तब उसका उद्देश्य केवल उस कृति के प्रस्तुत करने के ढंग, विषय सामग्री के प्रयोग के प्रकार, वस्तु के बाह्य रूप तथा इन सबको प्रस्तुत करने की विधि अर्थात् लेखक के व्यक्तित्व के कलात्मक संस्करण—शैली आदि का ही अध्ययन करना नहीं होता। सफल समीक्षक के लिये तो किसी भी लेखक की रचनाओं की बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक विशेषताओं का सम्बन्ध मूलतः उसकी प्रतिभा और चरित्र की निजी विशेषताओं से होने के कारण रचना-कौशल का अध्ययन लेखक की रचनाओं में निहित व्यक्तित्व के क्रमबद्ध अध्ययन में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।[2]

रचना-कौशल का अध्ययन भी साहित्य के इस व्यापक सिद्धांत की अवहेलना नहीं करता कि कोई भी साहित्यिक विश्लेषणात्मक अध्ययन उसके ऐतिहासिक तथा (लेखक अथवा कलाकार के) व्यक्तिगत पहलू को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता यदि साहित्य को केवल एक ललितकला के रूप में लिया जाय और

---

१ सीताराम चतुर्वेदी 'समीक्षाशास्त्र'

2. Hudson, William Henry 'An Introduction to the study of Literature' p, 80.

उसका अकेले विश्लेषण अथवा विवेचन किया जाय तो भी हम उसे सीधे साहित्य के सार-तत्व एवं मानवीय अर्थ से सम्बन्धित कर सकते हैं और इस प्रकार रचना-कौशल के अध्ययन को उपर्युक्त साहित्य के मूलतत्वों के अध्ययन का पूरक समझ सकते हैं। वास्तव में जैसे ही अध्ययन के रूप में आगे बढ़ना होता है उतनी ही अधिक तीव्रता के साथ यह अनुभव होता है कि साहित्य की कला को साहित्य के जीवन से पृथक् करने का कोई भी प्रयत्न कला और जीवन दोनों ही के पक्षों से असंतोषपूर्ण होना अनिवार्य है।

उपन्यास कला है, अतएव जीवन की अनुकृति होने के अतिरिक्त उसमें किसी न किसी अंश में निर्माण-सौष्ठव का रहना आवश्यक है। उपन्यासकार एक खाका खींच कर जीवन को रेखाओं के भीतर बांधना चाहता है।........ सीमारेखाएँ जीवन के प्रवाह के कारण नित्य धूमिल होती तथा मिटती रहती हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका प्रयोजन नहीं है। सिद्ध केवल यह होता है कि उपन्यास से सम्बन्धित निर्माण के नियम उतनी ही कड़ाई से लागू नहीं किए जा सकते जितने कि अन्य साहित्य रूपों के। आकृति अथवा रूप वैशिष्ट्य का होना केवल वांछनीय ही नहीं, वरन् अनिवार्य भी है। उसके अभाव में जीवन के कोरे वर्णनमात्र को हम उपन्यास नहीं कह सकते, न उसमें सौन्दर्य होगा और न उसमें रोचकता होगी। जीवन और रूप-वैशिष्ट्य के मिश्रण से ही उपन्यास का रूप खड़ा होता है। यह कहना कठिन है कि इनमें किसका महत्व अधिक है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतंत्रता तथा रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त रहने की क्षमता निहित है।[१]

———

1. Percy Lbbock 'Craft of Fiction'.

प्रेषणीयता की अनुभूति और पाठक

पाठक और उपन्यासकार—मानव और विधाता—एक आश्चर्य करता है और दूसरा सृष्टि रचता है। उपन्यासकार की सृष्टि संसार की सृष्टि की गहराई लेकर चलती है। पाठक उस गहराई के ऊपर उतराता रहता है। ऐसे कितने जिज्ञासु हैं जो जीवन का मर्म समझने के लिए उपन्यास की गहराई में उतरते हैं।

उपन्यास के अध्ययन में हमें साहित्य और समाज तथा लेखक और समाज के संबंध तथा कथा-साहित्य और अवकाश-प्राप्त पाठक सभी का विचार करना पड़ता है। साहित्य का आर्थिक आधार भी उपन्यास-साहित्य से निकटतम सम्बन्ध रखता है। स्काट जैसे उपन्यासकारों तथा बायरन जैसे कवियों ने पर्याप्तरूप से धन और यश अर्जित किया। इन सबके मूल में पाठक ही है। अतः उपन्यास के विवेचन में पाठक का विवेचन भी अपना प्रमुख स्थान रखता है।

वास्तव में काव्य की सत्ता पारमार्थिक या प्रातिभासिक नहीं है, प्रातिबिंबिक है। जो बिंब है उसका प्रतिबिंब भीतर है। जो बिंब भीतर है, उसका प्रतिबिंब बाहर आता है। बिंब से प्रतिबिंब और इस प्रतिबिंब का बिंब होना तथा प्रतिबिंब से हुए बिंब का फिर प्रतिबिंब सामने आना काव्य-प्रक्रिया में सतत होता रहता है। इसलिए काव्य न तो प्रभा है, न भ्रम, वह कल्पना है। कल्पना की सृष्टि का काम अर्थ के बोध से नहीं चल सकता, बिंब के चारुत्व के दर्शन, रमणीयत्व के संवेदन और प्रतिबिंब के प्रदर्शन तथा प्रतिवेदन से ही चल सकता है। प्रदर्शन और प्रतिवेदन के लिए परपक्ष की अपेक्षा होती है। इसलिए काव्य या साहित्य केवल निर्माता से ही संबद्ध नहीं होता, ग्रहीता या भावीयता से भी सम्बद्ध होता[1] है। इसी कारण किसी भी काव्य अथवा कला-कृति के लिए एक ग्राहक की अपेक्षा होती है।

---

१ प्रस्तावना (८) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (शंकर देव अवतरे 'साहित्य' पृष्ठ—८)

आजकल के विद्वान मानते हैं कि 'प्रत्येक श्रोता, दर्शक, पाठक या अन्य जो भी व्यक्ति किसी कलाकृति अथवा साहित्यिक रचना का अध्ययन करता है या उसका गोचर अनुभव करता है, वही ग्राहक (रिसैप्टर) कहलाता है।'[1] इन ग्राहकों में से कुछ तो स्वयं समीक्षक बन जाते हैं, जिनकी समीक्षावृत्ति कुछ तो अपनी व्यक्तिगत रुचि या भावना के अनुसार होती है और कुछ रूढ़ि या शास्त्र के आधार पर। इधर पाठक की इसी व्यक्तिगत रुचि को ध्यान में रखकर आजकल के समीक्षावादी आज की साहित्यिक कृतियों की समीक्षा उसी तुला से नहीं करते जिस तुला से वे वाल्मीकि, होमर, दांते, कालिदास या शेक्सपियर की करते हैं। ये लोग अपनी समीक्षाओं में ग्राहक की रुचि और अरुचि का भी ध्यान रखते हैं, अतः ग्राहकों को हम दो रूपों में पाते हैं—एक तो स्वयं समीक्षक और दूसरे वे समीक्षक जो ग्राहकों की व्यक्तिगत रुचि से युक्त समीक्षा को दृष्टि में रख कर किसी कृति की समीक्षा करते हैं। ग्राहक या पाठक-समीक्षक विस्तार के साथ भले ही समीक्षा न करता हो, किन्तु वह किसी कृति का अध्ययन करने के पश्चात् सकारण ऐसा विवरण तो उपस्थित करता ही है कि अमुक ग्रन्थ मुझे क्यों अच्छा लगा या मुझे क्यों अच्छा नहीं लगा। इस विवरण को भी समीक्षा का ही एक रूप समझना चाहिए। इनमें से सभी ग्राहकों (पाठक, श्रोता, या दर्शक) को काव्य का वास्तविक रस नहीं मिल पाता, क्योंकि सब में काव्य का रस लेने की वासना या संस्कार की क्षमता नहीं होती।

आदर्श पाठक अपने प्रच्छन्न रूप में लेखक के उस पात्र में मिलता है जो उस रचना में पाठक का प्रतिनिधित्व करता है और जो आश्चर्य, उत्तेजना प्रशंसा, आदि के उन भावों के अनुभव की अभिव्यक्ति अपनी चेष्टाओं से करता चलता है जिनके सम्बन्ध में लेखक को यह विश्वास है कि हमारी कृति पाठक के मन में इन भावों को जागरित करेगी ही, अर्थात् इस विशिष्ट पात्र के द्वारा वे जनता को यह शिक्षा देते चलते हैं कि अमुक वक्तव्य, दृश्य, घटना या कार्य पर तुम्हारे मन में अमुक भाव उठना ही चाहिए जैसे—'अंगरेजी के' 'दि एंशियेण्ट मैरिनर' में 'दि वेडिंग गेस्ट' इसी प्रकार की भाव समीक्षा करता जाता है। शर्लाक होम्स की कहानियों में वाट्सन कथा सुनाने

---

१ साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी—समीक्षाशास्त्र—वि० पृ० ३७।

का भी काम करता है और साथ ही साथ आदर्श पाठक बन कर उस कृति द्वारा पाठक अथवा दर्शक के मन में उठने वाले भावों की व्याख्या भी करता चलता है। प्राचीन यूनानी नाटकों में 'कोरस' प्रायः यही कार्य करते थे। कलाकृति अथवा काव्य-कृति की रचना के साथ ही साथ कलाकार ग्राहक अथवा पाठक अथवा दर्शक पर विशेष प्रभाव डालने की आशा करने लगता है। पाठक के द्वारा स्वानुभूति का वर्णन अथवा विवेचन स्वाभाविक ही होता है। अनेक ग्रन्थों का पाठक और अध्येता उदात्तभावों से भावित होता है। उनमें इस उदात्तभाव के पूर्णतः संक्रान्त होने पर आदर्श पाठक की प्रतिष्ठा हो जाती है। नाटक में आदर्श दर्शक इसी आदर्श पाठक का दूसरा रूप होता है। लेखक तो केवल इसी सहृदय या रसिक पाठक को लक्ष्य करके लिखता है। इस प्रकार के आदर्श पाठक के अभाव में उच्चकोटि की काव्य-कृति की रचना की व्यर्थता सिद्ध होती है। उस समय तो कवि विधाता से यही प्रार्थना करता है—

'इतर ताप शतानि यथेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, मालिख-मालिख ॥'

उपन्यास का पाठक तो उपर्युक्त आदर्श पाठक की तुलना में अत्यन्त साधारण स्तर का व्यक्ति होता है। जब सुसंस्कृत एवं साहित्य रसिक व्यक्ति भी उपन्यास के पाठक के रूप में पठन-व्यापार में प्रवृत्त होता है तो वह जान-बूझ कर एक निम्नतर पर विशिष्ट अपनत्व से पूर्ण स्तर पर आकर ही उपन्यासकार से एक प्रकार का व्यक्तिगत घरेलू सम्बन्ध स्थापित करता है। इस कारण से जहाँ एक ओर उपन्यास में साहित्यिकता की अपेक्षा वर्ण्य विषय का ही विशेष महत्व रहता है वहाँ दूसरी ओर उपन्यास के पाठक में काव्य-मर्मज्ञता के भी स्थान पर साधारण सांसारिक ज्ञान की अपेक्षा रहती है।

वाल्टर एलेन ने अपनी पुस्तिका—'रीडिंग ए नावेल' में स्टीवेन्सन के २ जनवरी १८८६ ई० के एडमंड गास को लिखे हुए पत्र में लिखा है—'हम आपस में उस पशु की पशुता के विषय में विषाद पूर्ण कथाएँ कह सकते हैं। जिसकी क्षुधा हम लोग शान्त करते हैं।' लेखक (वाल्टर एलेन) पाठक को संबोधन करते हुए उसे बतलाता है कि स्टीवेन्सन का पशु से अभिप्राय है पाठक से। वह कथन—"मैं जनता के लिए नहीं लिखता मैं यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि मैं रुपये के लिए लिखता हूँ, जिसमें मेरे लिए श्रेष्ठ दंदत्व का भाव अधिक है और सबसे अधिक तो मैं अपने लिए लिखता हूँ,

कदाचित् मैं किसी भी प्रकार श्रेष्ठ नहीं हूँ, लेकिन उन सब (जनता) से अधिक समझदार हूँ और बातों को उनसे अधिक समझता भी हूँ। उस समय प्रत्येक गंभीर प्रकृति का लेखक जोरदार शब्दों में स्टीवेन्सन का समर्थन करेगा। जैसे-जैसे हम अपने समय के निकट आते जाते हैं, हम हार्दिक समर्थन करने वालों का स्वर और अधिक जोरों से सुन पाते हैं क्योंकि प्रत्येक लेखक यह जानता है कि वह जो कुछ भी लिखेगा उसके संबंध में पाठकों में अधिकांश जनों की धारणा भ्रामक ही रहेगी।

हम अपने निबन्ध में पाठक और लेखक के बीच के उस संबंध की चर्चा नहीं करेंगे जिसकी ओर स्टीवेन्सन ने मन ही मन जल-भुन कर संकेत किया है। ऐसा संबंध तो उचित प्रकार के संबंध की नकारात्मक स्वीकृति ही दे सकता है। इसमें हम उस सहज एवं साधारण संबंध का विश्लेषण करेंगे जो उपन्यास लिखने वाले व्यक्ति एवं उस उपन्यास के पढ़ने वाले के बीच में होता है। हाँ, इस निबंधांश को न तो हम ठेठ रूप से मनोवैज्ञानिक ही बनायेंगे और न अन्य शास्त्रीय विवेचन के अध्यायों की भाँति विशुद्ध शास्त्रीय ही। उपन्यास-कार और पाठक के संबंध की चर्चा करते हुए हमें सभी उपन्यासों को दृष्टि में रखना है। वास्तव में उपन्यास की सार्थकता उसके पढ़े जाने में है। पढ़ने के कृत्य से उपन्यास में पूर्णता आती है। उपन्यास उपन्यास नहीं होता जब तक कि कोई ऐसा व्यक्ति उपन्यास को नहीं पढ़ लेता जो उसके छापने या बेचने आदि के व्यापार से किसी प्रकार संबंधित नहीं है। इस निबंधांश का विषय तो कलम का वह जादू है जिसने मानव जाति को पूर्णतया प्रभावित कर रखा है और उसे इतना आवश्यक बना दिया है कि हम उसको अपने बीच से नहीं हटने देना चाहेंगे। जिस किसी भी कृति द्वारा यह कलम का जादू सफलता से किया जाय वही कृति इस अध्ययन के अन्तर्गत आ जायगी।

जैसे ही दिन ढलता है और गली में अँधेरा छा जाता है तब जहाँ-तहाँ विभिन्न श्रेणी के लोगों (साधारण साक्षर 'हजिफ' से लेकर विद्वान, पुजारी, शिक्षक, विद्यार्थी सभी) में आख्यानात्मक साहित्य के लिए रुचि उत्पन्न होती है। लेकिन अब यह प्रश्न उठता है कि बलवती इच्छा किस लिये उठती है ? लोग उपन्यास ही क्यों पढ़ना चाहते हैं ? वह कौनसा आनन्द है जो किताब के पृष्ठों में समाया रहता है और जिसके लिये लोग पाँच-सात रुपये खर्च कर देते हैं ?

इस संबंध में हमें पेशेवर तथा विद्या-व्यसनी लोगों को छोड़कर शुद्ध,

अबाध्यता से प्राप्त, बिना किसी दूसरी भावना के मिलावट के अनुभव को लेना है। कवि जीवित कवियों की कविताएँ मुख्यतः विरोध की भावना से ही पढ़ते हैं। उपन्यासकारों में भी इसी प्रकार की ईर्ष्या होती है पर उनमें एक चेतना उन्हें इससे सुरक्षित रखती है और प्राथमिक पुरुषों की भावना नहीं होती है। वे उसका उदात्तीकरण कर देते हैं और एक प्रकार की सजगता का भाव उनकी रक्षा करता है क्योंकि वे तुरन्त जान जाते हैं कि पुस्तकालय की अलमारियों में अपेक्षा कृत अच्छे उपन्यास कहाँ रक्खे हैं। उनके उद्देश्य भी परिपक्व होते हैं। वे एक-दूसरे के उपन्यासों को 'फैशन' में आगे रहने के लिए भी पढ़ते हैं। वे उपयोग में लाई हुई सामग्री की प्रशंसा करने की दृष्टि से भी उपन्यासों को पढ़ते हैं। कभी-कभी उपन्यास पढ़ने के बहाने वे अपनी रचनात्मक शक्ति एवं गठन-कौशल का प्रदर्शन करने का अवसर प्राप्त करते हैं और इसी रूप में दूसरों से सीखते हैं या अपना बड़प्पन स्थापित करने का अवसर पाते हैं। वे एक-दूसरे के उपन्यासों का अध्ययन एक साथ बैठ कर विवाद करने के लिए दूसरे के द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्कों का उत्तर देने के लिए अथवा अपने सहधर्मियों के विचारों से सहमत होने के लिए भी करते हैं।

जो अर्द्धसाहित्यिक हैं—जो विद्याव्यसनी होने का दम भरते हैं, अथवा जिन्हें साहित्यिकों का पिछलग्गू कहा जा सकता है वे उपन्यासों को मुख्यतः इसीलिए पढ़ते हैं जिससे वे उन उपन्यासों के विषय में इस प्रकार बातचीत कर सकें मानों वे स्वयं उपन्यासकार हों अथवा उससे भी बढ़ कर यह प्रकट हो कि वे साहित्यिक आलोचक हैं। साहित्यिक आलोचकों का एक व्यावसायिक उद्देश्य यह भी होता है कि साधारण पाठक के मन में यह विश्वास उत्पन्न करें कि उनका उपन्यास के अध्ययन का उद्देश्य बड़े विचित्र प्रकार का है। हम इसी विचार को संक्षेप में यों प्रस्तुत कर सकते हैं कि कम से कम उच्च स्तर पर उपन्यास में आलोचना की रुचि उपन्यास में उन बातों के खोजने में होती है जो उस (उपन्यास) में होती ही नहीं।

साधारण पाठक का इसमें से कोई भी उद्देश्य नहीं होता और हमारे लिए यह बुद्धिमानी का कार्य है कि हम उनके व्यापार में कोई ऐसा उद्देश्य न देखें जैसा साहित्यिक व्यक्ति उसमें देखते हैं। इस प्रकार जो उपन्यासकार अपने को केवल उस मन बहलाने वाले के समान नहीं समझता है जो लोगों के अवकाश के समय में उनके लिए मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करता है वह हमें यही बतलायेगा कि पाठक उनके पास (ग्रन्थों के माध्यम से) सौन्दर्य,

सत्य और जीवन-दर्शन की खोज में आता है और इन सबको जीवन में उतारने में लेखक पाठक का पथ-प्रदर्शन भी करता है। उपन्यासकार को इस विचार से सान्त्वना भले ही प्राप्त हो पर देखना यह है कि इसमें सत्य का अंश कितना है? साधारणतः सामान्य पाठक सत्य एवं सौन्दर्य के प्रति इतना सजग नहीं होता, उसकी दृष्टि तो मनोरंजन पर रहती है। और रही उपन्यास में जीवन-दर्शन की बात सो वह तो उपन्यास मे कहीं अधिक दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। लेखक द्वारा पाठक के पथ-प्रदर्शन की बात उठाना ही असंगत-सा है। इस प्रसंग में हमें केवल विशुद्ध मनोरंजन की प्राप्ति पर ही ध्यान रखना है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि पाठक का मनोरंजन ही साहित्य का एक मात्र उद्देश्य नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि जन-सामान्य में प्रचलित किसी पुस्तक को देख कर यह धारणा बनने लगती है कि अमुक पुस्तक बहुत ही उत्तम एवं उपादेय है। पर यह सर्वांशतः सत्य नहीं है। कतिपय कृतियाँ ऐसी अवश्य हैं जो जन-जीवन के बीच विशेष प्रचलित भी हैं और वे उच्च कोटि की भी हैं। यथा तुलसीकृत रामचरित मानस। पर साधारणतः जन-रुचि हलके साहित्य की ओर अधिक होती है। उदाहरण के लिए आप पक्के गानों को ही ले लीजिए। ऐसे कितने प्राणी हैं जो उनमें रस लेते हैं। हलके गाने जिन्हें हम सरस-संगीत के नाम से नित्य रेडियो पर सुनते हैं, प्रायः अधिकांश जनता का मनोरंजन करते हैं। पर इससे पक्के गानों की अपेक्षा हलके गाना का संगीत के क्षेत्र में अधिक महत्व तो नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी पुस्तक के विषय में भी कहा जा सकता है कि जो पुस्तक विद्वज्जनों द्वारा प्रशंसित हो वही श्रेष्ठ पुस्तक है। इस संबंध में तो केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि किसी पुस्तक का महत्व किसी भी रूप में पढ़ने वालों की संख्या पर बिलकुल निर्भर नहीं रहता। उसकी प्रसिद्धि का कारण तो वे इने-गिने विद्या-व्यसनी लोग होते हैं जिन्हें अर्नाल्डबेनेट ने 'पैशनेट फ्यू' का नाम दिया है। वे लोग साहित्य के रसास्वादन का उसी प्रकार आनन्दोपभोग करते हैं जैसे कतिपय व्यक्ति अच्छी कोटि की 'बियर' (जो की मदिरा–जो कहीं-कहीं पेय में जल का स्थान ले लेती है) के सुस्वाद का अनुभव करते हैं। इस विषय (सुन्दर रचना के चयन) में उनकी क्षमता उसी प्रकार की होती है जैसी कि कुछ लोगों की शालिहोत्रों की योग्यता रेस में विजय प्राप्त करने की संभावना वाले घोड़ों के चुनने में देखी जाती है, अथवा यदि हम अर्नाल्ड बैनेट द्वारा

प्रयुक्त समानतादर्शक तथ्य को लें तो हम यही कहेंगे कि सत्साहित्य की पहचान के संबंध में उनकी कुशलता यों ही होती है जैसी कुशलता हम मदिरा-प्रेमी-जनों में देखते हैं जो आँख-मूँद कर केवल जिह्वा से स्थानीय प्रसूत मदिरा का स्वाद लेकर अविलम्ब ही यह बतला सकते हैं कि वे देश के किस भाग में हैं। इसे ईश्वरदत्त-गुण समझना चाहिए क्योंकि सच्चे कवि की भाँति वास्तविक पाठक जन्म से ही होता है, बनाया नहीं जाता। जिस प्रकार सतत अभ्यास और सदैव रचनाकार्य में संलग्न हुए बिना कवि के जन्म-जात गुण का भी कुछ महत्व नहीं होता उसी प्रकार पाठक भी अभ्यास के द्वारा अपनी बुद्धि को इतना तीव्र एवं परिष्कृत कर सकता है कि वह अपने अध्ययन-क्रम को सुरुचिपूर्ण एवं उपादेय बना सके। इसके लिए उसे अपने में सदाशयता के भाव को सर्वाधिक संवर्द्धित करना पड़ेगा।

अब प्रश्न होता है कि यह 'सदाशयता का भाव' ('गुडविल') किसके प्रति हो ? यह सदाशयता का भाव उस लेखक के प्रति होना चाहिए जिसकी पुस्तक पाठक द्वारा पढ़ी जा रही है। इस सदाशयता का भाव रखने से क्या अभिप्राय हैं। इसको स्पष्ट करने से प्रथम हमें यह निर्णय कर लेना है कि हम पढ़ते ही क्यों हैं ?

स्पष्ट रूप से पढ़ने के अनेक कारण हो सकते हैं। एक व्यक्ति अभी अभी शहर से जाकर गाँव के घर में रहने लगा हो। वहाँ के बाग की देख-भाल वर्षों से न की गई हो। सेव के पेड़ में आवश्यकता से अधिक डाले बढ़ गई हों और उन्हें यों ही (काटे-छाँटे बिना) बढ़ने दिया गया हो। फल के वृक्षों की देख-भाल कैसे की जाती है इस विषय में बिना कुछ भी जाने हुए वह उस विषय पर एक किताब मोल लेता है। अतः पढ़ने का एक उद्देश्य हुआ कि किसी भी विषय के संबंध में केवल उपलब्ध ज्ञान की प्राप्ति। पर यह तो केवल एक कारण है। उदाहरण के लिए जब मेरा 'वायरलेस सेट' बिगड़ जाता है, मैं यह सीखने के लिए कोई पुस्तक नहीं खरीदता हूँ कि उसे कैसे ठीक किया जाय। तब तो यह सरलता से और शीघ्रता से किया जा सकता है कि एक 'रेडियो-मैकेनिक' को बुला लिया जाय। जीवन में उन सभी चीजों के विषय में सब कुछ सीखने के लिए समय नहीं होता जो कि कभी-बिगड़ सकती हैं। अतः इस प्रकार का पढ़ना क्रियात्मक रूप से किसी विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए पढ़ना—इस निबंधांश का वर्ण्य-विषय भी नहीं है।

तब फिर और जो कोई भी मौके-मौके पर कुछ भी पढ़ता है, वह समय

काटने के लिए ही पढ़ता है। किसी-किसी मानसिक स्थिति में तो जब हमारे पास और कुछ पढ़ने के लिये नहीं होता तो हम 'टेलीफोन डाइरेक्टरी' अथवा 'रेलवे टाइमटेबुल' ही पढ़ कर समय विताते हैं। निरुद्देश्य रूप से स्वीकृत की जाने वाली पठन-सामग्री के औचित्य के सम्बन्ध में न तो कुछ भी कहने की आवश्यकता है और समान रूप से ही वह इस निबंधांश का विषय भी नहीं है। परन्तु इस प्रकार के पढ़ने का एक महत्व है और वह यह कि कदाचित इसी मन बहलाव के लिए पढ़ते-पढ़ते बहुत से लोग गंभीरता से पढ़ने लगते हैं। अतः समाचारपत्रों एवं मासिकपत्रों से आगे बढ़ कर पुस्तकों के पढ़ने पर आ जाते हैं। गतयुद्ध ने इस वात को सिद्ध भी कर दिया, जब सहस्त्रों मनुष्य 'बैरकों' में अथवा 'हवाई हमले' से बचने वाले स्थानों में यों ही बैठे-बैठे ऊब जाते थे तब उन्होंने जीवन में पहली बार पुस्तकें पढ़ना आरंभ किया। कुछ ने तो वह पढ़ने का क्रम अटूट रखा और असली किस्म के पढ़ने वाले बन गए और उनमें से बहुतेरे उसी प्रकार निरुद्देश्य पढ़ने वाले बने रहे जैसे वे आरंभ में थे। जैसा कि वे स्वयं कहते हैं उनका पढ़ने का उद्देश्य तो अपने को थोड़ी देर के लिए परिचित परिस्थितियों से बाहर निकाल लेना मात्र है। एक अर्थ में यह हम सभी के ऊपर लागू होता है। हम प्रायः इसी एक उद्देश्य को लेकर पढ़ते हैं। इसमें जो महत्व की बात है वह यह है कि हम अपने को परिचित परिस्थितियों से निकाल कर ले कहाँ जाने देते हैं। यहाँ लेखक का यह उद्देश्य नहीं है कि वह अपने को उन लोगों से बढ़ कर सिद्ध करे जिनका पढ़ना केवल अपने को दुनियाबी झंझटों से दूर रखने के लिए होता है—जिसे नौकरी पेशा वाली युवतियों के घटनापूर्ण उपन्यासों का नाम दिया जाता है जिन्हें सच पूछिये तो मध्य श्रेणी की महिलाएें उतनी ही अधिकता से पढ़ती हैं जितना कि नौकरी करने वाली नौजवान लड़कियाँ। इस प्रकार के रोमांस जो संसार भर में बनाए जाने वाले फिल्मों के साहित्यिक समानान्तर रूप होते हैं अपने पाठकों में एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, उनका अस्तित्व उस कुण्ठा का संकेतक है जो आधुनिक संसार में बहुतेरे मनुष्यों की अभिलाषाओं की अपूर्ति के परिणाम से आती है[1]। पर इस प्रकार की

---

1 Such romances, which are the literary equivalents of the great bulk of the world's film output satisfy a psychological need in their readers their. existence is an index of the fruast-

पुस्तकें भी इस निबंधांश की विचार-परिधि में विवेचन के लिए नहीं आती हैं, क्योंकि ये उस अर्थ में पुस्तकें नहीं हैं जिस अर्थ में इस निबंधांश में उन्हें विवेचनार्थ ग्रहण किया गया है। वे तो बहुतेरे सिनेमा-चित्रों और रेडियो प्रोग्राम के समान क्रय-विक्रयोपयोगी वस्तु के रूप में उपभोक्ता सामग्री की कोटि में आती हैं जो किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक पूर्व निश्चित योजना ('फार्मूला') के अनुसार निर्मित की जाती हैं। उनका और वास्तविक कोटि की पुस्तकों का वही परस्पर संबंध होता है जो विज्ञापन और काव्य का होता है। उनमें केवल इतनी ही 'खराबी है कि वे अपने पाठक को फुसला कर, भुलावा देकर अपने स्वप्न-जगत को वास्तविक जीवन से बढ़ कर समझने के लिये विवश करती हैं और उनके लगातार पढ़ते रहने से पाठक की इच्छा जीवन का सामना करना भूल जाती है। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि जिनके पढ़ने का उद्देश्य केवल जीवन से पलायन करने का होता है। उन्हें इस निबंधांश से किञ्चितमात्र भी समर्थन प्राप्त नहीं होगा; 'क्योंकि इस निबंधांश का विवेच्य तो वे पुस्तकें हैं जिनका वर्ण्य-विषय अत्यन्त साधारण रूप से अपने सभी पात्रों, रहस्यों, उमंगों, सहनशीलताओं, समस्याओं सहित जीवन होता है।

महामति आचार्य जान्सन अपने उपन्यास 'रैसेलेस' में कल्पना की उस बुभुक्षा की चर्चा करते हैं जो निरंतर क्रम से जीवन से अपना भक्ष्य प्राप्त करती रहती है।[1] यह सत्य है कि जिस प्रकार मानव हृदय से कोई रचना अचानक प्रस्फुटित हो उठती है उसी प्रकार मानव हृदय में अध्ययन क्रम के प्रति एक सहज जिज्ञासा एवं उत्सुकता की जागृति भी अपने ही आप हो जाती है। हम अपनी कभी न शांत होने वाली उत्सुकता के कारण जीवन

---

rations that attend the desires? of so many people in the modern world.

—WALTER ALLEN, *Reeding a Novel*. P. 12.

Dr. Johnson in his novel Rasselas speaks in a tremendous phrase of 'that hunger of the imagination which preys incessantly upon life.' (it is precisely out of that enduring aspect of the mind of man that real reading like real writing springs.)

[1]—DR. JOHNSON. *Rasselas*.

के रहस्य भेदन का प्रयत्न करते हैं और यह बात सभी परिस्थितियों में लागू होती है। चाहे हम जीवन-दर्शन पढ़ें अथवा आध्यात्मिक अनुभव के संस्मरण, वैज्ञानिक खोज, इतिहास, जीवन-चरित्र, काव्य अथवा कहानी उपन्यास का अनुशीलन करें। ये सभी मानव जीवन के अनुभव की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकट रूप हैं और इन सब के मूल में व्याप्त उत्सुकता का भाव विशेष महत्व रखता है।

प्रस्तुत निबन्ध उपन्यास से सम्बन्धित है। अतः यहाँ हम यही विचार करना चाहेंगे कि हम उपन्यास क्यों पढ़ते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक कारण दिये जा सकते हैं पर उन कारणों में से जो मूल-भूत कारण है, वह है केवल युग-युग से चली आती हुई कहानी में मनोरंजन साधन पाने की साधारण जन की प्रवृत्तिमात्र, जो घटनाओं की शृंखला में एक के बाद दूसरी कौन सी घटना घटित हुई इसी को जानने में विशेष आह्लाद का अनुभव करती है। प्रथमतः हम उपन्यास उसी कारण से पढ़ते हैं जिस कारण हम— 'सिनेमा' देखने जाते हैं अथवा नाटक देखने जाते हैं जिससे हमारा मनोरंजन हो सके, जिससे हमारा जी बहल सके। कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मनोरंजन का स्वरूप अपने गुदगुदाये जाने से लेकर दया एवं करुणा के भावों से मन के कलुष के विशुद्धीकरण तक हो सकता है, पर जब तक पाठक का मनोरंजन नहीं होता तब तक जो कुछ भी किया जाय वह सब व्यर्थ होता है और उपन्यास में मनोरंजन का आधार अन्त में कहानी ही ठहरती है। आगे क्या होता है? इस स्थिति को पार करने के पश्चात हम पढ़ते हैं क्योंकि हम उन चरित्रों के विषय में जानना चाहते हैं जो घटनाओं का संचालन करते हैं और जिन पर वे घटनाएँ घटित होती हैं।

हममें से सभी मानव-प्राणी होने के नाते मानव स्वभाव के अध्ययन में व्यस्त रहते हैं और उस अध्ययन में रुचि लेते हैं। पर जीवन के साधारण-क्रम में हम बहुत कम लोगों को अन्तरंग रूप से जानते हैं। उनके चरित्र को पूर्ण रूप से हृदयंगम करना अथवा उनके व्यवहार को पूरी तौर से समझना तो उससे भी कम होता है। वास्तव में यह विरले ही अवसरों पर संभव होता है कि हम अपने को ही पूर्ण रूप से समझ सकें। आख्यानात्मक साहित्य हमें मानव-प्राणियों के प्रतिनिधिरूप चरित्रों को इतने अधिक निकट से समझने का अवसर देता है जितनी निकटता से हम कभी वास्तविक जगत के मानव-प्राणियों को भी नहीं जान सकते हैं, और इस बात में इतना अधिक सत्य है

कि संसार के आख्यानात्मक साहित्य में बहुत से ऐसे चरित्र हैं जो हमारे लिये उन सब व्यक्तियों से जिन्हें हम व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, कहीं अधिक वास्तविक हैं और उनको हम कहीं अधिक पूर्णता से समझते हैं। इस प्रकार उपन्यास हमारी चित्तवृत्ति में हमारे सहवासियों को समझने के योग्य बनाता है। वास्तव में इस युग में यही इसकी प्रमुख अभिव्यक्ति का स्वरूप है। आज के युग में अच्छे आख्यानात्मक साहित्य में हमें वही सब कुछ प्राप्त हो सकता है जो जार्ज वर्नार्ड-शा को इब्सन के नाटकों में उस समय मिला था जब कि उसकी अवतारणा सर्व प्रथम १८८० के मृतप्राय जीवनहीन रंगमंच पर हुई थी, जीवनियों की कहानियाँ, आचरण पर वाद-विवाद, आन्तरिक-उद्देश्यों का अनावरण, बातचीत में चरित्रों का परस्पर संघर्ष, अन्तर को खोल कर रखना, मनुष्य की भूलों की खोज आदि। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जीवन 'पर जगमगाहट से भरा पूरा प्रकाश—'जगमगाहट से भरा पूरा प्रकाश' यह शब्दावली स्वयं 'शा' महोदय की थी।[1]

परन्तु पाठक को यह जीवन पर पूर्ण रूप से पड़ने वाला जगमगाहट वाला प्रकाश उपन्यास से बिना कुछ प्रयास से नहीं मिल सकता—जब तक पाठक में उपन्यास लेखक के मस्तिष्क को अपने मस्तिष्क से मेल खाने का सफल प्रयत्न नहीं होता। वास्तविक पठन—वह पठन-विधि जिसे हम रचनात्मक प्रक्रिया का सम्मान दे सकते हैं—उसी समय संभव हो सकता है जब पाठक और उपन्यासकार के बीच पूर्ण सहयोग रहता है और उपन्यासकार के सहयोग देने का उत्तरदायित्व जैसे ही पाठक उपन्यास को पढ़ने के लिये हाथ में लेता है वैसे ही समाप्त हो जाता है।

अब पाठक किस प्रकार लेखक के साथ सहयोग करे इसी प्रश्न विचार करना है—

---

1. So the novel ministers to our passions to understand our fellows; indeed it is in this age its principal expression. In good fiction (as of course in good plays) we may find what Bernard Shaw found in the drams of Ibsen when it was first introduced to a......all but moribund. English stage in the eighteen-eighties: stories of lives, discussion of conduct, uneiline of Motivcs conflict of characters in talk–laying bare of souls discovery of pitfalls in short; 'illumination'—the italics are Mr. Shaw's. WALTER ALLEN : *Reeding a Novel*. p. 14.

परसी लबाक के अनुसार उपन्यास का पाठक—यहाँ पर आलोचनात्मक दृष्टि रखने वाले पाठक से अभिप्राय है—अपने में स्वयं उपन्यासाकार होता है। वह एक ऐसी पुस्तक का स्रष्टा होता है जो उसकी रुचि की हो या न हो पर उसकी रचना का पूरा उत्तरदायित्व उस पर होता है। उसका कार्य लेखक के कार्य से भिन्न होता है। लेखक के कार्य का विस्तार अधिक होता है। उसे चयन-स्वातन्त्र्य होता है पर इस बात में दोनों समान हैं कि वे दोनों ही अपने-अपने ढंग से उपन्यास का निर्माण करते हैं।

यदि इन दोनों की कार्य विधि के अन्तर को समझने के लिये उदाहरण स्वरूप प्रेमचन्द को ही ले लिया जाय और प्रेमचन्द और आलोचक पाठक को साथ-साथ खड़े होकर जीवन-व्यापार देखने की कल्पना की जाय तो आलोचक पाठक को कुछ नहीं कहना होता है। उसे केवल प्रतीक्षा करनी होती है। प्रेमचन्द जमकर डट जाते हैं। उनकी प्रतिभा जीवन-प्रवाह में गहरी डुबकी लगा कर बिना किसी हिचक या रोक के जीवन-खण्डों को प्रवाह से पृथक् कर देती है। जो केवल प्रासंगिक हैं अथवा अनावश्यक है उसे प्रेमचन्द अपनी कृतियों में छोड़ते भी जाते हैं। वह उन सबको ऐसी परिस्थितियों में स्पष्ट करते हैं जिसमें वे व्यावहारिक जीवन में नहीं दिखाई पड़ते। वह उनका जीवन-प्रवाह से उद्धार कर उन्हें पूर्ण करता है। इस प्रकार जाने हुए जीवन के समान लगते हुए भी उससे भिन्न ऐसी सामग्री को लेकर जैसी परिचित जीवन कभी होने की कल्पना भी नहीं कर सकता प्रेमचन्द अपनी रचना करते हैं। इस प्रकार लेखक आलोचक पाठक का पथ-प्रदर्शन करता है और यहाँ से उसका काम आरंभ होता है।

पाठक (आलोचक) को न तो घटनाओं के चयन का उत्तरदायित्व संभालना पड़ता है और न उनका क्रम ही स्थिर करना पड़ता है। कल्पना के सहारे जीवन का चुनकर समेटा हुआ रूप उसके सामने होता है जो सम्पूर्ण न होकर भी अपने में पूर्ण होता है। पुस्तक का संसार ऐसा होता है जहाँ कल्पना एवं क्रियाशीलता साथ-साथ काम करती है। जैसा कुछ भी हो आलोचक—(पाठक) अपनी पुस्तक की सृष्टि के लिए इसको उसी स्वरूप में स्वीकार करता है। अब आलोचक (पाठक) के लिए चयन एवं यथेच्छा-ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता, यह तो उपन्यासकार का काम था और वह उसके ज्ञान के अनुसार सम्पन्न भी किया जा चुका है, आलोचक (पाठक) तो जीवन की सामग्री के सहारे अपनी सृष्टि करता है।

पर इस प्रकरण से उसके कार्य का किसी भी वांछित स्वरूप में गढ़ जाने का गुण हट कर दूर नहीं चला जा सकता। आलोचक पाठक को लेखक की भाँति—एक कलाविद् की भाँति---अपनी सामग्री को लेकर कला-सृष्टि करनी पड़ती है। जैसे-जैसे वह पुस्तक का पाठ करता जाता है वह विशिष्ट खन्डों को लेता जाता है। उसे तद्गत विचार एवं प्रयुक्त सामग्री का भी पूर्ण ज्ञान होता है। उपन्यास की रचना में तो तमाम आँखों से भी न दिखाई पड़ने वाले तत्वों का समावेश होता है। उनके पुनः प्रयुक्त प्रयोग से ही पठन पूर्ण होने के पश्चात् मस्तिष्क में बनी हुई पुस्तक स्थायी रूप से अटक सकती है।

अब हमें इस बात की विवेचना करनी है कि वे कौन से विभिन्न पदार्थ हैं और (जिसका 'ध्येय' केवल पढ़ना ही है) किस प्रकार उनके उपयुक्त प्रयोग को सीख सकता है। यद्यपि उनकी संख्या अगणित है पर ऐसी नहीं कि जिसका लेखा न हो सके। यों तो मिश्रित शैलियों के उदाहरण भी असंख्य हैं। कथन के ये ढंग ऐसे भी नहीं होते कि उनका पता ही न चलता हो। हम उन्हें अच्छी तरह जानते हैं और उनका उपयुक्त उपयोग करते हैं। पर उस सामग्री का प्रयोग करना उनकी विशेषता परखने से कहीं अधिक सरल होता है। उनको तो हम जिज्ञासु की सजगदृष्टि से ही पठन के द्वारा जान सकते हैं। इस प्रकार उपन्यासकार के ढंग का समीप से अध्ययन करते हुए हम उपन्यास में प्रयुक्त अनेक बातों को जान सकते हैं।

हम सभी (पाठक के रूप में) उपन्यास के सामने होते ही एक प्रकार के संकोच का भी अनुभव करते हैं और वह यह कि उपन्यास के जीवन के खण्ड होने से यदि हम उसको टुकड़ों में देखेंगे तो उसकी पूर्णता नष्ट हो जायगी। जब पाठक आलोचना के लिए उद्यत होता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों वह स्वयं प्रकृति के आलोचक की भाँति अपनी स्लेट पर बसन्त ऋतु की भूलों को लिख रहा हो। यह बात अत्यन्त नाजुक किस्म की होने से नहीं जाती पर साधारणतया यह विचार आलोचक (पाठक) की लेखनी को आगे बढ़ने से रोकता है। पर पाठक को इससे बिल्कुल ही भयभीत नहीं होना चाहिए। पुस्तक की आलोचना कितनी ही भीषण क्यों न हो उससे उपन्यास-गत पुस्तक का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। और फिर यह जीवन का खंड नहीं है, यह तो अन्य कलाकृतियों की भाँति एक कलाकृति है। दूसरे विचार रूप में स्थित होने के कारण इस पर आलोचनात्मक विचारों का दृष्टिगत

प्रभाव भी नहीं पड़ सकता। कदाचित् कभी-कभी पाठक तद्गत पुस्तक से नहीं वरन् तन्निहित आनन्द का संकोच करता है क्योंकि उपन्यास कैसे बना यह जान कर वह अपना सारा मजा किरकिरा कर देते हैं।

पर जो न हो उसकी प्रतीत से जो आनन्द होता है वह जो वास्तव में रचा गया है उससे प्रसूत आनन्द से कहीं कम होता है और पुस्तक हाथ में लेते ही बड़ा आनन्द पाठक के अनुभव का विषय बन जाता है। लेखक अपने विषय तक कैसे पहुँचता है—चाहे वह मानव प्राणी हो अथवा परिस्थितियाँ हो अथवा विचारों के मोड़ हों—यह सचमुच ही पाठक की समझ की सीमा के बाहर है पर जैसे ही वह इनको स्थिर कर लेता है उसके बाद तो पाठक उसके साथ-साथ डोलते हुए सब कुछ उसी की आँखों से देख कर अपने आप घटनाओं के क्रम को, परिस्थितियों के आगमन को एवं विचारों के तर्क को देखता रहता है। तब पाठक अपनी एक अलग 'डिज़ायन' बनाता चलता है और कभी-कभी कुछ ऐसी बातें देखता है जो उसकी समझ से उस स्थान पर न होनी चाहिए अथवा वे जिस प्रकार है उस प्रकार न होनी चाहिए और बस पाठक का आलोचना संबंधी कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार पाठक एक बार फिर लेखक के श्रम के घंटों को अनुभूति का विषय बनाता है और रचना करने के समय के आनन्द की पुनरावृत्ति हो जाती है।

यह क्रम पुस्तक के अन्त तक चलता रहता है और तब फिर आलोचक पाठक अपने विचार संसार में पीछे फिर-फिर कर पूरी 'डिज़ाइन' को देखता है। वह केवल पुस्तक के स्वरूप का ही साक्षात् नहीं करता, प्रस्तुत स्वयं पुस्तक को हृदयंगम करता है। उसके गुण और दोष एक कलात्मक मूर्ति के स्वरूप एवं मुद्रा के गुण और दोषों की भाँति उभर आते हैं। यह बात ठीक है कि पुस्तक का यह भावस्वरूप समय की धुन्ध में स्मृति की दृष्टि से शीघ्र ही ओझल हो जाता है। अतः पाठक को उसको इस रूप में परखने का कभी-कभी तो इतना ही समय मिलता है जितना संध्या के बादलों की रंगीनी को चित्रफलक पर उतरने के लिए चित्रकार की विशेष गति-मति-प्रतिमा को मिलता है। यह समय पर्याप्त से अधिक तो कभी होता ही नहीं है।

उपन्यास और पाठक वर्ग की आवश्यकता

उपन्यास के लिए अन्य साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा बहुत कम रचना के नियमों का बन्धन है, पर इसे मौनरूप से पढ़ी जाने वाली कहानी तो होना ही है अर्थात् लेखक एवं पाठक के बीच में मौन एकाकारिता का भाव

होना आवश्यक है। नाटक की भाँति इसके लिए दर्शक वृन्द की अपेक्षा नहीं होती, पर अपने अस्तित्व के आधार रूप मूल नियम के कारण यह पाठक वर्ग की वृहत् संख्या की अपेक्षा करता है जो सम-सामयिक परंपराओं के अनुकूल साहित्यानुशीलन करने में अभ्यस्त हो[1]। विश्व इतिहास में जिसे 'अंधकार-युग कहा जाता है उसमें तो इस प्रकार का कोई पाठक वर्ग रहा नहीं। आरम्भ में उपन्यास के विकास के बाधक के रूप में हम नाटक के साहित्यिक सिंहासन की ऊँचाई पर आसीन होने और काव्य की उच्चतर प्रतिष्ठा के पद पर स्थित होने के रूप में ही समझ सकते हैं। यह बात वास्तव में सत्य है कि जब तक नाटक का ह्रास नहीं हुआ गद्यात्मक आख्यान साहित्य आगे नहीं बढ़ा। अंग्रेजी में सोलहवीं शताब्दी तक गद्य में लिखा हुआ ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे किसी भी रूप में उपन्यास कहा जा सके, पर उसके बाद की शताब्दियों में तो आरंभ से लेकर आज तक एक प्रकार बात की पाठक जनता अस्तित्व में आती गई जिसने उपन्यास को अवतारणा को संभव बना दिया और उपन्यास की माँग तथा उस माँग को पूरा करने वाले उपन्यासकार दोनों को ही उत्पन्न किया।

इस प्रकार को जनता एक समय में पृथ्वी के दो छोरों पर थी। प्राचीन काल में तो नैमिषारण्य में सूत जी का प्रवचन अट्ठासी हजार ऋषियों के बीच में आधुनिक काल के डिकेन्स के अपने ही उपन्यासों को पढ़ कर सुनाने के अमेरिकन अभियान का स्मरण दिला देता है। संस्कृत साहित्य में कादम्बरी, दशकुमार चरित्र प्रभृति संस्कृत उपन्यासों की परंपरा ने एक शिष्टकोटि की पाठक जनता को जन्म दिया था। फारस और अरब में—'सहस्र-रजनी' की परम्परा ने शहरजादी के रूप में अनेक पढ़ने वाले सुल्तानों के वर्ग की सृष्टि कर दी थी। ग्रीस, रोम और बिज़ान्शियम की अन्तिम शताब्दियों में प्रेम और साहसपूर्ण अभियानों की कथाएँ बड़ी उत्सुकता से पढ़ी जाती थीं। आख्यानात्मक साहित्य के जितने भी सँवारे हुए सर्वप्रिय साहित्यिक रूप गड़रियों के जीवन से सम्बन्धित प्रेम-कथाएँ, सैलानी लोगों के जीवन की मजेदार घटनापूर्ण

---

1 "A novel, admittedly, obeys few laws, but it must be a story written to be read in silence, the silent communion of author and reader. It demands no audience; but by the very law of its being it demands the existence of a large reading public, attuned to its contemporary conventions—S. DIANA NEILL—'*A Short History of the English Novel*'—p. 7.

कथाएं, व्यंग्यात्मक कहानियाँ, मन की उड़ान वाली कहानियाँ और बाद के विज्ञान-जगत से सम्बन्धित रोचक-कथाएँ आदि फ्रान्स और इङ्गलैंड में हुए वे सभी साहित्यिकरूप बाद के यूनानी और रोम के साहित्य में पाये जाते हैं। आज भी 'लौंगस', 'हेलीडोरस' 'ऐशितिज' 'टेशियस' 'एपूलियस' पेट्रोनियस, और 'लूशियन' बड़ी रुचि से पढ़े जाते हैं, पर इन नामों से पता चलता है कि उपर्युक्त सभी भाषाओं में अपने ढंग की घटनापूर्ण कथाओं के लेखकों की संख्या कहीं अधिक रही होगी। बड़े चक्करदार ढंग से यह साहस पूर्ण अभियान की कथाएँ व्यापारियों, निर्वासित धर्माचार्यों, धर्म पर बलि जाने वाले वीरों के द्वारा लाई जाकर आधुनिक सभ्य जगत में फैली।

इङ्गलैण्ड में यह परम्परा पद्यात्मक घटनापूर्ण कहानियों के रूप में चलती रही[1]। पर पृथ्वी पर चारों ओर कहानियों के बड़े-बड़े खजानों के होते हुए भी उपन्यास जैसी कोई भी चीज सामने नहीं आई। छापाखाने के आ जाने पर भी केवल 'बैठकुआ' लोग अथवा कुछ पेशेवर पुरुष और स्त्रियाँ ही पढ़ सकते थे, परन्तु साधारण जन यद्यपि साक्षर नहीं थे तथापि उनका साधारण ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। हाँ, यदि चासर ने गद्य में लिखा होता तो सम्भव है कि रिचर्डसन के 'पामेला' अंग्रेजी का प्रथम उपन्यास न होकर यह गौरव उसके 'ट्बायलस' ऐण्ड क्रेसीड' को प्राप्त हुआ होता। कारण यह था कि इस कविता में चासर ने मानवता से पूर्ण कहानी कही थी और स्वाभाविक ढंग से सब बुरी बातें बताते हुए, व्यंग्य तथा मानव हृदय की प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की पैठ के साथ कही थी। ऐसा करना उस युग के लिये विस्मयजनक था। 'क्रेसीड' के प्रति उसका नाजुक भाव, यूनानी कैम्प में उस (क्रेसीड) के ऊपर पड़ने वाले प्रलोभनों को गूढ़ एवं मार्मिक ढंग से समझने की क्षमता....उस (क्रेसीड) की अपने अनुपस्थित प्रेमी के प्रति दृढ़-व्रती रहने की करुणापूर्ण असफल अभिलाषा को समझने की लेखक की उस कोटि की अभूतपूर्व क्षमता को प्रकट करती है। जो नाटक के क्षेत्र के बाहर रिचर्डसन के 'क्लेरिसा' की सृष्टि करने के पूर्व कहीं नहीं देखी जाती। पर गद्य जो उपन्यास का एक सर्व-

---

1 "Throught the fourteenth century people remained con,t ent with rhymed romances—Robinhood and Maid Marioan-the incredible adventures of Bevis of Hampton, and Cuy of Warwick were great favourites"

—S. DIANA NEILL—*A Short History of the English Novel*—P. 11

स्वीकृत माध्यम है, इङ्गलैण्ड में भी बड़े धीरे-धीरे सर्व-साधारण के प्रयोग में आया और जिस वस्तु की आज्ञा इस अत्यन्त छोटी-सी पर विशिष्ट रचना में निहित थी वह तीन शताब्दियों तक पूरी न हो सकी।

पन्द्रहवीं शताब्दी में मुद्रण विधि के आविष्कार ने कहानी कहने की कला को बहुत बड़ा बल दिया और गद्यात्मक आख्यान साहित्य के प्रसार में भी बड़ी सहायता की। बड़े ही विचित्र ढंग से एक साधारण योग्यता के व्यक्ति 'विलियम कैक्स्टन' द्वारा अंग्रेजी गद्य को सादगी और मुहावरेदार स्पष्टता प्रदान की गई। इन दोनों हो गुणों की अत्यधिक आवश्यकता थी और इस साधुकार्य के द्वारा उसने उपन्यास के एक बड़े आवश्यक अंग की स्थापना की ...उसने जनता के बीच उपन्यास के पाठक तैयार किये। कैक्स्टन बहुत समय तक फ्रान्स में रहा था और उसने फ्रेन्च भाषा के सहज गुणों का समावेश अंग्रेजी में किया। यह उसका दूसरा बड़ा अनुदान था....पाठक और पाठक के योग्य भाषा।

इसके बाद कुछ समय तक गद्य और पद्य की उच्च स्थान ग्रहण करने के प्रयत्न में प्रतियोगिता रही पर धीरे-धीरे गद्य की प्रतिष्ठा कथा-साहित्य में निर्विवाद रूप से हो गई। यह पद्य और गद्य का संघर्ष उपन्यास के सारतत्व को स्पष्ट करने में सहायक है।[१]

यह भी एक विचित्र बात है कि यूनानी और अंग्रेजी साहित्य दोनों में ही उपन्यास का आरम्भ एक महान् युग के ह्रास के साथ होता है। हिन्दी में भी उपन्यास की अवतारणा कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों में होती है। यूनान की प्रेम एवं घटनापूर्ण साहसिक कथाओं का आरम्भ अलेकजेन्ड्राइन के ह्रास के युग से होता है, एलिजाबेथ-कालीन इङ्गलैण्ड में उपन्यास का उन लेखकों के द्वारा निरादर किया गया था जो अपने समय के साहित्य के गौरव थे। यदि

---

1 "By this time prose had established itself as the accepted medium for romances, the story could be told with greater simplicity and ease and any loss of the quaintness and charm possessed by the older verse forms was offset by the growing neturalness at any rate, in the method of narration. This battle between prose and verse is germane to the essence of the novel.

—S. DIANA NEILL: *A Short History of the English Novel*, P. 13.

मार्लो और शेक्सपीअर ने उपन्यास लिखे होते तो इङ्गलैण्ड में भी रूस के दोत्सोवत्सकी के समान उपन्यासकार हुए होते और इंगलैंड में भी उपन्यास की विद्या इतनी परिपक्व हुई होती जितनी वह रूस में हुई और यही कारण है कि पाठक वर्ग में भी महान् उपन्यासकारों के पढ़ने का चाव प्रबलता से उठने में विलम्ब लगा। उन्हें फ्रेन्च एवं रूसी उपन्यासों के अनुवादों की अपेक्षा करनी पड़ी।

हिन्दी साहित्य में भी उपन्यास की अवतारणा रीतिकालीन साहित्यिक ह्रास के युग से आरम्भ हुई। अंग्रेजी साहित्य तथा अन्य साहित्यों के वातावरण की भाँति प्राचीन हिन्दी में भी काव्य एवं नाटक की प्रतिष्ठा होने के कारण गद्य में आख्यान साहित्य साहित्यिकों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता था। पाठक-वर्ग की सृष्टि समाचार पत्रों के पढ़ने वालों और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों को लेकर हो गई थी पर उपन्यास में रुचि लेकर पढ़ने वालों का आगमन हिन्दी साहित्य में बड़ी देर में होता है। इसकी चर्चा आगे करेंगे।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उपन्यास का अत्यधिक विस्तार हुआ। विज्ञान के द्वारा प्रस्तुत की हुई नवीन सामग्री एवं रुचि, नई खोज, आधुनिक आविष्कार, और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों (युद्ध, समुद्र, धर्म, फैक्टरी, खान अथवा रेलवे, स्कूल अथवा विश्वविद्यालय व्यापार, कला, समाज, राजनीति और अपराध आदि) का नियमित एव क्रमिक अध्ययन इस विकास के मूल में था। परन्तु आधुनिक उपन्यास का यह विस्तार एवं उसी के अनुरूप विशिष्ट क्षेत्रों में उसका विकास पाठक वर्ग के तदनुरूप विस्तार के बिना सम्भव न होता। इसी पाठक वर्ग के विस्तार एवं उसी के अनुरूप उपन्यास ने सामग्री—"स्वरूप और पाठक तक पहुँचने के ढंगों में परिवर्तन करके अपने को ढाला[1]। उदाहरणार्थ—उपन्यास का प्रभुत्व सम्पन्न स्वरूप (जिसका प्रतिनिधित्व) स्काट के उपन्यास करते हैं बड़े धनिक लोगों की पठनीय सामग्री के रूप में थे क्योंकि वे तीन-तीन भागों में प्रकाशित होते थे और उनमें से प्रत्येक भाग का मूल्य

---

1 "This expansion and specialisation of the novel would have been impossible without a corresponding expansion of the reading public, to which the novel accomodated itself by changes in its material, form, and mode of circulation."
—R. M. LOVETT AND H. S. HUGHES: '*The History of the Novel in England.*'

आधी गिन्नी होता था और वे उन्हीं लोगों के मतलब के होते थे जो उतने अधिक मूल्य को दे सकते थे अथवा 'सरकुलेटिंग लायब्रेरी' का भारी चन्दा दे सकते थे। स्काट के पाठक विशिष्ट कोटि के और शिक्षित लोग थे, यह उसकी सफलता थी कि उसने शीघ्रता से इन पाठकों की संख्या में वृद्धि की। साक्षरता की वृद्धि के साथ पाठकवृन्द की यह विशिष्टता (धनिक वर्ग का एवं संस्कृत-रुचि का होना) नष्ट हो गई और पढ़ने का स्वभाव सभी साधारण-जन का स्वभाव बन गया और फिर उसकी तुष्टि के लिये उसी के अनुरूप आख्यानात्मक साहित्य से भी पठनीय सामग्री की प्रचुर की मात्रा की अपेक्षा होने लगी। अब प्रकाशकों ने भी इस बात का अनुभव किया कि पहले की भाँति भारी-भरकम थोड़े से भागों के स्थान पर थोड़े मूल्य पर (एक शिलिंग प्रति अध्याय की दर से) इन्स्टालमेन्ट में वर्षों एक ही उपन्यास को प्रकाशित कर वह कहीं अधिक धनोपार्जन कर सकते हैं। सर्वप्रिय मासिक पत्रों ने भी इस शृंखला प्रकाशन (सीरियल में छापने की तरकीब) का पूरा लाभ उठाया। इसमें सन्देह नहीं कि इस ढंग से उपन्यास के निर्माण कौशल एवं गठनकौशल पर बुरा प्रभाव पड़ा—उनकी लम्बाई (पृष्ठों की संख्या) बहुत बढ़ गई। लेखक बिना पहले की तैयारी के छपने की तिथि को साधने के लिये यों ही लिखने लगे। इसमें उन्हें उपन्यास के विशिष्ट अंगों पर पाठकों की क्या प्रतिक्रिया होती है यह जानने का अवसर मिलता था और वह तदनुसार अपनी लेखन-विधि में परिवर्तन भी कर लेते थे। इससे उन्हें पत्रकारिता सम्बन्धी सफलता तो प्राप्त हो जाती थी पर उपन्यास के अन्तिम स्वरूप के साधने के लिये हानिकर होती थी। इन सब त्रुटियों के होते हुए भी सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि उपन्यास के पाठकों की संख्या आशातीत ढंग से देशव्यापी हो गई। जो भी व्यक्ति पढ़ने-लिखने वाला था उपन्यास के सम्पर्क में आ गया। थोड़ी आमदनी के लोग भी उपन्यास मोल लेकर पढ़ने में समर्थ हो गये।

पर जब प्रकाशक अपने कर्त्तव्य को न भूल कर केवल धनोपार्जन को अपना लक्ष्य बना लेता है तो वह पाठक और लेखक दोनों को ही नगण्य बना देता है। कुछ लोग सोचते हैं कि पाठकों की संख्या बढ़ने से पुस्तकों का स्तर गिर गया है पर बात वास्तव में दूसरी ही है। कुछ प्रकाशक कतिपय क्षेत्रों में अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और वे पाठकों को वही देते हैं जो वह देना चाहते हैं। इस प्रकार पाठकों को अब उस प्रकार की पुस्तकें नहीं मिलती हैं जैसी वह चाहता है, वरन् उसे उस प्रकार की पुस्तकें पसन्द करनी पड़ती हैं

जैसी कि उसे अर्थार्थी प्रकाशकों से प्राप्त होती हैं।[1]

प्रकाशकों को भी अधिक दोष देना ठीक नहीं है। उन्हें तो एक उपन्यास के पश्चात् दूसरा उपन्यास छापने के लिये चाहिये क्योंकि जब उपन्यास छप जाय तो कैसा भी उपन्यास हो उसको बिकना अवश्य है। अतः प्रकाशक आलोचक भी किराये पर रखते हैं। प्रकाशक के मन की आलोचना लिखने से जिन्हें अधिक अर्थ लाभ होता है, अतः वे पुस्तक कैसी ही हो आलोचना इतनी आकर्षक लिखते हैं कि जिनका पुस्तक पढ़ने का मन न भी हो वे भी उसे पढ़ने का प्रयत्न करें। उनके द्वारा माँग होने पर कम से कम पुस्तकालयों में तो वह पुस्तक मंगाई ही जाती हैं। इस प्रकार पाठकों की संख्या आलोचकों के आकर्षक वक्तव्य से बढ़ती जाती है, और दूसरी ओर पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है। यह चक्र प्रकाशक द्वारा संचालित होता है। अतः अधिकांश लेखक-आलोचक और पाठकों की एक बड़ी संख्या भी प्रकाशक के इशारे पर नाचती हैं। इनमें से तीनों में किसी के भी व्यक्तित्व का कोई मूल्ल नहीं होता। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि उपन्यासों की संख्या कितनी ही बढ़ क्यों न गई हो उनकी 'क्वालिटी' गिर गई है।

उपन्यास का प्रकाशन प्रचुर संख्या में होने का एक अच्छा पहलू भी है। प्राचीनकाल में साहित्य का संरक्षण अच्छे या बुरे उच्चवर्गीय संरक्षकों (अरिस्टोक्रैटिक पैट्रन्स) के हाथ में था। आधुनिक काल में वही साहित्यिक संरक्षण प्रकाशक के हाथ में आगया है जिसे हम पाठकों का पूर्व सूचक एजेन्ट कह सकते हैं। संसार के सभी देशों में 'अरिस्टोक्रेट' कहे जाने वाले वर्ग का ही साहित्यिक संरक्षण नहीं था। धर्म संघ तो आरम्भ से ही और फिर शीघ्र ही नाटकीय संघ भी विशिष्ट प्रकार के साहित्य का संरक्षण करने लगा था। इंगलैण्ड में तो संरक्षण प्रथा का ह्रास १८ वीं शताब्दी के आरम्भ से ही होने लगा था। कुछ समय तक साहित्य का आर्थिक पक्ष बड़ा दुर्बल हो गया क्योंकि सामन्तों और श्रीमनों का साहित्यिक संरक्षण तो हट गया और पाठकों

---

1 Strangely enough, the spate of bad books is not due to the increase in the reading public. It is made possible by the way in which the tastes of that ever growing public are being served by the publishers. The reader no longer gets what he likes, he has to like what he gets from the publishing colossus.

—RALPH FOX : *'The Novel and the People'*—p, 63,

की संख्या बढ़ी नहीं थी। डा० जान्सन का 'ग्रेब स्ट्रीट' से संबंधित जीवन एवं उसका लार्ड चेस्टरफील्ड का साहित्य इतिहास प्रसिद्ध विरोध इन परिवर्तनों का संकेतक है, पर इसके एक पीढ़ी के बाद ही प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि पोप ने केवल होमर की पुस्तकों के अनुवाद के बल पर ही प्रभूत धनराशि उपार्जित की क्योंकि उच्चवर्गीय तथा विश्वविद्यालय से संबंधित लोगों ने लाखों की संख्या में उसकी पुस्तकें क्रय कीं।

पर वास्तविक आर्थिक पुरस्कार मिलने का क्रम केवल १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही समुचित ढंग से स्थापित हुआ। उस समय स्काट और बायरन ने साहित्यिक रुचि एवं जनमत को प्रबल रूप से प्रभावित किया, योरुपीय देशों में वाल्तेयर और गेटे ने लेखक की प्रतिष्ठा एवं स्वतंत्रता दोनों की ही अत्यधिक परिमाण में वृद्धि की, पाठक जनता की संख्या वृद्धि एवं आलोचनात्मक पत्रों (एडिनबरा ऐण्ड क्वार्टरली रिव्यू) ने साहित्य को प्रायः स्वाधीन संस्था का रूप दिया जिसके संबंध में लिखते हुये सन् १८२२ में प्रास्पर डी बैरन्ट ने १८ वीं शताब्दी में स्थापित होने का दावा किया था[1]।

जैसा कि ऐशले थार्नडाइक ने दृढ़तापूर्वक स्थापित किया था, १९ वीं शताब्दी की मुद्रित सामिग्री की सबसे प्रधान विशेषता उसका ग्राम्यत्व अथवा निम्नस्तरीय होना नहीं है, वरन् यों समझना चाहिये कि यह विशेष गुण उसके विशिष्ट जनतोपयोगी अथवा विशिष्ट विषयोपयोगी होना (स्पेशल इनेशन) है। यह मुद्रित सामिग्री एक ही प्रकार की अथवा समान रुचि वाली जनता को सम्बोधित करके नहीं प्रस्तुत की गई....यह अनेक पाठकवर्गों में विभक्त है और परिणामस्वरूप अनेक विषयों-रुचियों एवं उद्देश्यों में विभाजित[2] है। श्रीमती क्यू० डी० लीविस की 'फिक्शन ऐण्ड द रीडिंग पब्लिक' को हम ठीक ही रूप में थार्नडाइक के कथन पर धर्मोपदेश की सी टीका की संज्ञा दे सकते हैं। वह इस बात की ओर स्पष्टरूप से संकेत करती हैं कि १८ वीं शताब्दी का जो कृषक पढ़ना सीख लेता था जो शिष्ट लोगों एवं विश्वविद्यालय के सम्पर्क में

---

1 Prosper de Barente 'De la literature frdnaise pendsntledix-huitiems siecle; 3rd ed., 1822. (The preface is not to be found in the first edition, of 1809. Baruante's theory is brilliantly applied by Harry Levin in' Literature as an Institution', Accent, VI (1946),—pp. 159–68.

2 H. Thorndike Ashby—*'Literature in a Changing Age'* New York, 1921.—p. 36

रहने वाले लोगों के द्वारा पढ़ी जाती थीं, पर दूसरी ओर १६ वीं शताब्दी के पाठकों को जनता पाठक वर्ग विशिष्ट जनता कहना ठीक नहीं, वरन् उन्हें पाठक जनता के वर्गों 'जनताओं' कहना ठीक होगा। हमारे समय की प्रकाशन सूचियों और पत्रिकाओं के रैक्स में तो इन पाठक वर्गों की संख्या कई गुना बढ़ गई है ... ६ से १० वर्ष के बालकों के लिये पृथक कोटि की 'बालकोपयोगी' पुस्तकें हैं, हाई-स्कूल की अवस्था वाले विद्यार्थियों के लिये अलग पुस्तकें हैं, 'एकाकी जीवन' व्यतीत करने वाले लोगों के लिए दूसरे ढंग की पुस्तकें लिखी जाती हैं, इनके अतिरिक्त व्यापारिक मुख-पत्र, पारिवारिक एवं घरेलू जीवन-सम्बन्धी साहित्य-रविवासर पाठशालाओं के साप्ताहिक, पाश्चात्य ढंग की रचनाएँ सच्ची कहानी से पूर्ण घटनापूर्ण कथाएँ भी हैं। प्रकाशक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ और लेखक सभी विशिष्ट प्रकार के साहित्य-सृजन (स्पेशलाईजेशन) का उद्देश्य रख कर रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं।[1]

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी इसी तथ्य की उद्धरणी है। प्रारम्भ में विद्वत समाज का रूढ़ अर्थ होता था—धर्म पंडितों एवं साहित्य-शास्त्रियों से। साहित्य का सेवन सामन्तों के विद्याविलास एवं साहित्य-रसिकों के काव्यानुशीलन तक ही सीमित था। रीतिकालीन युग तक की यही प्राचीन परम्परा थी। कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का अध्ययन इस साहित्य सेवन की भूमिका होती थी और कतिपय चुने हुए लेखकों की रचनाएँ एक विशिष्ट वर्ग के पाठकों को आस्वाद्य सामग्री होती थी। परन्तु अंग्रेजों के भारत में जम कर रह जाने के बाद और ईसाइयों के धर्म प्रचार के हेतु छापा-खाने खोलने और धर्म-पुस्तकों के बिना मूल्य वितरित करने की प्रणाली ने पाठकों की संख्या में वृद्धि की। आरम्भ में यहाँ भी साहित्य-सेवा व्यसन के रूप में थी। उसका कोई आर्थिक आधार न था, वरन् यहाँ सरस्वती एवं लक्ष्मी के परम्परागत वैर की मान्यता से साहित्य-सेवन एवं दरिद्रता का आवाहन एकार्थी समझा जाता था। विरले सरस्वती के वरद पुत्र राज्याश्रय से साहित्य सेवा के उपलक्ष में पुरस्कृत होते थे पर इससे उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती थी। स्वाभाविक स्वच्छन्दता का सीमोल्लंघन करने पर हाथी के पाँव के नीचे कुचली जाती थी। समाचार पत्रों, मासिक पत्रों एवं अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार ने तथा सरकार द्वारा स्थापित कालेज एवं स्कूल के विद्यार्थियों के रूप में पाठकों की संख्या बढ़ी। उसके साथ ही साथ १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य

1 Q. D. Leavis : '*Fiction and the Reading Public.*' London, 1932.

ढंग की कहानी और उपन्यास की अवतारणा होने से नये पाठक वर्ग की सृष्टि हुई जो केवल विशिष्ट प्रकार के उपन्यास ही पढ़ता था। मासिक पत्रों के लेखों के कारण एवं उपन्यासों की अधिक संख्या में बिक्री के कारण लेखक का आर्थिक आधार पहले से अधिक दूर हो गया। सरकार का ध्यान शिक्षा प्रसार की ओर होने से तथा ग्राम सुधार की योजना में सरकारी श्रम केन्द्र तथा ग्राम्य पुस्तकालयों की स्थापना से पाठकों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई। अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर विभिन्न विषयों एवं विभिन्न वर्गों के उपयुक्त विशिष्ट साहित्य के उत्पादन की योजनायें भी कार्यान्वित हुईं। देश के स्वतन्त्र हो जाने से इस शिक्षा प्रचार एवं साहित्य के प्रसार में सरकार के सहयोग से और अधिक सहायता मिली है। पाठकों की संख्या-वृद्धि के साथ-साथ लेखक के पारिश्रमिक की भी वृद्धि हुई और भारतीय भाषाओं में चोटी के लेखकों की आय आशातीत ढंग से बढ़ गई। हिन्दी में प्रथम बार साहित्य के इतिहास में औद्योगिक प्रणाली के द्वारा एक लेखक की कृतियों से लाखों रुपयों की आमदनी सम्भव हो सकी है। इस प्रकार साहित्य के आर्थिक आधार का एवं लेखक की सामाजिक स्थिति का अध्ययन अविच्छिन्न रूप से पाठक वृन्द के साथ जुड़ा है।[1] उच्चवर्गीय व्यक्ति भी सुनने वालों की कोटि में आ जाते हैं और यह बड़ी कड़ाई से लेखक से काम लेने वाला वर्ग है। यह केवल आत्म प्रशंसा की कहानियाँ ही नहीं चाहते, वरन् अपने वर्ग की परम्पराओं को भी अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। इससे और पहले के सामाजिक जीवन में, उस समुदाय में जहाँ लोक-साहित्य का बोलबाला है लेखक और अधिक व्यापक ढंग से पाठक वर्ग पर आश्रित है। उसकी रचनाएँ यदि प्रकाशित होते ही पाठकों को आकर्षित नहीं कर लेती तो उसके व्यवहार का विस्तार पाठकवर्ग के मध्य में नहीं होता है। नाटक के रंगमंच के सम्वन्ध में दर्शकों का स्थान बिल्कुल ठीक इसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है। लोगों ने शैली के उन परिवर्तनों की शोध लगाने का प्रयत्न किया है जो कि शेक्सपियर के जीवन के विविध समयों

---

1 "Thus a study of the economic basis of literature and of the social status of the writer is inextricably bound up with a study of the audience he addresses and upon which he is dependent finencially"

—Austen Warren & Rene Wellek : '*Theory of Literature*' —p. 95.

में युगानुकूल परिवर्तन के फलस्वरूप---'साउथ बैन्क' में स्थित 'ओपेन एअर ग्लोब' (जिसमें स्त्री-पुरुष एक साथ बैठते थे) ऐसे नाटकीय केन्द्र से हट कर 'ब्लेक फ्लायर्स' (जो चारों ओर से बन्द था और जहाँ केवल उच्च-वर्गीय दर्शक वृन्द होते थे) जाने के कारण हुए थे। आरम्भ में तो लेखक और पाठक का परस्पर सम्बन्ध निश्चित करना सरल होता है पर आगे चल कर यही काम उस समय बड़ा कठिन हो जाता है जब पाठक वर्ग का शीघ्रता से संख्या विस्तार होता है, वह बहुत स्थानों में फैल जाता है और उसमें विविध प्रकार के तत्वों का समावेश हो जाता है तथा जब पाठक जनता एवं लेखक के बीच का सम्बन्ध सीधा न रह कर और अधिक गौण तथा घुमावदार हो जाता है[1]। पाठक-जनता एवं लेखकों के बीच में होने वाले मध्यस्थों की संख्या बढ़ जाती है। हम कुछ इस प्रकार की संस्थाओं और संघों के कार्यों का भी अध्ययन कर सकते हैं। जैसे सैलों, काफे, क्लब, एकादमी और विश्वविद्यालय। हम आलोचना करने वाले पत्रों और मासिक पत्रिकाओं और प्रकाशन मन्दिरों के इतिहास का क्रमिक अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन में आलोचक को एक महत्वपूर्ण मध्यस्थ के रूप में लेना पड़ता है, साहित्य-पारखियों का समुदाय पुस्तक प्रेमी और संग्रह में रुचि रखने वाले लोग कुछ निश्चित प्रकार के साहित्य को बढ़ावा दे सकते हैं, और साहित्यिक जनों के संघ स्वयं वर्तमान लेखकों अथवा भावी लेखकों की पाठक जनता की सृष्टि कर सकते हैं। अमेरिका में विशेष रूप से वे स्त्रियाँ जो वेलवेन के मतानुसार श्रान्त व्यवसायियों के लिए स्थानापन्न अवकाश एवं कलोपभोग की व्यवस्था करती हैं। साहित्यिक रुचि को निश्चित करने वाली कर्मठ शक्ति बन गई हैं।[2]

साहित्य का कौनसा माध्यम सबसे अधिक शक्तिशाली तथा व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने वाला है, इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्रियों से भिन्न मत हैं। पर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम दशक के अनन्तर उपन्यास

---

1 AUSTEN WARREN & RENE WELLECK : *Theory of Literature*: —p. 95.

2 "In America especially, women, who, according to Veblen provide vicarious leisure and consumption of the arts for the tired businessman, have become active daterminants of literary taste."

Ibid ..pp. 95-96.

की महत्ता सर्वमान्यरूप से प्रतिष्ठित हो चुकी है। आज से एक पीढ़ी पहले तक उपन्यास का पढ़ना विद्याविलासी एवं अवकाश-बहुत धनिक वर्ग में विलास के बहुत से साधनों में से एक था ; हल्के उपन्यासों का पढ़ना अर्द्ध-शिक्षित, अल्प-शिक्षित एवं साक्षर पर असंस्कृत रुचि वाले धनिक वर्ग में अधिक प्रचलित भी था क्योंकि इस शौक को पूरा करने के लिये उनके पास प्रचुर समय तथा साधन दोनों ही थे। यदि हिन्दी साहित्य के प्रसंग में हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश के सामाजिक इतिहास का थोड़ा अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि जिस युग के उपन्यास पाठकों की हमने ऊपर चर्चा की है, उस युग में उपन्यासों का पढ़ना अल्पवस्कों, युवकों, तथा अर्द्ध-युवकों के लिये प्रायः वर्जित था। उपन्यास पढ़ने का अधिकार अधिकतर अधेड़ अवस्था के लोगों को ही था ; क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का मानसिक स्तर प्रौढ़ तथा परिष्कृत हो चुकता है। युवकों, अर्द्ध-युवकों एवं अल्पवयस्क लोगों को उपन्यास पढ़ने से इसलिये वर्जित किया जाता था कि उपन्यासों में अंकित जीवन का सर्वतोमुखी तथा यथातथ्य चित्रण कहीं उनके अपरिपक्व मन पर बुरा प्रभाव न डाले।[1]

पर धीरे-धीरे विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न साहित्यिकों की औपन्यासिक रचनाओं के कारण उपन्यास-साहित्य के हल्केपन का दोष आंशिक रूप से दूर हुआ और उपन्यास अपने समय के सामाजिक जीवन का गतिशील दर्पण होने के कारण गम्भीर-वृत्ति के लोगों की अध्ययन सामग्री में सम्मिलित हुआ। हिन्दी के साप्ताहिकों एवं मासिक पत्रों में धारावाहिक रूप से उपन्यासों में प्रकाशित होने के कारण साधारण पाठकों की संख्या उपन्यास पाठकों की संख्या में परिवर्तित हो गई और सुलभ पुस्तकमालायों के प्रकाशन तथा उपन्यासकारों की साहित्यिक-महत्ता की प्रतिष्ठा हो जाने के कारण मासिक पत्रों में उनके सम्बन्ध में विशिष्ट चर्चा होने के कारण गंभीर साहित्य के पाठकों का ध्यान भी उपन्यास की ओर आकर्षित हुआ। इसके साथ ही साथ हिन्दी में तो अंग्रेजी और बंगला के उपन्यासों के मूल तथा अनूदित रूपों के पठन-पाठन प्रान्तीय भाषाओं के उपन्यासों से परिचय बढ़ने तथा प्रारम्भ में ही प्रेमचन्द के उदय होने से एक बारगी ही उपन्यास के पाठकों की संख्या-वृद्धि भी हुई और उनका प्रशंसात्मक स्तर भी ऊँचा उठा। निम्नकक्षाओं के गद्य-संग्रहों तथा विश्वविद्यालय की साहित्य-सम्बन्धी उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में उपन्यास साहित्य के अभिनिवेश से

---

१ अलोचना 'उपन्यास अंक' 'उपन्यास के दायित्व'—पृ० ४६

विद्यार्थी तथा अध्यापकवर्ग के रूप में आलोचक वर्ग को साथ लेते हुए हिन्दी उपन्यास के पाठकों की संख्या निम्न मध्य श्रेणी के शिक्षित वर्ग में विशेषरूप से बढ़ी। साहित्य-गोष्ठियों का आयोजन करने वाली विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं काफे और रेस्ट्रां तथा विश्वविद्यालयों की हिन्दी परिषदों ने उपन्यास के सुसंस्कृत पाठकों की संख्या में वृद्धि की। आधुनिक युग में कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों पर चलचित्रों के बनने से भी मूल उपन्यासों के पढ़ने की ओर निरक्षर लोगों की भी प्रवृत्ति हो जाती है। अंग्रेजी ('डेविड कापरफील्ड' 'ग्रेट एक्सपेक्टेशन' 'प्राइड एण्ड प्रिजुडिस', 'गोन विथ दि विन्ड', फार हुमदि बेल टोल्स', फेयरवेल टु आर्म्स) फ्रेन्च ('ले मिजरेबुल', 'काउन्ट आफ मान्टेक्रिस्टो'....)' रूसी ('वार ऐण्ड पीस', 'एना केरेनिना', क्राइम ऐण्ड पनिशमेन्ट', ब्रदर्स-कारमोज़ाव' ....। आदि यूरोपीय भाषाओं में तो अनेक प्रसिद्ध उपन्यासों के सवाक् चलचित्र बन चुके हैं। हिन्दी में भी अंग्रेजी और बंगला ('देवदास, श्रीकान्त, 'पाथेर-पांचाली'....) और गुजराती (पृथ्वी वल्लभ, 'वैरनी वसूलात....') उपन्यासों पर आधारित चलचत्रों की भाँति 'देवदास', 'सेवासदन', 'चित्रलेखा' झांसी की रानी' प्रभृति उपन्यासों पर आधारित चित्र बन चुके हैं। और नये चित्र (यथा 'मृगनयनी' पर आधारित चित्र निर्माण की क्रिया में हैं) बन रहे हैं। उपन्यास के आरम्भकाल में निरक्षर व्यक्तियों द्वारा भी बड़ी संख्या में पढ़े जाने का श्रेय केवल देवकीनन्दन जी खत्री की 'चन्द्रकान्ता' को है। पर आज अनेक उपन्यासों का परिचय बिना पढ़े-लिखे लोगों को भी चल-चित्र के माध्यम से प्राप्त होता रहता है।

उपन्यास के पाठक का महत्व

इस प्रकार हमने देखा कि समय की गति के अनुसार उपन्यास के पाठक का महत्व भी बढता जाता है। भावी संसार में हम समाज को चाहे जो नाम दें पर उसमें एक प्रकार का जीवन (रेजोमेन्टेडलाइव्ज़) होने की अधिक सम्भावना बढ़ती जा रही है। हमारा युग आँकड़ों, औसत और नफरियों का युग है। पहले का आर्थिक मनुष्य आज का आँकड़ों का संकेतक मानव बन गया है। हमारा अस्तित्व परिचय-पत्र (आइडैन्टिटी कार्डस) की संख्या का सा है—एक निश्चित परिमाण में पोषक पदार्थों का उपभोक्ता मात्र ज़ो वर्ष भर में कुछ सहस्र नफरियों का कार्य करने वाले समुदाय की इकाई है। शासकों की दृष्टि में हमारा कोई विशिष्ट मानव स्वरूप न होकर हम सब एक से लोगों की बड़ी संख्या हैं, उनकी दृष्टि में हमें आइसोटाइप उदाहरण के नन्हें-नन्हें लोगों

के समान हैं।[1] मानो हमारे सभी कार्य ग्राफ बनाने की सामग्री प्रस्तुत करने वाले होते हैं। कदाचित आधुनिक उत्पादन के ढंगों तथा मनुष्यों की बड़ी संख्या के शासन तथा वृहत् समाज के लिए एक साथ नियमों की रचना करने का आवश्यक परिणाम है।

हम दूर से किस प्रकार के लगते हैं इसका अनुमान हम विज्ञापनों और चित्रों को देख कर कर सकते हैं। उनमें हमारे व्यक्तित्व की परिधि अत्यन्त संकुचित कर दी गई है। यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय की दो प्रमुख विचारधाराओं की प्रतिनिधि शक्तियों के रूप में यह बात सोवियत संघ तथा संयुक्त राष्ट्र दोनों के ही विषय में सच है कि इन दोनों देशों में सर्वोत्तम नागरिक वहा है जो अपने को अपने आस-पास की परिस्थितियों के मेल में रखना सबसे अच्छी तरह से जानता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आज के युग में उपर्युक्त दोनों देशों में आदर्श-नागरिक वही है जो बिना किसी प्रकार 'ननुनच' किये हुए प्रचलित प्रणाली की माँगों के अनुसार अपने को ढाल लेता है। यथा····'रूस में राज्य' (स्टेट) के अनुरूप बनकर रहता है और अमेरिका में महान् उत्पादन और विक्रय के अभियान में सहायक सिद्ध होता है।

पर वास्तव में जैसा ऊपर बताया गया है यह सब मानव का वाह्य रूप है और अन्य सभी युगों से अधिक इस समय इस बात को बल देकर कहने की आवश्यकता है कि मानव केवल सामाजिक प्राणी अथवा आँकड़ों का संकलन मात्र नहीं है। वह व्यक्ति है, मनुष्य है, उसके आत्मा है जिसका उसे कल्याण करना है और उसका व्यक्तिगत एकान्त जीवन है—वह ऐसा मनुष्य है जो अपने लिये सभी संभव सामाजिक सेवाओं के उपलब्ध होने के पश्चात भी अपने को निरावृत्त एवं एकाकी पाता है। यह सत्य प्रायः राजनीतिज्ञों के आँकड़े प्रस्तुत करने वाले अर्थ-शास्त्रियों, उपभोक्ता सामग्री के उत्पादकों और उन लोगों की दृष्टि से भी जो इसका विज्ञापन करते हैं, ओझल रहता है। वे सब इस तथ्य को विस्मृत कर देते हैं, क्योंकि इसको ध्यान में रखने से उनको और उनके अभीष्ट लक्ष्य को असुविधा होती है। इसीलिये इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि उन्हें निरन्तर इस बात का स्मरण दिलाया जाता रहे।

इन्हीं उपर्युक्त कारणों से काल्पनिक साहित्य की सर्वाधिक प्रभाव वाली विधा के रूप में उपन्यास का कार्य इतना महत्व पूर्ण है। राज्य राजनीतिक

---

१ वाल्टर ऐलेन—'रीडिङ्ग ए नावेल'—पृ० २३–२४

पार्टी अथवा दार्शनिक सिद्धान्त और विज्ञापन देने वाले ऐजेन्ट सभी जीवित मनुष्य को निर्जीव भावात्मक रूप दे देते हैं, वे मानव के ऊपर से बना कर आरोपित किये हुए रूप के एक अंश को सम्पूर्ण मनुष्य कह कर पुकारते हैं। पर उनकी बना कर कही गई बात का भंडाफोड़ उपन्यास के द्वारा हो चुका है या होना चाहिये क्योंकि उपन्यास एकाकी मानव के स्वयं अपने साथ की एकाकारिता होने के परिणाम-स्वरूप होते हैं। उपन्यासकार आग्रहपूर्वक बिना किसी प्रकार का दयाभाव दिखाये जीवन की सभी समस्याओं को अस्तित्व के सभी तथ्यों को एक कसौटी पर कसता है। किस प्रकार व्यक्ति को मनुष्य को समाज की इकाई के रूप नहीं, उत्पादक अथवा उपभोक्ता के रूप में नहीं, मशीन के छोटे से पुर्जे के रूप में नहीं, वरन् मनुष्य के ही रूप में प्रभावित करते हैं, वह प्रत्येक वस्तु को व्यक्तिगत भावनात्मक अनुभव की कसौटी के स्तर पर लौटा लाता है।

वस्तुतः उपन्यास मनुष्य के रूढ़ एवं व्यक्तित्व र्वाजित विचारों एवं उसके तदनुकूल कर्तव्यों के विरुद्ध एक प्रकार का अवरोधक आन्दोलन है और उपन्यासकार अनिवार्यरूप से मानव सहानुभूति के स्रोत को अवरुद्ध करने वाली शक्तियों के विरुद्ध मानव-हृदय के पक्ष में प्रतिवाद करने वाला बड़ा 'एडवोकेट' है।

यह एक बड़ा काम आज के युग में उपन्यास पर आ पड़ा है और वह सदैव मानव सहानुभूति के बढ़ाने के कार्य में लगा रहता है। इन कार्य में अपने को किसी दूसरे के स्थान पर रख कर दूसरे व्यक्ति को काल्पनिक माध्यम से समझने का व्यापार अपेक्षित रहता है।

पाठक की मनोवृत्ति का उपर्युक्त विवेचनात्मक की एक और गहरी अनुभूति वाली कोटि का अस्तित्व हमारे सामने लाता है।

संक्षेप में हमने देखा कि जिस प्रकार दर्शकवृन्द का महत्व नाटक की परम्परा में है उसी प्रकार वृन्द का महत्व उपन्यास की परंपरा में है। दर्शकों का सन्तोष और मनोरंजन नाटक का लक्ष्य रहा है। पाठकों की तृप्ति एवं आह्लाद उपन्यास का उद्देश्य है। नाटकों के विकास में, उसके परिवर्द्धन में दर्शकों की वृत्ति का विशेष स्थान रहा है उसी प्रकार उपन्यास के निर्माता और प्रकाशक भी पाठकों की वृत्ति का अनुसरण करते रहे हैं। यही कारण है कि अच्छे चित्रों (फिल्म्स) की भाँति अच्छे उपन्यासों की संख्या भी अल्प है। उपन्यास साहित्य का अत्यन्त चित्ताकर्षक माध्यम है। मन की निम्नगावृत्ति को आकर्षित करना सरल होता है। बस साधारण रूप मे सस्ते और हल्के उपन्यासों में साधारण

पाठक के मनोविनोद की सामग्री रहती है। इस प्रकार के उपन्यास पाठकों की गणना 'आँख के अन्धे और गांठ के पूरे लोगों' में होती है। अतः जिस किसी भी ढंग से आर्थिक लाभ के प्रत्याशी प्रकाशकों को प्रोत्साहन इन्हीं लोगों की रुचि से मिलता है।

पढ़ने के साधन दुर्लभ या सुलभ होने से भी पाठकों की संख्या घटती-बढ़ती है। 'सरकुलेटिंग लायब्रेरी', 'चलता-फिरता पुस्तकालय', केन्द्रीय-पुस्तकालय', 'स्थानीय पुस्तकालय'-'विद्यालय का पुस्तकालय'- वर्गीय पुस्तकालय'-'सहयोगी'-संस्था, अथवा श्रम-केन्द्र का पुस्तकालय', 'विषय विशेष का पुस्तकालय', शोध-मन्दिर का पुस्तकालय'—आदि सब पाठकों की संख्या बढ़ाते हैं और पाठकों की संख्या बढ़ने, उपन्यासों के अधिक संख्या में बिकने से लेखकों का उत्साह बढ़ता है और प्रकाशक पुस्तक का कलेवर सजाने में रुचि लेते हैं। इस प्रकार पुस्तकों के मूल्य में भी कमी हो सकती है। क्योंकि जितनी ही अधिक पुस्तकें छपेंगी उतना ही व्यय अपेक्षाकृत कम होगा।

विचारों के प्रचार के रूप में पाठक कभी-कभी शास्त्रीय विवेचनाओं को को न पढ़ कर उपन्यास पढ़ता है। ड्यूक आव मालंबरो ने इंगलैण्ड के महान् राजाओं के इतिहास को शेक्सपियर के नाटकों को पढ़कर जाना था। जब पाठक को स्पृहा उपन्यास के माध्यम के ज्ञान-संवर्द्धन की हो जाती है तो उपन्यास के वर्ण्य-विषय की संख्या और सीमा का विस्तार भी बढ़ जाता है और उपन्यास जनरुचि के परिष्कार की पाठशाला बन जाती है। रूस की पंचवर्षीय योजनाओं को सर्वप्रिय बनाने में वहाँ के लेखक (विशेषतः औपन्यासिक) वर्ग ने बड़ा काम किया था। भारत के नव-निर्माण कार्य में भारतीय भाषाओं के उपन्यासों का अनुदान उससे कम महत्वपूर्ण न होगा।

जन-तन्त्र तथा उपन्यास का बड़ा घनिष्ट संबंध है। जनतंत्र की भावना को उत्पन्न करने उसे आगे बढ़ाने में उपन्यासों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक होता है। साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जनतन्त्र अथवा जनतंत्र तक पहुँचने की तीव्र भावना उपन्यासों के सृजन में सहायक होती है। जनतन्त्र का आयोजन इसलिये किया जाता है कि व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सके तथा विभिन्न मूल्यों को मान्यता देने वाले मनुष्य अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ सकें और इस पर भी समाज की उन्नति में वे अधिक सहायता दे सकें। उपन्यास हमें बहुमुखी दृष्टि अधिकाधिक सहानुभूति सहिष्णुता तथा व्यक्तिगत तथा दायित्व की भावना देकर-इस कार्य में हमारा हाथ बटाता है। इस प्रकार जन-

तन्त्र और उपन्यास सदैव एक दूसरे को प्रश्रय देते हैं। उपन्यास का प्रबुद्ध पाठक 'वर्ग व्यक्ति के पुनरान्वेषण' में व्यस्त होता है। व्यक्ति की महत्ता नैतिक दायित्वों का निर्वाह करने की क्षमता तथा स्वयं अपने और अपने राष्ट्र के भविष्य को प्रवाहित करने की शक्ति पर वे सामूहिक रूप से विशेष बल देते हैं। आज का सुलझा हुआ पाठक तथा आलोचक दोनों ही उपन्यास की प्रभविष्णुता तथा महत्ता का भली-भाँति अनुभव कर रहे हैं।

उपन्यास की महत्ता अनुभव करने के साथ-साथ आज के उपन्यास के पाठक को अपने नये दायित्व के रूप में एक और सहायक कर्त्तव्य को ध्यान में रखना है कि वे उपन्यासों के आलोचक में जीवन को हृदयंगम करने की चेष्टा अवश्य करें, किन्तु उपन्यासों द्वारा चित्रित जीवन को सत्य की चरम स्थिति न समझें। उन्हें उन उपन्यासों में वर्णित जीवन को एक सामाजिक प्रयोग का महत्व देना है। इस संबंध में उन्हें एक सावधानी भी बरतनी है कि वे प्रवृत्तियों को सिद्धान्त न समझें।

उपन्यास के पाठक को जिज्ञासु बनना चाहिये। उसे उपन्यासों के अध्ययन में जातिगत, विश्वासगत तथा भाषागत पूर्वाग्रहों (कतिपय दुराग्रहों) से अपने को मुक्त रखना चाहिये। कुछ पाठक अपने प्रिय विषय संबंधित उपन्यासों को ही सब से उत्तम उपन्यास समझते हैं, ऐसे पाठक अपने विषय के कितने ही बड़े पंडित क्यों न हों वे उपन्यास के अच्छे पाठक नहीं बन सकते। हिन्दी उपन्यासों के पाठकों के संबंध में यह बात विशेषरूप से लागू होती है। अस्तु, उसे व्यक्तिगत विश्वास से ऊपर उठ कर अपने नैतिक पूर्वाग्रहों को भूल कर पूरी सहृदय के साथ विभिन्न प्रान्तीय एवं विदेशी भाषाओं के श्रेष्ठ उपन्यासों को मौलिक अथवा अनूदित रूप में अध्ययन करना चाहिये। यदि पाठक ऐसा नहीं करता तो उसका दृष्टिकोण-पूर्वाग्रह बाधित हो जाता है और जिस ओर राष्ट्रीयता अथवा विचार साम्यता के कारण उसका रुझान होता है। उसी औपन्यासिक कृति को वह अच्छा समझता है तथा उसकी तुलना में अन्य सब कारणों से निश्चित रूप से अधिक अच्छी कृति की ओर पक्षपात पूर्ण दृष्टि निक्षेप कर उसे उसका वास्तविक सम्मान नहीं देता[1]। एक आदर्श पाठक को इस पक्षपात से सदैव दूर रहना चाहिये।

---

1. The nationality of a reader lends to certain works an interest that inclines him to attribute a greater excellence to them than would generally be admitted".
—W. SOMERSET MAUGHAM : *Ten Novels and their Authors*—p. 1

एक अच्छे पाठक में इसके अतिरिक्त कुछ और गुणों की भी अपेक्षा होती है। कभी-कभी बुद्धिमानीपूर्ण ढंग से उपन्यासों के बहुत-से पृष्ठों का अथवा एक पृष्ठ पर की अधिकांश मुद्रित सामग्री को छोड़ते हुए पढ़ना पड़ता है। 'वैशाली की नगर वधू' के बुद्धिमान पाठक इस गुण के उपयोग के लाभ को विशेष रूप समझ सकते हैं। जिसमें जरा भी समझ है वह उपन्यास को दूसरे के द्वारा दिया हुआ दिमागी काम समझ कर नहीं पढ़ता। वह तो उस का उपयोग मन बहलाने के साधन के रूप में करता है। वह उस उपन्यास की दुनियाँ में कुछ समय के लिए रम जाता है [2]। फिर आगे बढ़ता है पर जो उपन्यास का सार भाग है— जहाँ उसकी रुचि केन्द्रित है और वह उन स्थलों को "उसी तत्परता से पाता चलता है जैसे एक शिकारी कुत्ता केवल सूंघ-सूंघ कर लोमड़ी का पीछा करता है। कभी-कभी लेखक की त्रुटि के कारण वह भटक जाता है। तब फिर वह इधर-उधर चक्कर उस समय तक काटता है जब तक उसे अपना गन्तव्य मार्ग फिर नहीं मिल जाता और तब फिर वह छलांग भरता है।

छलांग तो हर एक मारता है पर बिना आवश्यक एव वांछित अंश छोड़े हुए छलाँग मारना सरल नहीं है। इसे हम प्रकृतिदत्त गुण कह सकते हैं अर्थात् इसे अभ्यास से ही प्राप्त की जाने वाली कोई विशेषता समझ सकते हैं। डा० जान्सन पढ़ने में भीषण रूप से छलांग मारने के लिये प्रसिद्ध था। बासवेल के अनुसार यह उसका विशिष्ट गुण था। वह लिखता है कि पुस्तक को साद्यान्त पढ़े बिना ही जान्सन पुस्तक के सभी आवश्यक तत्व हृदयंगम कर लेते थे। साधारणतः इस तरह का पढ़ना कुछ अच्छा ढंग नहीं होता और अच्छे उपन्यासों का शब्द-शब्द पढ़ना आवश्यक होता है, पर किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों के संबंध में इस ढंग को अपनाना ही पड़ता है। साधारणरूप से पाठक को धैर्यवान् होना आवश्यक है जिससे वह ३००-४०० पृष्ठ एकसाथ पढ़ सके। पाठक के इतने अध्यवसाय की अपेक्षा तो लेखक करता ही है। वह पाठक से इस बात की भी अपेक्षा करता है कि उसकी कल्पना की मात्रा इतनी तो होनी ही चाहिए जिससे वह लेखक के द्वारा आविष्कृत चरित्रों के जीवन, दुख और सुख, भय और साहसपूर्ण कृत्यों में रुचि ले सके।

---

2 "The wise reader will get the greatest enjoyment if he learns the useful art of skipping. A sensible person does not read a novel as a task. He reads it as a diversion." —*ibid*—p. 2.

पाठक के नये दायित्व की चर्चा करते हुए यह बताया जा चुका है कि उपन्यासों के जंगल के बीच में होकर अपना मार्ग निकालने के लिये पाठक को अधकचरे आलोचकों की सम्मति तथा पथ-प्रदर्शन पर निर्भर नहीं रहना है। इस मार्ग-शोधन तथा उसके बीच में रमने के स्थलों की खोज उसी (पाठक) को करनी है। प्रत्येक उपन्यास का पठन मनोरंजन के लिए होता है और यदि वह हमारा मनोरंजन नहीं करता तो जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है उस उपन्यास का कोई मूल्य नहीं है। इस दृष्टि से प्रत्येक पाठक को अपने लिये आलोचक का काम भी करना है। हमी अपने लिए अच्छे से अच्छे उपन्यास की खोज कर सकते हैं। क्योंकि हमीं अपने को अपनी रुचि को, और अपनी आवश्यकता को सब से बढ़ कर जानते हैं। सावधानी से समझने से पाठक को पता चलता है कि वास्तव में 'प्रिवेन्शन इज बेटर दैन क्योर' के सिद्धान्तानुसार उपन्यास में मनुष्य की भूलों का निराकरण होता है। उपन्यास इस प्रकार उसे मानसिक भूलों एवं रोगों के लिये 'हाइजीन' के ज्ञान की समता करता हुआ लगेगा। उपन्यास का अध्ययन दूसरों की बुद्धिमत्ता को पाठक की बुद्धिमत्ता बना देता है। इस प्रकार प्रत्येक उपन्यास के अध्ययन के पश्चात् पाठक को, अपनी बुद्धिमत्ता बढ़ती हुई लगेगी। पर साथ ही यह भी सत्य है कि केवल उपन्यास पढ़ने से न तो मानसिक रोगों एवं भूलों का प्रतिकार ही होता है और न पाठक की बुद्धिमत्ता ही बढ़ती है। उपन्यास में बुद्धिमत्ता के अनुभव का बीज इसी प्रकार छिपा रहता है जैसे भुस में दाना। पाठक को यह सतर्कता बरतनी होती है कि वह गाय-बैल की तरह उस भुस ही को अपना चारा न बनाए, वरन् शोधक की भाँति भस्म बनाने की प्रक्रिया के साधन की सहायता से जीवन के अनुभव एकत्रित करे।

इसके सम्यक् अनुशीलन से एक बात का और पता लगता है। जिस प्रकार उपन्यास में पाठक जीवन पढ़ता है उसी प्रकार वास्तविक जीवन में पाठक सच्चा उपन्यास पढ़ सकता है। इस सच्चे उपन्यास के पात्र अपनी वाह्य आकृति, ऊपरी चेष्टाओं, कृतियों एवं प्रकट प्रभाव वाली भावनाओं के द्वारा अपने अन्तर तक का परिचय देते हैं जिनमें पैठना स्वयं लेखक की भावनाओं की तीव्रता पर निर्भर रहता है।

पाठक और आलोचना

प्रारम्भ में विषय को समझने की सुविधा के लिये विनम्रता से पढ़ने और आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने के दो भेद बना लिये गये थे। पर वास्तव में इन

भेदों को होना नहीं चाहिये। जो पाठक केवल विनम्रता से ही पढ़ना जानता है, वह अपने सामने पड़ने वाली प्रत्येक साहित्यिक कृति को बिना किसी भेद-भाव के अपने उपभोग की सामग्री बनाता रहेगा। पुस्तक पढ़ना एक प्रकार का अनुभव है, पर कुछ अनुभव अन्य अनुभवों से अधिक मूल्यवान् होते हैं। अस्तु, जब पढ़ना समाप्त हो जाय तो जो कुछ पढ़ लिया गया है उसका मूल्य-निर्धारण अवश्य हो जाना चाहिये। किसी भी उपन्यास का सन्तुलित मूल्यांकन करने के लिये पहले के और अब के अन्य उपन्यासों का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है।

यह कार्य केवल एक ही समय के उपन्यासों के पढ़ने से सम्भव नहीं हो सकता है। सभी प्रकार की आलोचना का आधार तुलना होती है। इस तुलनात्मक ज्ञान की सिद्धि एक प्रकार से लिखे हुए उत्तमोत्तम ग्रन्थों के परस्पर सम्बन्धित आलोचनात्मक अध्ययन के द्वारा ही सम्भव होती है। इसलिये हमें पहले के अच्छे उपन्यासों और आज के अच्छे उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन एक साथ करना चाहिये[1]।

उपन्यासकार का भी उसकी कला के प्रति कुछ दायित्व होता है। उसे उपन्यास की परम्परा के प्रति और उपन्यास के भविष्य के प्रति विशेष सजग रहना पड़ता है। इनमें से प्रथम का अभिप्राय होता है—जीवन के अनुभव के प्रति ईमानदार होना। जार्ज इलियट के मतानुसार इस बात को स्मरण रखना कि उपन्यासकार को अपने मस्तिष्क पर पड़े हुए मनुष्यों एवं वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को उसी सच्चाई के साथ कहना है मानो वह साक्षी के रूप में ईश्वर की शपथ लेकर सब कुछ कह रहा है। हम इसे उपन्यासकार की ईमानदारी कह सकते हैं और यह पाठक का काम है कि वह देखता रहे कि उपन्यासकार अपनी ईमानदारी को स्थिर किये हैं और ऐसा वह तभी कर सकता है जब वह सभी ईमानदारी पर स्थिर न रहने वाले उपन्यासकारों को अपने से दूर रक्खे।

---

1 "One cannot have one standard of judgment for the work of the past and another for the work of the present. The bais of all criticism is comparison, comparison with the best achievements in the particular medium being criticized. And this is one reason why the reader should mingle his reading of modern fiction as much as possible with a reading of the classic novels, for ultimately they are the tests with which contemporary work must be judged."

—Walter Allen : '*Reading a Novel*'---pp. 34–5

इस सम्बन्ध में पाठक का कर्त्तव्य उपन्यासकार के कर्त्तव्य से कुछ घट कर नहीं होता, क्योंकि उसी (पाठक) के प्रोत्साहन एवं ईमानदारी से किये गए प्रयत्न के प्रति सहानुभूति के द्वारा ही उपन्यासकार उसको ऐसे वयस्क मनुष्य के रूप में स्वीकार कर सकता है जो कि निरपेक्ष ढंग से सत्य के प्रतिपादन में रुचि लेता है और ऐसा पाठक ही इस प्रकार के मानसिक वातावरण की सृष्टि कर सकता है जो ईमानदारी से लिखे जाने वाले उपन्यासों को समय के प्रवाह के विरुद्ध किसी एकाकी की सबसे पृथक् कोटि की रचना न बनने देगा (जैसा कि प्रायः रोमा रोलां अथवा प्रेमचन्द के उपन्यासों में देखा जा सकता है) प्रत्युत् सबसे बढ़ कर सच्चे अर्थों में पाठक और लेखक को बीच में स्वेच्छापूर्ण सहकारिता के भाव के परिणामस्वरूप आदर्श एवं सफल रचना बनाएगा।

वास्तव में प्रत्येक युग को उसी प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं जिसके उपयुक्त वह होता है। यह उपयुक्तता पाठकों के अध्यवसाय पर निर्भर होती है। अतः पाठक का कर्त्तव्य यह भी होता है कि उसका युग जिन रचनाओं के उपयुक्त है उनमें से ही चुन कर अपने लिये अध्ययन क्रम का निर्धारण करे।

इसी प्रकार अतीत की विशिष्ट रचनाओं के सम्बन्ध में भी अपने मत को निर्धारित करना चाहिए। समय की रुचि के परिवर्तन के कारण कभी-कभी हम अतीतकाल की प्रमुख रचनाओं को भी उनका उचित महत्व नहीं दे पाते। शेक्सपियर और कालिदास भी इससे नहीं बच पाते। नवीनता में ही रुचि रखने वाले लोगों को फीलिंडग और देवकीनन्दन की रचनाएँ अपरिमार्जित एवं रूढ़िकोटि की लगती हैं। डिकेन्स, थैकरे, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र आवश्यकता से अधिक सुधारप्रिय एवं स्त्रियों की ही चिन्ता से एकान्तरूप से व्याकुल रहने वाले प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कुछ लोगों को आधुनिक उपन्यासों में कुछ नहीं मिलता। क्योंकि पाठक एवं समय के साथ सहानुभूति एवं सहानुभूति के अभाव में उपन्यास में जो द्रष्टव्य है उसे देख नहीं पाता इसका करण है—समय और स्थान की प्रान्तीयता का भाव।

लेखक उपन्यास लिखता है और पाठक पढ़ता है। आलोचक को तो कोई गिनता ही नहीं है। प्रेमचन्द्र कहा करते थे—...."आलोचकों के लिये कौन लिखता है। उपन्यास के असली अलोचक होते हैं उसके पाठक—वे पाठक जो किसी भी रूप से कोरे साहित्यिक होने का दम नहीं भरते,जो पढ़ते हैं, कुछ रुपया खर्च करके अपने अवकाश के समय में जिसको वे केवल मनोरंजन में लगाना चाहते हैं किसी उपदेशवार्ता में नहीं। वही पाठक व्हीलर-बुक-स्टाल पर—

स्थायी या चलती फिरती या सरकुलेटिंग लायब्रेरी के रजिस्टर के पन्नों पर उपन्यासों की सही क्रियात्मक आलोचना लिखता है। इन सब के पास पहुँचा कर जो उपन्यास आलोचक के पास पहुँचता है वह आलोचक की सही पाकर अमरता में रजिस्टर्ड हो जाता है और जो उपन्यास इनके पास न पहुँच कर आलोचक की लेखनी से अपनी प्रशस्ति लिखवाता है वह संग्रहालय की चीज भले ही बन जाय पर जन-साधारण की दृष्टि (जो कभी साधारण नहीं होती) में उपन्यास नहीं होंगे। इसके साथ ही कुशल पाठक की सतर्कता को यह ध्यान भी रहता है कि पढ़ना केवल पन्ने पल्टना नहीं है।

उपन्यास में जो है और जैसा होता है उसको उसी प्रकार से प्रस्तुत करना सफल कलाकार की सिद्धि होती है जिससे जो अच्छा है उसी को करने का लेखक की ओर से उपदेशक का-सा आग्रह न होते हुए भी पाठक उस अच्छाई की ओर स्वतः भाव आकर्षित हो जाय, अपने आप बिना यह अनुभव किये कि लेखक का उद्देश्य ही उस अच्छाई को पाठक के ऊपर थोपना है और बुराई तो जीवन के अविभाज्य अंग के रूप में अपने नग्न से नग्न रूप में आकर भी पाठक के मन में लेखक का 'ऐग्रेसिव' भाव न दे और उपन्यास का प्रभाव वही पड़े जो जीवन का पड़ता है जिसमें पाठक की आँख प्रत्येक समय केवल बुराई पर ही नहीं रहती। इस प्रकार का प्रभाव फ्लाबेअर के 'मेडेम बोअरी' अलेक्जेन्डर क्यूपरिन के 'यामा दि पिट' जैनेन्द्र की 'सुनीता', अंचल की 'चढ़ती धूप' तथा यशपाल के 'दादा-कामरेड' में देखा जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि आलोचक पाठक का कार्य एक रचनात्मक-कलाकार का-सा होता है। वह अपने लिए उपन्यास को संसार को अपने कल्पना के क्षेत्र में प्राणवान बना कर गतिमान करता है। लेखक उपन्यास में बिखरे जीवन को शब्दों की सीमा में बाँधता है। आलोचक-पाठक पहले तो उसे शब्दों की सीमा से स्वतन्त्र कर कल्पना के विस्तार में मुक्त करता है और फिर उस मुक्त संसार में उपन्यास के जीवन व्यापार के सौन्दर्य को अपने लिये आंकता है। लेखक के विस्तृत मनोराज्य में जाने के लिए प्रवेशक क्षेत्र की भाँति उसका उपयोग करता है। वह ऐसा करके कभी-कभी अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव को लिपिबद्ध कर अपने से कम मेधा वाले पाठकों के लिये मार्ग प्रदर्शन भी करता है। अपने अध्ययन में एक निश्चित क्रम का समावेश कर लेने के पश्चात पाठक आलोचक कभी-कभी विशुद्ध आलोचक भी बन जाता है और तब उसकी गतिशीलता बहुमुखी हो जाती है।

हिन्दी उपन्यास शिल्प के विकास में जैनेन्द्र', अज्ञेय' और जोशी की रचना-पद्धति में इस दिशा में संशोधन से भी अधिक मौलिक, विशुद्धता नवीनतम रचना-शैलियों की उद्भावना हुई है—

(अ) वर्णन कथन के विकास में चिन्तन-मनन करना,

(ब) चरित्र चित्रण के स्थान पर चरित्र-विश्लेषण करना,

(स) कर्म-चित्रण और वर्णन के विकास-क्रम में कर्म-प्रेरणाओं और चित्त-वृत्तियों का अनुभव करना।

(द) लेखक का आलोचक के स्तर से हट कर द्रष्टा बनने का आग्रह होना।

(य) उसका कथा-वाहक के स्थान पर भाव-वाहक बन जाना।

इस नवीन एवं मौलिक स्थापनाओं के फलस्वरूप इन उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में से चेष्टापूर्वक वे अंश छाँट कर निकाल दिये जिन्हें पाठक अपने आप समझ सकते हैं। इस प्रकार कलाकार ने पाठक पर विशेष दायित्व छोड़ रखा है और उसकी पूर्ति में उसकी समस्या का अन्तःस्पर्शी कार्य-कारण और पात्रों की अन्तस-करुणा और दर्शन की दीठ दी है।[1]

भावी उपन्यास और पाठक

प्रायः लोगों की यह धारणा है कि उपन्यास का महत्व समय बीतने के साथ-साथ कम होता जायगा। पर वाल्टर ऐलेन[2] लिखता है कि आने वाले वर्षों में उपन्यास का महत्व कम होने के स्थान पर और अधिक बढ़ जायगा। उपन्यास के महत्व के बढ़ने के साथ-साथ भावी उपन्यास का पाठक वर्ग का दायित्व भी बढ़ जायगा। आगामी जीवन बहुत-कुछ अंशों में वैज्ञानिक, यांत्रिक तथा एक-सा होगा, उस एक-सी सामाजिक समानता में एकाकी व्यक्तित्व का महत्व नगण्य-सा होगा। भावी उपन्यास के पाठक वर्ग अपने व्यक्तित्व की खोज उपन्यास के ही माध्यम से करने की चेष्टा करेगा। एक पाठक और एक उपन्यासकार परस्पर इकाई की अमरता एवं उसके महत्व की रक्षा करने के लिये समझौता सा करेंगे। भावी पाठक के दायित्व का एक अंश यह भी होगा कि वह अपनी सहानुभूतिपूर्ण एवं उचित प्रशंसात्मक आलोचना के सहारे ऐसे वातावरण की सृष्टि करेगा जहाँ उपन्यास की भावी रचनाओं से प्रत्येक पाठक

---

१ **आलोचना—(उपन्यास अंक)—पृ० १५९।**

2 WALTER ALLEN—'*Reading a Novel*—**P. 23.**

जीवन दर्शन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश पाने की कामना और निश्चित रूप से आशा करेगा। भविष्य में साहित्येतर वांग्मय का प्रत्येक क्षेत्र उपन्यास की नवीनतम शैली का प्रयोग करते हुए अपने विशाल ज्ञान-भण्डार को सहजरूप में साक्षरता के आरम्भ से ही अपने को पाठक में उतारने का सूक्ष्म एवं सफल प्रयास करेगा। तब हम उपन्यास पढ़ कर शिक्षण विज्ञान का प्रारम्भिक परिचय पायेंगे। यही बात सभी प्रकार के कैरियर के सम्बन्ध में सत्य होगी।''[1] सभी प्रकार के साहित्य, कला, संगीत एवं विज्ञान के विषय में भी सत्य होगी।

भावी उपन्यास निश्चित रूप से पाठक को नवीनतम अनुभव और संतोष प्रदान करेगा। वह नये क्षेत्रों में अपने प्रभाव का विस्तार करेगा और पाठक के लिये नई सम्भावनाओं की उद्भावना करेगा। कभी-कभी चरित्र के और सूक्ष्म विश्लेषण के साधन रूप में पाठक को व्यक्तित्व के उन अन्तरप्रदेशों का अधिक परिचय करायेगा। जहाँ का आधुनिक उपन्यास को ध्यान भी नहीं है। पर साथ ही साथ भावी पाठक को इस बात का भी ध्यान रखना है कि कहीं अत्यधिक आधुनिकता के जोश में लेखक ने चरित्र को इतना सूक्ष्म तो नहीं कर दिया कि वह अपनी सूक्ष्मता में अपनी भौतिकता ही खो बैठा हो। उसे सदैव याद रखना होगा कि आख्यानात्मक साहित्य लोगों के विषय में कहानी कहने की कला है।

कोई तो यह सोचता है कि पाठकों के माध्यम से भावी उपन्यास का प्रभाव मनुष्यों पर इतना पड़ सकता है कि 'वह मानव समाज का कायापलट ही कर दे। कोई भी यह आशंका कर सकता है कि भला काल्पनिक लोगों के विषय में कही हुई काल्पनिक कहानियाँ संसार में कौनसा परिवर्तन ला सकती हैं ? और यह तो निश्चय ही है कि किसी सामान्य पाठक को इस प्रकार के अटकल की अपेक्षा भी नहीं होती। जो लोग इस प्रकार की बात सोचते हैं वे और सब बातों के विषय में तो सोचते हैं पर न तो उपन्यासकार के विषय में सोचते हैं और न पाठक के विषय में ही कुछ सोचते हैं। भावी पाठक तो उपन्यासकार से उतनी ही और उस प्रकार की आज्ञा करेगा जो वह पूरी कर सकता है। लेखक की सफलता भी इसी में है कि वह अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों के प्रति ईमानदार रहे। वह अपने पाठकों को यथार्थ जीवन का दर्शन करा

---

1 Career Novels like 'Judith Teaches' Published by Bodley Head.

सके, साथ ही उन आदर्शों की भी अवतारणा अपनी कृति में कर सके जिनके माध्यम से जीवन बन जाता है। वस्तुतः जीवन स्वतः एक कला है। और उपन्यास एक कलाकार है। उसे जीवन की कला को ऐसी मनोरम रचना करना है जो सत्य और शिव के साथ-साथ परम सुन्दर एवं रमणीय हो। पाठक की लेखक से यही आशा है।

भावी उपन्यासकार अपने कर्तव्य को भलीभाँति समझेगा और जो भावी पाठक होंगे वे उससे उसी बात की आशा करेंगे जो वह सदैव से हर उपन्यासकार से आशा करते हैं वे क्षण भर के लिये एकान्त की प्राचीर को भेदना चाहते हैं और अपने जीवन की प्रामाणिकता के लिये दूसरे के जीवनों में कुछ न कुछ पा जाते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ और भी जो स्वयं उनके जीवन में उन्हें नहीं मिल पाया।

ऐसे सम्पर्क के क्षण भावी पाठक को विरले ही अवसरों पर मिलेंगे इन क्षणों का सब योग मिला कर भी कुछ अधिक समय न होगा पर इतने ही थोड़े समय में भावी पाठक को परम्परा के क्रम से ऐसा कुछ प्राप्त हो जायेगा जो उसके पास पहले से नहीं था—और जो वह प्राप्त करना चाहता था और जो उसको प्राप्त करना ही था।

हिन्दी उपन्यास का वर्गीकरण

उपन्यास नये युग की नयी अभिव्यक्ति का नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध में यह एक अखंड सत्य है कि वे व्यक्ति और युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते हैं। उपन्यास भी अपना स्वरूप साहित्य की प्राणवती विधा के रूप में अपनी प्रगति तत्सम्बन्धी प्रयोग, तत्कालीन प्रवृत्ति, प्रस्तुत विषय, सामयिक-चेतना तथा लेखन एवं प्रकाशन के व्यवसाय के अनुरूप बदलता रहा है। हिन्दी उपन्यास ने अपनी यात्रा में संस्कृत आख्यायिकाओं के अनुवाद, तुलसी की आध्यात्मिक औपन्यासिकता, अय्यारी तथा तिलिस्मी किस्से, जासूसी और ठगी के वृतान्त, सामाजिकता तथा राष्ट्रीयता पर अधिक सुधारवादी रचनाएँ, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी व्यक्तिगत एवं वर्गगत समस्याओं से युक्त गाथाएँ तथा ऐतिहासिक रोमांस की प्रेम-कथाएँ तथा मनोविज्ञान की पहेलियों से जटिल कहानियाँ आदि सभी प्रकार के प्रसंगों को अपने में समेटने का प्रयाय किया है।

इन सबका वर्गीकरण प्रस्तुत करने के लिये हमें सर्व प्रथम शास्त्रीय वर्गीकरण का सिद्धान्त ही स्थिर करना पड़ेगा। शास्त्रीय ढंग में ऐतिहासिक विकास का अथवा प्रकार की कोठियों का एक क्रम होता है। उपन्यास का शास्त्रीय वर्गीकरण वर्ण्यविषय की सामग्री तथा उस विषय को प्रस्तुत करने के ढंग पर निर्भर किया जा सकता है। अध्ययन क्रम की सुविधा के लिये हम उसे ऐतिहासिक विकास के रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

आधुनिक युग के आरम्भ में साहित्य से मनुष्यत्व का महत्व बड़ा। मनुष्य की साधारणता की प्रतिष्ठा हुई। यद्यपि कथा के मूल में 'कु' और 'सु' अर्थात् अच्छाई और बुराई की अविच्छिन्न धारा बनी रही तथापि यथार्थवाद के आग्रह से बुराई की विवेचना बुराई करने वाले के साथ पूरी सहानुभूति रखते हुए की गई। मनुष्य द्वारा निर्मित प्राचीन नीतिशास्त्र में संशोधन किया गया। इसके लिये कथा-साहित्य में मनस्तत्त्व का विश्लेषण भी अरम्भ हुआ। उपन्यास का कर्त्तव्यक्षेत्र बहिर्जगत से उठ कर एकदम अन्तर्जगत में आ गया। मनुष्य की सभी मानसिक स्थितियों का अध्ययन होने लगा।

वर्गीकरण का सिद्धान्त—इन परिस्थितियों में उपन्यास के नये प्रकारों का जन्म हुआ। हम अपनी अध्ययन की सुविधा के लिये इनके वर्गीकरण का भी अध्ययन करेंगे; परन्तु वैसा करने के प्रथम हमें वर्गीकरण के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। पूर्वीय साहित्य परम्परा में वर्गीकरण का सिद्धान्त प्रत्येक लक्षण-ग्रन्थ की विशेषता है।[१] पश्चिम में आधुनिक ढग के वर्गीकरण का सिद्धान्त सर्व प्रथम क्रोचे ने आरम्भ किया।

कोई साहित्यिक प्रकार नाम का ही नहीं होता क्योंकि साहित्य-सौन्दर्य-शास्त्र की परम्परा उस विशिष्ट प्रकार का स्वरूप निर्धारित करती है। इस परम्परा का अनुसरण लेखकों को करना पड़ता है और कभी-कभी लेखक स्वयं नयी परम्परा पुरानी परम्परा को तोड़ कर या मोड़ कर ही बनाता है।[३]

वर्गीकरण का सिद्धान्त शास्त्र क्रम का सिद्धान्त होता है। इसमें साहित्य अथवा साहित्यिक इतिहास का वर्गीकरण समय (काल क्रमानुसार) अथवा स्थान (राष्ट्रीयता) के विचार से नहीं किया जाता, वरन् वह विशिष्टरूप से साहित्य के संगठनात्मक अथवा संघटनात्मक प्रकारों के विचार में होता है।[४] ऐतिहासिक वर्गीकरण से भिन्न कोई भी आलोचनात्मक अथवा मूल्यांकन करने वाला अध्ययन किसी रूप में उस प्रकार के संगठन पर ही विचार करने की अपेक्षा करता है।

वास्तव में आलोचनात्मक साहित्य का एक विशिष्ट प्रकार यह भी है कि हम नयी साहित्यिक विधा के नवीन संघटनात्मक स्वरूप के वर्गीकरण का आविष्कार करें।

संस्कृत साहित्य में हमें साहित्यिक वर्गीकरण के 'अग्निपुराण', 'काव्यप्रकाश'

---

१ साहित्यदर्पण—विश्वनाथ—काव्यप्रकाश-मम्मट-काव्यादर्श-दन्डी आदि

2. Croce Aesthetic (tr. Ainslie) London, 1922. Chs IX and XV

3. The literary kind is not a name, for the aesthetic convention in which a work participates shapes its character. Literary kinds may be regarded as institutional imperatives which both coerce and are in turn coerced by the writer.
N. H. PEARSON, *Literary Forme and Types...*
English Institute Annual 1904 , (1941) P· 59
—cf, especially P. 70.

4. A THIBAUDET, '*Physiologie dela Critique*' p. 184,

'साहित्यदर्पण', 'काव्य मीमांसा' और 'काव्यानुशासन' के अनुसार निश्चित करते हैं। अंग्रेजी साहित्य के वर्गीकरण के सिद्धान्तों का निर्णय अरस्तू और होरेस के सिद्धान्तों के अनुसार होता है। पर जिस प्रकार अंग्रेजी में आधुनिकतम साहित्यिक सिद्धान्तों की विवेचना में प्राचीनकालीन गद्य-पद्य के अन्तर को मिटा कर काल्पनिक साहित्य, फिक्शन (उपन्यास, छोटी कहानी, महाकाव्य), नाटक (गद्य अथवा पद्य में) और कविता (प्राचीनकाल के गीति-काव्य के समानान्तर) में विभाजित किया है। उसी प्रकार आज के हिन्दी-में डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बा० गुलाबराय, बल्देव उपाध्याय एवं सीताराम चतुर्वेदी के आलोचनात्मक ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी में प्राचीन संस्कृत परम्परा से भिन्न रूप में साहित्यिक विधाओं एवं उनके प्रकारों का विवेचन किया गया है।

वर्गीकरण के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हम कतिपय रोचक तथ्यों पर विचार कर सकते हैं। कभी कभी अत्यन्त प्राचीन साहित्यिक प्रकार का गठ-बन्धन नयी से नयी साहित्यिक विधा के नवीनतम प्रकार से किया जाता है। नवीनतम प्रकार को कभी-कभी प्राचीन परम्परा के अनुसार प्रचलित रूप का आधुनिक संस्करण मात्र समझा जाता है। इस सिद्धान्त स्थापना के अनुसार श्क्लोव्स्की दोस्तोव्स्की के उपन्यासों को प्रतिभा अथवा सद्भावना के सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त अपराधी जीवन से सम्बन्धित उच्चतम रूप में देखता है—(रोमा असेन्सेशियाँ) पुश्किन के गीत 'अलबम के छन्दों' से निकलते हैं, ब्लॅक की कविता जिप्सी गानों से, मायाकोव्स्की की रचनाएँ 'फनी-पेपर पोयेटरी' के विकास प्राप्त रूप हैं[1]। हिन्दी में जायसी ने 'पदमावत प्रचलित' परम्परा की प्रेमकथाओं के आधार पर ही लिखा था, फणीश्वर रेणु की 'परती:परिकथा' 'धरती के गीतों' का औपन्यासिक उत्था है; जर्मनी में बरथोल्डब्रेख्ट और अंग्रेजी में आडेन दोनों ही अपनी कविता में लोक गीतों को गम्भीर काव्य में प्रस्तुत करते हुए दिखाते हैं। इस विचार को हम उस साहित्यिक विश्वास के

---

1. VIKTOR SHKLOVSKY, "*Art as Device, Theory of Prose*, Moscow, 1925. cf. the article "Formatism, by R. Roggioli, in Shipley's 'Dictionary of world Literature, p. 254, also 'Kridl's' essay, "Russian Formalism", American Bookman, (1944), pp. 19–30.

रूप में ले सकते हैं जिसके अनुसार यह माना जाता है कि साहित्य किसी प्रक्रिया द्वारा अपने को सर्दव नवीन रूप में परिवर्तित करने की अपेक्षा करता है।[१] आन्द्रे जोल का एक ऐसा ही विचार और है जिसके अनुसार साहित्य के चक्करदार स्वरूप साहित्य के साधारण रूपों के विकसित रूप होते हैं। जिन प्राचीन एवं प्रारम्भिक रूपों को मिला कर आज के सब प्रचलित साहित्यिक प्रकार बने हैं। उनकी सूची जोल के अनुसार निम्नलिखित हैं—लिजेन्ड (दन्त कथा) सागा (जातीय गाथा), मिथ (कपोल-कल्पित कथा), रेत्सल, स्प्रूस, कासस, मेमोरेबील मेर्शन, वित्स।[२] उपन्यास के इतिहास में इसी प्रकार के विकास का उदाहरण मिलता है। अंग्रेजी के उपन्यासों में 'पामेला', 'टामजोन्स', 'ट्रिस्ट्रमर्शन्डी' के आगमन के पूर्व निम्न प्रकार के 'आइनफैश फोर्मन' हैं—पत्र, डायरी, भ्रमण-ग्रन्थ (काल्पनिक यात्रा-वर्णन), संस्मरण, १७ वीं शताब्दी के चरित्र (करेक्टरी), निबन्ध और इनके साथ ही साथ रंगमंच का सुखान्त नाटक, महाकाव्य और रोमांस।

हिन्दी उपन्यास के वर्गीकरण करने के प्रथम हमें हिन्दी उपन्यास के प्रवृत्तिगत विकास को भी ध्यान में लाना होगा। रोमांस से समाज के मनोवैज्ञानिक यथार्थ की यात्रा में हिन्दी उपन्यास के विकास की तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं—(प्रथम) प्रेमचन्द्र का पूर्ववर्ती काल, (द्वितीय) प्रेमचन्द्र का काल, (तृतीय) प्रेमचन्द्र का परवर्ती काल।

(१) प्रेमचन्द्र का पूर्ववर्ती काल—प्रेमचन्द्र के पूर्ववर्ती काल की तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—(१) कल्पनाशील विलक्षणता (देवकीनन्दन खत्री, गहमरी तथा गोस्वामी जी के उपन्यास जिनमें तिलिस्मी, जासूसी एवं रहस्य-रोमांचपूर्ण

---

1. For the "rebarbarization" of literature, cf. the brilliant article "Literature" by Mex Lerner and Edin Mirna, Jr. *Encyclopaedia of the social sciences*, IX (1953), pp. 523–43.
2. —Andre Jolles, Einfache Formen, Halle, Jolle's list corresponds roughly to the list of folk-types, or "forms of popular literature," studied by Alexander H. Hrappe in his Science of Folk-Lore, London, 1930 the Fairy Tale, the Merry Tale (or Fabllau), the Animal Tale, the Local Legend, the Migratory Legend, the Prosea Sage, the Proverb, the Folk-Song, the Popular Ballad, Charm, Rhymes, and Riddles.

घटनाओं का जमघट रहता है) (२) सामाजिकता—(सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे गये सभी उपन्यास इसके अन्तर्गत हैं। इन उपन्यासों में वृद्ध विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया गया है तथा स्त्री शिक्षा का समर्थन किया गया है। इस प्रकार के उपन्यासों में 'परीक्षागुरु' (सन् १८८२) (लेखक लाला श्रीनिवासदास), नूतन ब्रह्मचारी (सन् १८८६) तथा 'सौ अजान और एक सुजान' (लेखक श्री बालकृष्ण भट्ट) और 'निस्सहाय हिन्दू' (सन् १८९०) (लेखक श्री राधाकृष्णदास) आदि महत्वपूर्ण हैं।

इन उपन्यासों मे तात्कालिक सामाजिक दशा की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। इनमें से मेहता लज्जाराम के 'स्वतन्त्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' (१८९९) ई० तथा 'धूर्त रसिकलाल', (१८९९ ई०) में अत्यधिक बाजारूपन है। घटनाओं की अतिरंजना और शृंगार का ओछा प्रदर्शन इन उपन्यासों में अधिकता से पाया जाता है। पर बाद के उपन्यासों 'आदर्श दम्पति, (१९०४ ई०) और 'आदर्श हिन्दू' (१९१५ ई०) में पुरानी संस्कृति की गौरव भावना तेजी से बढ़ी।

३—तीसरी प्रवृत्ति राजनैतिकता की है। इस प्रकार के उपन्यासों की संख्या नगण्य-सी है। इस प्रवृत्ति की झलक स्थान-स्थान पर मिलती है। और इस प्रकार वह प्रवृत्ति तत्कालीन राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीय जागृति का परिचय देती है।

(२) **प्रेमचन्द्र काल**—हिन्दी उपन्यास का यह सर्वाधिक उन्नत एवं समृद्ध काल है। इस काल में उपन्यास साहित्य की सर्वांगीण उन्नति हुई। इस युग में लिखे गये उपन्यासों में विभिन्न प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। प्रेमचन्द्र-युग (१९१६–३६) के उपन्यास साहित्य में हमें दो दर्शकों के राजनीतिक और सामाजिक और समाजिक जीवन का सम्पूर्ण आकलन दिखाई देता है।

(अ) यथार्थवादी प्रवृत्ति.—प्रेमचन्द्र से पहले हिन्दी उपन्यास का आधारमात्र कल्पना और रोमान्स ही था फिर उसे चाहे सामयिक जीवन का आधार देकर उपस्थित किया गया हो या ऐतिहासिक कथा अथवा चरित्रों पर उसकी नींव रखी गई हो। लेकिन इस युग के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें काफी यथार्थवादी चित्रण हुआ और यथार्थवाद का मानदन्ड क्या हो?—इसको लेकर आलोचकों में काफी तर्क-वितर्क भी हुआ। प्रेमचन्द ने लिखा है—'कला दीखती तो यथार्थ है पर यथार्थ होती है। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम होती है।' डा० रामविलास शर्मा

इसके उत्तर में लिखते हैं—'इससे मालूम होता है कि कला यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है, परन्तु वह काल्पनिक स्वर्ग की रचना नहीं करती। यदि मनुष्य साहित्य में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं चाहता तो फिर यथार्थ का यह भ्रम खड़ा करने की क्या जरूरत है ? यथार्थ से भागने वाले के लिए जैसा यथार्थ वैसे उसका भ्रम—बल्कि भ्रम से शायद ज्यादा भय हो क्योंकि जीवित मनुष्य से मनुष्य का भूत ज्यादा भयकारी होता है।'

एक स्थान पर डा० रामविलास शर्मा ने यह भी लिखा है कि—'प्रेमचन्द्र को यथार्थवाद से इसलिये भय है कि वह भयंकर और मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला है। उनका यह दृढ़ विश्वास कि मनुष्य कमजोरियों का पुतला है और उसकी कमजोरियों का चित्रण उसके लिये घातक हो सकता है। उसके आदर्शवादी दृष्टिकोण का मूल कारण है।

डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने भी यथार्थवादी साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है—'संक्षेप में यथार्थवादी साहित्य कोरी भावुकता से बहुत दूर है। उसमें रोमांटिक साहित्य की भाँति कल्पना-प्रवणता नहीं है। वह तो जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन के ही सम्बन्ध में यथार्थ अनुभव प्राप्त करने एवं उसी के सम्बन्ध में चिन्तन करने में निरन्तर प्रयत्नवान रहता है। ऐतदर्थ उसका जीवन दर्शन प्रायः अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होता जाता है। अस्तु, उसकी अभिव्यंजना में भावुकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता अधिक होती है।'[१]

कुछ लोग आदर्शवाद और यथार्थवाद के समन्वितरूप या समिश्रण की नयी संज्ञा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद देते हैं। यही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। वे कला को जीवन से विच्छिन्न नहीं देखना चाहते। इसी से उनकी रचनाओं में कहीं भी कोरा आदर्शवाद की मुखरित नहीं हुआ है। वह यथार्थवाद की भूमिका में ही अपने रूप को संवार सका है। वस्तुतः आदर्श एक प्रकार का स्वप्न है और यथार्थ जीवन का सत्य। जीवन में हम सपने भी देखते हैं और कठोर सत्य का जीवन में निरन्तर प्रयोग भी होता है। अस्तु, कला की प्रवृत्ति में भी इसी स्वप्न और सत्य आदर्श एवं यथार्थ का दर्शन उसे अधिकाधिक स्वाभाविक बनाता है।

यथार्थवादी साहित्य की ओट में जो अश्लील एवं नग्न चित्रण होने लगे,

---

१—डा० प्रेमनारायण शुक्ल—'हिन्दी साहित्य में विविधवाद—पृ० १४०।

उन्हें देख कर यह समझा गया कि शायद यथार्थवाद का भ्रामक अर्थ साहित्य-कारों ने लगाया है। इस सम्बन्ध में श्री गुलाबराय का कथन है "……यथार्थ-वाद के नाम पर विलास एवं वासनामय जीवन के अतिरंजित चित्र अंकित किये जाते हैं। नारकीय जीवन को उभार में लाया जाता है और कल्पना के निर्बाध और निरावरण नृत्य के लिये निमन्त्रण दिया जाता है। तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासकारों की दूसरी युक्ति है कि वे समाज को उन गहन-गर्तों से बताते हैं, जिनमें कि लोग प्रायः गिर जाते हैं। इसके बहाने वे वास्तव में उन गहन-गर्तों और भीषण अंधकारमय कन्दराओं का पथ-प्रदर्शन कर देते हैं।[1]

यथार्थवाद का वास्तविक स्वरूप समझने में प्रेमचन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ कुछ सहायक हो सकती हैं—'यह मैं नहीं कहता कि तुमने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है। उनकी इच्छाओं और प्रवृत्तियों के नग्न यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और इस यथार्थ को ही आदर्श मान ले तो संसार नरक-तुल्य हो जाय[1]।

'प्रसाद' के दोनों उपन्यासों—'कंकाल' और 'तितली'—में **यथार्थवादी** प्रवृत्ति मिलती है।

इस काल की दूसरी प्रवृत्ति समाज-सुधार की है। यों तो प्रेमचन्द्र के पूर्व ही इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ हो चुका था, लेकिन प्रेमचन्द्र के समय में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस समय तक भारतीय समाज में—शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों वर्गों में—प्राचीनता की प्रतिक्रिया स्वरूप नवीनता की लहर आई थी। अतः जन-जीवन की मान्यतायें बदल रही थीं, दृष्टिकोण बदल रहे थे और विचारधार में भी परिवर्तन हो रहा था। इस व्यापक परिवर्तन के फल-स्वरूप अनेक धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। चूँकि हम यहाँ समाज-सुधार की प्रवृत्ति पर विचार कर रहे हैं, अतः हमें केवल सामाजिक आन्दोलनों—और धार्मिक से भी-यहाँ मतलब रखना चाहिये। इन आन्दोलनों का हम अन्यत्र वर्णन कर चुके हैं, अतः यहाँ सिर्फ हम इस काल के हिन्दी उपन्यासों पर उनका प्रभाव देखने का प्रयत्न करेंगे।

स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक प्रेमचन्द्र का प्रश्न है, उनके सभी उपन्यासों में हमें किसी न किसी रूप में समाज-सुधार की यह

---

१ **'आलोचना'—उपन्यास अंक,** पृष्ठ ४३।

२ **'प्रेमचन्द—'कायाकल्प'**

प्रवृत्ति मिलती है। 'प्रसाद' के भी उपन्यासों 'कंकाल' और 'तितली' में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। यद्यपि उनका तीसरा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' इस ढंग का नहीं था। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के कुछ सामाजिक उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वृद्ध विवाह की समस्या 'निर्मला' और 'गोदान' में, बाल विवाह की समस्या, 'गोदान' में, दहेज की समस्या 'सेवा-सदन' और 'निर्मला' में, वेश्या संबंधी समस्या 'मंच', 'सेवासदन' वेश्यापुत्र, 'पाप और पुण्य', 'पतिता की साधना', 'अप्सरा', 'तथा' वेश्या का हृदय' आदि उपन्यासों में, अनमेल बिवाह की समस्या,'निर्मल', 'क्षमा,मीठी चुटकी, और 'अनाथ पत्नी' तलाक,'गोदान' आदि उपन्यासों में, हिन्दू मुस्लिम समस्या-'प्रेमाश्रम'-रंगभूमि 'कायाकल्प', 'राम-रहीम' आदि उपन्यासों में, ग्राम्य जीवन की समस्यायें, देहाती दुनियाँ 'तितली', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'गोदान'-'आदि उपन्यासों में, विधवा समस्या पर'हृदय का कांटा', 'प्रातज्ञा', 'विधवा के पक्ष'-'अमर अभिलाषा', 'आत्म-दाह 'नीली माटी', 'परख' आदि में विचार किया गया है।

तीसरी प्रवृत्ति राजनैतिक अथवा राष्ट्रीयता की कही जा सकती है। विशिष्ट राष्ट्रीय जागृति के कारण उसमें इस प्रवृत्ति-प्रधान उपन्यासों की रचना बहुत-बड़ी संख्या में हुई। यशपाल, राहुल तथा कुछ अन्य उपन्यास-कारों के साथ ही साथ प्रेमचन्द के भी कुछ उपन्यासों (कायाकल्प कर्मभूमि आदि) में यह प्रवृत्ति मिलती है।

चौथी प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिकता की है। इसके अन्तर्गत 'सेक्स', स्वच्छंद-प्रेम, विवाह आदि अनेक समस्याओं का समावेश है। जैनेन्द्र के उपन्यास 'परख' (१९३०) के द्वारा इस प्रवृत्ति का आरंभ होता है। लेकिन इस प्रवृत्ति का विकास व्यापकरूप में प्रेमचन्दोत्तर काल में ही हुआ।

(३) **प्रेमचन्दोत्तरकाल**—इस प्रकार इस काल में प्रेमचन्द युग की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ विकास की ओर अग्रसर हुईं। यद्यपि समाज-सुधार संबंधी उपन्यास इस युग में अन्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा कम लिखे गये। मनोविज्ञान, परिस्थिति-जन्य-दासता, सेक्स और स्वच्छंद प्रेम की समस्या इस युग में सर्वाधिक दिखाई पड़ती है। इलाचन्द जोशी के 'निर्वासित', 'सन्यासी', अज्ञेय के— 'शेखर'— एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' अश्क के 'चेतन', 'गिरती दीवारें'-यशपाल के 'मनुष्य के रूप में' 'दादा कामरेड- देशद्रोही-दिव्या' जैनेन्द्र के 'त्याग पत्र' 'सुनीता' 'व्यतीत' 'सुखदा' 'कल्याणी', भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा,'आखिरी दाँव, डा०

देवराज के 'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', डा० धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता' 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' सियारामशरण गुप्त के 'नारी' तथा कुछ अन्य उपन्यासकारों के अधिकांश उपन्यासों में यह प्रवृत्ति दिखलाई देती है। कुछ उपन्यासकार फ्रायड से काफी प्रभावित दिखलाई देते हैं। वैसे उपर्युक्त सभी उपन्यासों में न्यूनाधिक मात्रा में प्रेम-विषयक समस्याओं पर ही विचार किया गया है। इनमें से कुछ पर अश्लीलता तथा नग्न-चित्रण आदि का दोष भी वर्तमान आलोचकों द्वारा लगाया जाता है।

प्रेमचन्द के बाद का युग द्वितीय महायुद्ध का और भारत की सन् बयालिस की सशस्त्र क्रांति का युग था। साम्यवादी-समाजवादी तथा गांधीवादी विचार-धाराओं का काफी प्रचार हुआ। अतः राजनैतिक प्रवृत्तियाँ तो इस काल के काफी उपन्यासों में मिलती हैं। सन् १९३५ से लेकर सन् १९५० तक तो पचास प्रतिशत उपन्यासों में ही यही प्रवृत्ति मिलती है। सन् १९५० के बाद से ऐसे उपन्यास प्रायः कम ही लिये जाते हैं। वृदावनलाल वर्मा एवं प्रतापनारायण श्रीवास्तव दोनों ने ही राजनैतिक उपन्यास को साहित्यिकता के बाने में ऐतिहासिक उपन्यास का रूप दे दिया है। इस प्रवृत्ति के उपन्यासकार तो बहुत से हैं परन्तु विशेषरूप से राहुल जी, यशपाल गुरुदत्त, नागार्जुन तथा रांगेय राघव का नाम मुख्य है। जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द जोशी ने भी इस ढंग के उपन्यास लिखे हैं।

इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति ऐतिहासिकता ही है। राहुल तथा वृन्दावनलाल वर्मा—चतुरसेन शास्त्री तथा रांगेयराघव ने श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। राहुल के जययोधेय, सिंह सेनापति, वृदावनलाल वर्मा के झांसी की रानी, 'गढ़कुं-डार 'विराट की पद्मिनी तथा मृगनयनी आदि ऐसे ही उत्कृष्ट उपन्यास हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री के 'वैसाली की नगर वधू' वयम्रक्षामः तथा रांगेयराघव का मुर्दा का टीला भी इसी कोटि के उपन्यास हैं।[1]

वर्गीकरण—अन्य साहित्यांगों को देखते हुए उपन्यास शब्द हिन्दी के लिये नया है। उसका जन्म भारत में छापे की मशीन के साथ हिन्दी गद्य की उत्पत्ति के समय हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य (विशेषतः खड़ी बोली के

१—इस विवेचन में विभिन्न कालों की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों का संकेत-मात्र किया गया है। यों प्रेमचन्द युग तथा उनके बाद का युग हिन्दी उपन्यास के विकास से दो विशिष्ट चरण हैं और इनमें प्रायः सभी विषयों पर उपन्यास लिखे गये हैं।

गद्य) साहित्य का आरम्भ पद्य के बाद हुआ और गद्य साहित्य में उपन्यास साहित्य की बारी देर से आई।[१] पर इतने ही थोड़े समय में इतने अधिक उपन्यासों की रचना हुई है और उन रचित उपन्यासों के इतने प्रकार हैं कि उन्हें सहसा सरस ढंग से वर्गीकरण के नियमों में नहीं बाँधा जा सकता। विचारों की नयी वृत्तियों के अनुशीलन से उपन्यास की नयी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। इस प्रवन्ध का पूर्वार्द्ध इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ उपन्यासों के प्रकार भी परिवर्तित होते जाते हैं। अतः उपन्यासों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न दृष्टियों के किया जा सकता है जिनमें से प्रमुख ये हैं—

१—वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से

२—ढाँचे की दृष्टि से

३—कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार

४—क्रियाकल्प की दृष्टि से

५—उपन्यास संघटन के अनुसार

६—चरित्र चित्रण की दृष्टि से

७—शैली की दृष्टि से

८—उद्देश्य की दृष्टि से

९—जीवन के प्रति दृष्टिकोण के विचार से

१०—दीर्घ विस्तार तथा प्रभाव की तीव्रता के विचार से

११—साधारण जन-दृष्टि के विचार से

१२—ऐतिहासिक वर्गीकरण

१३—वर्ण्यविषय के प्रति दृष्टिकोण के विचार से

(१) वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण

(अ) तिलस्मी, जासूसी और साहसी उपन्यास

(ब) ऐतिहासिक कथानक वाले उपन्यास

(स) पौराणिक तथा धार्मिक कथानक वाले उपन्यास

(द) अन्य कथा-प्रधान उपन्यास

(य) सामाजिक उपन्यास

२—नन्ददुलारे बाजपेयी....

'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ १२३

(र) राजनीतिक अथवा राजनीतिक कथानक वाले उपन्यास

(ग्र) तिलस्मी-जासूसी और साहसी उपन्यास

मानव जिज्ञासा एवं कौतूहल की दो आँखों से देखता है। विचित्रता तथा रहस्यात्मकता के प्रति उत्सुकता एवं उत्कंठा का भाव मानव-चेतना के आरम्भ से ही रहा है। उत्सुकता जिज्ञासा को पोषित करती है।

हिन्दी कथा-साहित्य के आरम्भ में उस पर क्रमशः फारसी तथा पाश्चात्य कथा-वांग्मय का प्रभाव हिन्दी अनुवादों द्वारा पड़ा। पर हिन्दी उपन्यास साहित्य में तिलिस्म तथा अय्यारी लाने वाले बा० देवकी नन्दनखत्री ही हैं। और ये किसी अन्य भारतीय भाषा में होकर नहीं आये हैं। ये दोनों अरबी शब्द हैं। अय्यारी तथा तिलिस्म के इस प्रकार के उपन्यास लिखने की परम्परा बहुत दिनों तक चली और बहुत से लेखकों ने इस ढंग की बहुत सी पुस्तकें प्रस्तुत कीं, पर हिन्दी उपन्यास के इतिहास के शैशवकाल तक ही इनकी प्रथा रही।

संवत् १९४० और संवत् १९७५ के मध्य में लिखे हुए अय्यारी, तिलिस्मी, जादू आदि भरे उपन्यासों में विशिष्ट रचनाएँ निम्नलिखित हैं—देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता'; 'चन्द्रकान्ता संतति' (चौबीस भाग) 'भूतनाथ' (छै भाग)। दुर्गाप्रसाद खत्री, 'भूतनाथ' के शेष (पन्द्रह भाग) 'रक्त मंडल' 'लाल पंजा', 'प्रतिशोध', 'सुफ़ेद शैतान'। 'किशोरीलाल गोस्वामी 'कटे मूढ़ की दो-दो बातें या तिलिस्मी शीशमहल'। हरिकृष्ण गौह्वर—'कुसुमलता'। इन उपन्यासों में कल्पना की निर्बन्ध क्रीड़ा का चमत्कार खूब देखने को मिलता है। इन रचनाओं का सारा आकर्षण विस्मयजनक घटनाओं की कौशलपूर्ण योजना पर अवलम्बित रहता है।

जीवन के अनाकर्षक, नीरस एवं कठोर यथार्थ से ही ये उपन्यास एक अनोखे रंग-विरंगे संसार की सृष्टि करते हैं। चन्द्रकान्ता के लेखक ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है।[1] जगत के राग-विराग, शोक, संताप और हर्ष-अमर्ष

---

१ 'कुछ दिनों की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवादपत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकान्ता) कथानक सम्भव है या असम्भव। मैं नहीं समझता यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पचतन्त्र, हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गये, उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये, पर यह सम्भव है कि असंभव

के संक्षुब्ध वातावरण से भाग कर इस अद्भुत लोक में किंचित विश्रान्ति की प्रवृत्ति ही इन उपन्यासों की प्रेरणा है। ये जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं, तथ्य की विरस अनिवार्यता के विरुद्ध आकांक्षाओं के आग्रह पर कल्पना की सरस प्रतिक्रिया हैं। इनमें मानव के मूल-भूत भाव राग-द्वेष, क्रोध-करुणा, प्यार-घृणा आदि को उद्वेलित करने का यत्किंचित प्रयास पाया जाता है। इनके पात्रों की आह कराह और हमारे हृदय के हाहाकार में कोई मेल नहीं दीखता।

इसके तुरन्तबाद ही अय्यारी से कहीं अधिक बुद्धिगम्य तथा स्वाभाविक जासूसी की परम्परा का श्रीगणेश हुआ। घटना प्रधान एवं वैचित्र्यपूर्ण रचनाओं की आरम्भिक सफलता के कारण गोपालराम गहमरी ने युग की माँग के अनुरूप सांसारिक एवं विश्वसनीय घटनाचक्र की योजना करके जासूसी उपन्यासों की परम्परा का श्रीगणेश हिन्दी साहित्य में किया। यों तो रहस्यमय एवं रोमांचकारी घटनाओं के प्रति साधारणतः मानव-मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता हैं पर आधुनिक जासूसी उपन्यास काफी जटिल और पेंचदार समाज की देन है। इन जासूसी उपन्यास को पूर्णरूप में योरोप-विशेषतः इंगर्लण्ड की देन माना जाता हैं।[1] स्काटलैंड यार्ड की पुलिस और जासूसो के साहस, निर्भयता तथा बुद्धिचातुरी को लेकर इंग्लैंड में जासूसी उपन्यासों की भरमार हो चली थी। अंग्रेजी साहित्य की यह प्रवृत्ति हिन्दी में गहमरी जी के द्वारा व्यक्त हुई और खूब सफल भी रही। यद्यपि चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से इन उपन्यासों का विशेष महत्व नहीं है, परन्तु इनके द्वारा जनता में उपन्यास पढ़ने की रुचि ने व्यसन का रूप ले लिया।

जासूसी उपन्याओं में भी आकर्षण घटनाओं की विलक्षणता पर ही निर्भर होता है। कहीं चोरी हत्या आदि होने पर जासूस किस प्रकार सतर्कता से सम्बद्ध स्थलों, व्यक्तियों और घटनाओं की सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल कर के

इस पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा-सा नमूना है। चन्द्रकान्ता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिये नहीं कि लोग उनकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत इसीलिये कि पाठ कौतूहल-वर्द्धक हो।

—देवकीनन्दन खत्री।

१. शिवनारायण श्रीवास्तव—हिन्दी उपन्यास—पृ० ७२

असली अपराधी का पता लगाता है, इसका रोचक और कौतूहलवर्द्धक विवरण ही इन उपन्यासों का विशिष्ट-आकर्षण होता है। इन जासूसी उपन्यासों का संबंध विशेषकर आधुनिक समाज से ही होता है। और इनमें वर्णित घटनाओं के अनुपात से समाज तथा इनके पात्रों के चरित्र का कुछ चित्रण भी हो जाता है। यह पात्र मानव-दानव दोनों ही होते हैं और उनके साहस, निर्भीकता तथा घटनाचक्र में फंसने-फंसाने, निकलने की धीरता, बुद्धि-कौशल आदि ही का विवरण इनमें रहता है। अतः ये मानव समाज के लिये कुछ उपयोगी कहे जा सकते हैं।

इन उपन्यासों का कथानक प्रायः एक सा ही होता है। चोरी, डाके अथवा सनसनीदार हत्या से प्रारंभ होकर पुलिस की पता लगाने से असफलता में जासूस की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। उस समय किसी ख्याति नाम जासूस का सहारा लिया जाता है। पुनः उन अपराधियों और जासूस तथा उनके सहायकों का संघर्ष प्रारंभ होता है। बीच में जासूस की असफलता तथा लूटपाट, चोरी तथा हत्याओं का बोल बाला रहता है। अपराधी सफल होते से जान पड़ते हैं। किसी-किसी जासूसी उपन्यास में तो जासूस की जान पर आ बनती है। उसका अन्त सुनिश्चित सा होता है। तभी आकस्मिक एवं पूर्णरूपेण अप्रत्याशित ढंग से कहानी का घटनाचक्र परिवर्तित हो जाता है और नाटकीय-ढंग से अपराध का उद्घाटन और अपराधी जिसकी ओर तो कभी-कभी पाठक का ध्यान भी नहीं जाता उसका पता चलता है। जासूसी उपन्यासों को बड़ी लम्बी सूची के कुछ नाम ये हैं:—'घटना-घटाटोप' 'खूनी कौन है ?', 'जमुना का खून', 'जासूस की भूल' 'देवरानी-जिठानी', 'जासूस की चोरी'; अंधे की आँख', 'जालराजा', 'दो बहिन' आदि।

ऐतिहासिक दृष्टि से और महत्व की दृष्टि से भी तिलस्मी उपन्यासों के बाद साहसिक उपन्यासों का स्थान है। इन उपन्यासों में साधारणतः डकैतों का एक झुंड किसी नगर में आता है और धनियों के घर डाके पड़ते हैं। पुलिस और जासूस डाकू पकड़ने के लिये छोड़े जाते हैं। और अन्त में वे सफल भी होते हैं। साहसिक उपन्यास तीन प्रकार के हैं।

प्रथम प्रकार के साहसिक उपन्यासों का प्रतिनिधि चन्द्रशेखर पाठक का 'अमीर अली ठग' है, जिसमें प्रसिद्ध ऐतिहासिक ठग अमीरअली अपनी अतीत की कहानी सुनाता है। परन्तु उपन्यास का नायक अभयराम है जो वीर और उदार है। ये ठग या डाकू और हैं, उदार हैं, अभिमानी हैं और मान पर मर मिटने वाले हैं, परन्तु उसका कार्य नैतिक दृष्टि से निकृष्ट है। वे अठारहवीं शताब्दी

के ठगों के अनुगामी जान पड़ते हैं। उनका अपना स्वतंत्र नैतिक आदर्श है, वे सच्चे प्रेमी और वीर होते हैं परन्तु उनके साधन, उनके कार्य आधुनिक सरकार के विधानों के प्रतिकूल हैं। इन डकैती उपन्यासों को अठारहवीं शताब्दी के ठगों के रोमांचकारी कृत्यों से बहुधा प्रेरणा मिली।

द्वितीय प्रकार के साहसिक उपन्यास के नायक डकैत प्रथम प्रकार के ठगों से नितांत विपरीत होते हैं। वे कामी, लोभी, कठोर और अमानुषिक कर्म करने वाले राक्षसों के समान होते हैं, वे धनी, निर्धन, सज्जन और दुष्ट सभी को लूटते-खसोटते हैं, हत्या करने में जरा भी संकोच नहीं, कंचन और कामिनी के प्रति उनको लोभ का कोई अन्त नहीं। वे बड़े ही साहसी और बहादुर होते हैं। पुलिस और जासूस इनका पीछा करते हैं और अन्त में डकैत पकड़े जाते हैं।

तृतीय प्रकार के साहसिक उपन्यास बीसवीं शताब्दी के हिंसात्मक आन्दोलन के आधार पर लिखे गये। कुछ उत्साही देशभक्तों ने मातृभूमि भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिये एक गुप्त संस्था बनाई जिसका उद्देश्य था हिंसात्मक रीति से भारत को स्वतंत्र बनाना। चपेकर बंधुओं ने १८९७ में इसका प्रारंभ महाराष्ट्र में किया, जो क्रमशः बढ़ कर बंगाल, संयुक्त प्रान्त और पंजाब तक फैल गया। रक्त-मंडल उपन्यास इसी प्रकार का एक उपन्यास है।

(आ) ऐतिहासिक कथानक वाले उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास के शैशव-काल में हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास उच्चकोटि के और पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। संख्या में तो हिन्दी में भी ऐतिहासिक उपन्यासों की कमी नहीं रही, यद्यपि वे तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों से बहुत कम रहे, परन्तु उच्च-कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास इस काल में हिन्दी में एक भी नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिन्दी में उपन्यास घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, शिक्षित और सभ्य जनता उपन्यास लिखना तो दूर रहा, पढ़ना भी पसंद नहीं करती थी। तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की लोकप्रियता के कारण जनता ने भी कभी ऐतिहासिक उपन्यास की माँग न की। जो कुछ थोड़े-से लोग ऐतिहासिक उपन्यास पढ़ना भी चाहते थे उनके लिए बंगला और मराठी से अनुवादित उपन्यास मिल जाया करते थे। साधारण जनता तो तिलिस्म जासूस तथा ऐयारों के पीछे पागल हो रही थी और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी इन्हीं की खोज करती थी। इसलिये उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलिस्म, अय्यार आदि की सृष्टि किया करते थे।

आरंभ के हिन्दी के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाममात्र के ऐतिहासिक हैं क्योंकि उनमें लेखकों ने इतिहास की ओट में तिलिस्म, अय्यार और प्रेम प्रसंगों की ही अवतारणा की हैं। उस युग का सांस्कृतिक वातावरण महत चरित्रों का चित्रण तथा महान भावनाओं का अतिरंजित चित्र उनमें लेशमात्र भी नहीं है।[1] अस्तु, किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'लखनऊ की कब्र' में तिलिस्म और अय्यारों का चित्रण हैः—'शोणित-तर्पण' में जिसमें १८५७ के सिपाही-विद्रोही का हाल है। किशोरीलाल गोस्वामी के १८६० में प्रकाशित 'लवंगलता' को प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है, नाम-मात्र की ऐतिहासिकता को लिए हुए उपन्यासों में से अधोलिखित कुछ नाम उल्लेखनीय हैं—

बलभद्रसिंह ठाकुर—'सौन्दर्यकुसुम, 'जयश्री' एवं 'सौन्दर्यप्रभा।

किशोरीलाल गोस्वामी—'सेना और सुगन्धि', 'लालकुँवर' एवं 'रजिया बेगम'।

ब्रजनंदन सहाय—'लाल चीन'।
दुर्गाप्रसाद खत्री—अनंगपाल'
गोविन्दवल्लभ पंत—'सूर्यास्त'
भगवतीचरण वर्मा—'पतन'
ऋषभचरण जैन—'गदर'।

हिन्दी में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास-रूप में इतिहाससात्र हैं, जिनमें ऐतिहासिक कहानियाँ उपन्यासरूप में ढाल दी गई हैं। रानी दुर्गावती' 'वीरपत्नी अथवा संयोगिता में रानी दुर्गावती और संयोगिता की कहानियाँ गद्य में अर्द्ध-नाटकीयशैली में लिख दी गई हैं, जिनमें कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिए गए हैं।

इस समय के केवल इने-गिने ऐतिहासिक उपन्यास ही वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में आ सकते है। ब्रजनंदनसहाय रचित 'लालचीन' एक सुन्दर ग्रन्थ है, परन्तु यह शेक्सपियर के 'मैकवेथ' नाटक का मध्यकालीन मुस्लिम इतिहास के वातावरण में एक रूपांतर मात्र जान पड़ता है। श्याम-बिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र रचित 'वीरमणि' भी एक सुन्दर रचना है, जिसमें पद्मिनी के लिए अलाउद्दीन का चितौड़ पर चढ़ाई के ऐतिहासिक प्रसंग से एक काल्पनिक प्रसंग का सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है।

डा० श्रीकृष्णलाल–'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—पृ० ३०२-३

परन्तु इस समय ऐतिहासिक उपन्यास संख्या और श्रेष्ठता दोनों ही की दृष्टि से बहुत ही अवनत अवस्था में था। हिन्दी में ऐसा एक भी उपन्यास नहीं था जिसकी तुलना बंगला साहित्य के 'चन्द्रशेखर', 'माधवीकंकण', 'शशांक', 'करुणा', 'राजपूत जीवन संध्या और 'महाराष्ट्रजीवन प्रभात', अथवा मराठी के 'सूर्यग्रहण'; 'उषाकाल', 'छत्रसाल' और 'सम्राट अशोक' इत्यादि उपन्यासों से की जा सकती।

यथार्थतः हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास लेखन का कार्य वृन्दावन लाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' से प्रारम्भ होता है। भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' तथा वृन्दावनलाल वर्मा का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' भी प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में आती है। कदाचित् हिन्दी में प्रथमवार इन कृतियों के माध्यम से ऐतिहासिक तथ्यों को एक कलात्मकरूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इनके पश्चात् तो ऐतिहासिक कथानक वाले उपन्यासों की परंपरा चल पड़ी। वृन्दावनलाल वर्मा, श्री गुरुदत्त, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं यशपाल, रांगेयराघवादि ने उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। उनमें से कुछ उपन्यास निम्नलिखित हैं—'वैशाली की नगरबधू', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्या बाई' आदि सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। 'मुसाहिब जू' में अर्द्ध ऐतिहासिक कथानक है। श्री गुरुदत्त के 'स्वाधीनता के पथ पर' 'पथिक' 'विश्वासघात' आदि युगजीवन के सफल चित्र खींचने वाले उपन्यास हैं। ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से मार्क्सवाद, साम्राज्यवाद, गांधी-वाद आदि सब की व्याख्या की गई है। यशपाल की 'दिव्या', भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा', राहुल का 'सिंह सेनापति', 'जययोधेय' एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा', डा० रांगेयराघव का 'मुर्दों का टीला' सफल ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

इन ऐतिहासिक तथ्यों का निर्धारण गजेटियरों, इतिहास की पुस्तकों, शिलालेखों, पुरातत्व की सामग्रियों, मूर्तियों तथा पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर विद्वानों के इतिहास विषयक लेखों और विवादों से लेखक कर लेते हैं और कुछ कल्पना का पुट देकर कथानक को ससंबद्ध एवं सुनियोजित कर देते हैं। ये कृतियाँ पर्याप्त अध्ययन एवं विचार विमर्श के उपरान्त निर्धारित परिणामों के आधार पर लिखी जाती हैं। लेखकों को प्रामणिक सामग्री देने में बहत कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिए जिस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री तथा इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है।

इतिहासकार उपलब्ध सामग्री एवं शोध के आधार पर प्रस्तुत युग को देखता, तद्विषयक तथ्यों का आकलन, आलेखन और उनकी व्याख्या करता है, ऐतिहासिक उपन्यासकार वातावरण की प्रामाणिकता में कल्पना का समावेश कर एक नई दुनियाँ ही रच डालता है। इतिहास का यह सृजनात्मक द्रष्टा ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने व्यक्तित्व के आग्रह और कल्पना के सहारे तथ्यों की धरा पर अनायास ही 'अतःतरस' के अद्भुत लोकों की सृष्टि कर डालता है।[1]

(इ) **पौराणिक अथवा धार्मिक कथानक वाले उपन्यास**—धर्म की प्रायः तीन अवस्थाएँ विश्व इतिहास में मिलती हैं—

१—जब धर्म शास्ता और शासक का स्थान ग्रहण करता है,

२—जब सामायिक व्यवहार और दिखावे को छोड़ कर धर्म का कोई स्वरूप नहीं होता और

३—धार्मिक अविश्वास के युग में धर्महीनता की अवस्था।

आज के बौद्धिक युग का मनुष्य धर्म के परंपरागत विश्वासों तथा रीति-रिवाजों के परे कोई सत्ता स्वीकार नहीं करता। प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यकार धर्म की नवीन-व्याख्या अपनी दृष्टि से उपस्थित करता है। दूसरी ओर प्राचीनपंथी लोग पुरानी रूढ़ियों से चिपके रहने को धार्मिकता मानते हैं। अतः धार्मिक उपन्यास जो दो चार हिन्दी में हैं भी वे पौराणिक ढंग पर लिखे गये हैं। पौराणिक उपन्यासों की सृष्टि आरम्भ के ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग पर ही हुई। इनका कथानक अधिकांश में पुराणों से लिया गया था यथा ('सती-सीता', 'वीर कर्ण,' 'सुभद्रा' इत्यादि)। इन उपन्यासों का उद्देश्य अँग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित तथा प्राचीन साहित्य और संस्कृति के प्रति उदासीन जनता को प्राचीन साहित्य से परिचित कराना

---

1 "The ideal of an imaginative reconstruction of the past which is scientific in its determination and artistic in its formulation is the ideal to which the greatest of historians have ever aspired".

—COHEN *The Meaning of Human History*"—P. 54.

इन उपन्यासों की बराबर बढ़ती माँग को पुराणों से सामग्री लेकर पूरा करना था। इन उपन्यासों का एक तीसरा उद्देश्य स्त्री-शिक्षा का प्रसार भी था। स्त्री शिक्षा के प्रसार से स्त्रियों को भी उपन्यासों की आवश्यकता पड़ी। तिलिस्मी, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों के स्थान पर उनके लिये धार्मिक कहानियों पर आश्रित पौराणिक उपन्यास लिखे गये।

उच्चकोटि के साहित्यिक उपन्यासों का इस क्षेत्र में अभाव है। पं० गौरीशंकर मिश्र के दो उपन्यास—'बलिदान मंदिर', 'जयदेव' इस दिशा में कुछ सफल प्रयोग कहे जा सकते हैं।

ऐतिहासिकता रोमांस एवं सामाजिकता से प्रच्छन्न धार्मिक उपन्यासों का प्रचलन बंगाली और गुजराती साहित्य में पहले ही से था। बंकिम बाबू के 'आनन्द मठ' और 'देवी चौधरानी' धार्मिक विश्वास की आस्था, देशप्रेम एवं संयमित जीवन के आधार रूप में प्रकट हुई थी। वर्तमान समय में के० एम० मुन्शी के धार्मिक रोमांसों ने उनके ऐतिहासिक रोमांसों से कम प्रसिद्धि नहीं पाई। उनके उपन्यास त्रय (त्रिलोजी) 'भगवान परशुराम', 'लोपामुद्रा', 'लोमहर्षिणी', ने भारतीय उपन्यास साहित्य में उपन्यासकारों के कृतित्व को एक नयी दिशा दी। उनके प्रथम उपन्यास 'वैरनी वसूलात' में 'तनमन के चरित्र के उपरान्त धार्मिकता का वातावरण तथा 'सिद्धनाथ' ऐसे लौहपुरुष तथा ऐसे सिद्ध पुरुष को सुदृढ़ व्यक्तित्व उपन्यास संसार में धार्मिकता की अवतारणा करते हैं। हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिकता के साथ दूध पानी की भाँति मिली हुई धार्मिकता भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में आज के जागृत मस्तिष्क का प्रश्न चिन्ह बन कर आती है। राहुल जी तथा चतुरसेन शास्त्री के कतिपय उपन्यासों 'जयसोमनाथ', 'जययोधेय', 'वयमरक्षाम्' के विषय में भी यही कहा जा सकता है। तथागत का चरित्र एवं उनसे प्रभावित स्त्री-पुरुषों के चरित्र तो हिन्दी साहित्य में भी मिल जाते हैं—यथा 'दिव्या', 'आम्रपाली'।

(ई) सामाजिक कथानक—प्रधान उपन्यास—इस वर्ग के अंतर्गत उपवर्ग किये जा सकते हैं—

(क) प्रेमाख्यानक, (ख) उपदेश प्रधान और (ग) समस्या प्रधान सामाजिक उपन्यास।

(क) प्रेमाख्यानक उपन्यास—ऐय्यारी, साहित्यिक और जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमाख्यानक उपन्यास भी हिन्दी में पर्याप्त संख्या में मिलते

हैं जिनमें प्रेमी और प्रेमिकाओं के हाव-भाव और संयोग-वियोग का सुन्दर और विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें वासना रंजित, रसात्मक, दूर की सूझ और ऊहात्मक, उक्तियाँ भी खूब मिलती हैं। इनके आदि लेखक किशोरीलाल गोस्वामी हैं। सन् १८८९ में ही 'स्वर्गीय कुसुम' की रचना हो गई थी। 'तारा', 'अँगूठी का नगीना', 'कुसुमकुमारी' आदि गोस्वामी जी के अनेक प्रेम-कथा प्रधान उपन्यास इसी वर्ग के हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने युग की समस्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों को स्वायत्त कर लिया था।

दूसरे वर्ग के उपन्यासों में कुछ उपन्यास फारसी काव्य की प्रेम की परंपरा के अनुसार लिखे गये। इन उपन्यासों में प्रेमी को प्रेमिका से मिलने के लिये बहुत बड़े-बड़े और साहसिक कार्य (यथा पहाड़ तोड़ना, (शरी-फरहाद) अपने प्रतिस्पर्धी से युद्ध करना तथा ऐसे ही कितने अद्भुत कार्य) करने पड़ते हैं। इस प्रकार के प्रेमाख्यानों में अति नाटकीय प्रसंगों तथा अस्वाभाविक और अयथार्थ कार्यों की भरमार रहती है। इस पद्धति पर लिखे गये रामलाल वर्मा के 'गुलबदन' में अस्वाभाविक कार्य और अति-नाटकीय प्रसंग अधिकता से पाये जाते हैं।

आधुनिक ढंग के प्रेमाख्यानक उपन्यासों का आरंभ चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख' से होता है। चतुरसेन शास्त्री के 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाषा' तथा 'आत्मदाह' 'उग्र' के 'चन्द हसीनों के खतूत' तथा 'बुधुआ की बेटी', 'निराला' के 'अलका' एवं 'निरूपमा', वृन्दावनलाल वर्मा के 'प्रेम की भेंट', कुंडली चक्र', 'अचल मेरा कोई', धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता' रेणु के 'परतीः परिकथा', अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' आदि उपन्यासों में प्रेम का चित्रण आधुनिक शैली पर हुआ। यथार्थता, मनौवैज्ञानिकता एवं समस्यापूर्ण दृष्टि वे मुख्य विशेषताएँ हैं जो इन उपन्यासों को गोस्वामी आदि के उपन्यासों से पृथक् करती हैं।

(ख) **उपदेश प्रधान**—उपदेश प्रधान उपन्यासों का विशेष प्रचलन लगभग सन् १८८२ से प्रारम्भ होता है। सर्व-प्रथम परीक्षागुरू नामक उपन्यास इस दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। धीरे-धीरे सामाजिक आवश्यकताओं को अनुभव करके लेखकों ने उपदेश प्रधान उपन्यास लिखनाप्रभृति में जारी रखा। इन उपन्यासों में लेखकों के धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक मान्यताओं के आधार पर उपदेशात्मक कथानक संवार आदि का विधान होता था। इन उपन्यासों में लेखकों के धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक मान्यताओं के आधार

पर उपदेशात्मक कथानक संवाद आदि का विधान होता था। इन उपन्यासों में कुछ तो पौराणिक आधार पर और कुछ सामाजिक प्रश्नों को लेकर कथानक की सृष्टि की गई थी। पौराणिक आधार पर लिखे गये कतिपय प्रमुख उपन्यास ये हैं—'सती-सावित्री', 'शर्मिष्ठा', 'सती सीता', 'सती मदालसा', आदि इस विषय में इतना स्मरणीय है कि इन उपन्यासों ने जन-जीवन के भव्य, सत्य, दया, पातिव्रत धर्म-पालन, त्याग, तपस्या परमार्थ आदि के गुणों की प्रतिष्ठा द्वारा मानवीय गुणों के विकास में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। सामाजिक कुरीतियाँ यथा बाल-विवाह, वृद्धि-विवाह, दहेज-प्रथा, अस्पृश्यता आदि के निवारणार्थ भी लेखकों ने अनेकानेक औपन्यासिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। साथ ही पारिवारिक-जीवन के भी कतिपय चित्र अपने हलके-गहरे रंगों के साथ उपस्थित हुए। इन चित्रों के मूल में भी लेखक पारिवारिक-सुख-समृद्धि की कामना को संजोता रहता था। इस प्रसंग में यह कहना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा कि लेखक की उपदेश प्रधान मनोवृत्ति के कारण कला की कमनीयता में वृद्धि नहीं हो सकी। इस युग की प्रमुख उपदेशात्मक कृतियाँ ये हैं—गोपालराम गहमरी के 'बड़ा भाई' एवं सास-पतोहू कार्तिक प्रसाद खत्री का 'दीनानाथ', ईश्वरीप्रसाद का 'स्वर्णमयी', रामनरेश त्रिपाठी का 'मारवाड़ी और पिशाचिनी', लज्जाराम शर्मा का 'आदर्श हिन्दू', ब्रजनन्दन सहाय का 'अरण्य बाला' तथा चाँदकरण का 'कालेज होस्टल', शिक्षा एवं उपदेश प्रधान उपन्यासों के प्रथम काल के प्रमुख एवं प्रतिनिधि उदाहरण हैं।

प्रेमचन्द तक आते-आते उपदेश प्रधान कृतियों का प्रचलन प्रायः न्यूनातिन्यून होने लगा। लेखक की उपदेशात्मक वृत्ति का पोषण आदर्शवादी भावनाओं की सृष्टि में होने लगा।

(ग) समस्या-प्रधान सामाजिक-उपन्यास

अन्य भाषाओं के उपन्यासों की भाँति ही हिन्दी में भी विशुद्ध रूप से सामाजिक प्रश्नों को लेकर लिखे गये उपन्यासों का प्रायः अभाव ही है। समाज का और राजनीति का बड़ा ही व्यापक एवं गंभीर सम्बन्ध है। अस्तु, लेखक ने प्रायः समाज और राजनीति के प्रश्नों का एक ही साथ लेने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिये हम प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही ले लें। उनमें राजनीतिक वातावरण का भी चित्रण है। और साथ ही ग्राम्य एवं नागरिक जीवन की नाना-समस्याएँ, श्रमिक, कृषक, एवं धनिक वर्ग के विभिन्न चित्र भी हैं। बीच-बीच में धार्मिक प्रश्नों एवं अनेकानेक समस्याएं भी

विद्यमान हैं। समाज के विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के जीवन चित्र भी उपस्थित किये गये हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का 'सेवासदन' (सन् १९१८) अपना विशेष महत्व रखता है। 'गोदान' (सन् १९३६) में प्रेमचन्द ने अपनी इस कला का अत्यन्त भव्य एवं जीवन व्यापी स्वरूप उपस्थित किया। उक्त परम्परा के कतिपय प्रतिनिधि उपन्यास काल क्रमानुसार इस प्रकार हैं—'प्रेमाश्रम', 'देहाती दुनियाँ', 'रंगभूमि', 'काया कल्प', मीठी चुटकी', 'विदा', 'निर्मला', 'अनाथ-पत्नी', प्रतिज्ञा' 'मां' 'कंकाल' 'वेश्या-पुत्र,' 'सत्याग्रह, शराबी', 'अप्सरा' 'गबन', त्यागमयी, 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा, 'सुनीता', 'कर्मभूमि' 'तितली' ,'गोदान', 'मदारी', 'वचन का मोल', 'मोल', 'विजय', 'प्रश्न', 'विकास', 'तलाक', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'चढ़ती धूप', 'उल्का', 'नारी' ।

इन कृतियों में सामाजिक समस्याओं को लेकर लेखकों ने विभिन्न रूपों में विचार किया है। समाज का एक पददलित वर्ग है जिसमें कृषक, श्रमिक भिक्षुक, वेश्याएँ, विधवाएँ आदि हैं। इनका नारकीय जीवन किसी भी हृदय को हिला सकता है। इनकी करुण कथा समाज के लिए एक कलंक के रूप में है। लेखकों ने अपनी कृतियों में इनकी समस्याओं को अत्यन्त उदार दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। इन समस्याओं के प्रकारान्तर से समाधान भी उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ हम 'हृदय की प्यास', एवं 'अमर अभिलाषा' को ले सकते हैं। इनमें नारी-जीवन की करुण स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसी प्रकार (विदा', 'सुनीता', विकास,' 'उल्का', 'प्रश्न', 'तलाक' 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', आदि) कृतियों में नारी की विभिन्न समस्याओं पर लेखकों ने अत्यन्त गंभीरता के साथ विचार किया है।

(उ) राजनीतिक अथवा राजनीतिक कथानक वाले उपन्यास

हिन्दी में राजनीतिक उपन्यासों की कोई सुसम्बद्ध परम्परा नहीं है। अतः अब तक राजनीतिक उपन्यास का कोई 'स्कूल' नहीं चल पाया है। सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं का परस्पर इस भाँति सम्मिश्रण हो गया है कि जिस प्रकार शुद्ध सामाजिक उपन्यास नहीं है, उसी प्रकार शुद्ध राजनैतिक उपन्यास नहीं के बराबर हैं। विदेश के विख्यात राजनीतिक उपन्यासकार 'डिजरैली', 'एच०जी० वेल्स' 'हक्सले' 'जार्ज अखेल' आदि उपन्यासकार होने के साथ-साथ चिन्तक भी हैं।

भारतवर्ष के राजनीतिक जागरण का इतिहास बहुत अंश तक राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलनों का ही इतिहास है, जो प्रेमचन्द के साथ आरंभ होता

है। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' में किसान जागरण का 'कर्मभूमि' में सहयोग से उमड़ती जन-भावना का 'गबन' में पुलिस के हथकन्डों का तथा 'मंगलसूत्र' में क्रान्तिकारी भावनाओं का और 'गोदान' में गांधीवादी अहिंसात्मक विचारों का चित्रण किया गया है। जैनेन्द्र की 'सुनीता' 'सुखदा', और 'विवर्त' आदि में क्रान्तिकारियों का रहस्यमय जीवन, अपनी पूर्ण-सजीवता के साथ व्यक्त हुआ है। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के 'पुरुष और नारी' में 'सत्याग्रह आन्दोलन' का अच्छा चित्रण हुआ है। ठाकुर श्रीनाथ सिंह के 'जागरण' में गांधी जी के 'गांव की ओर लौटो' वाला नारा अभिव्यक्त हुआ है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का 'पतितों के देश' में मोहनलाल महतो वियोगी के 'विसर्जन' और 'फरार' राजनीतिक हलचलों को व्यक्त किया गया है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण से समूचा प्रेमचन्द मंडल गांधीजी के आदर्शों से प्रभावित प्रतीत होता है। उनका समाजवादी दृष्टिकोण नैतिकता की कसौटी पर खरा उतरता है। जब कि इस प्रकार के उपन्यासों का एक दूसरा वर्ग भी है, जिसके विचार पहले-से भिन्न हैं, वह है—साम्यवाद से प्रभावित लेखकों का।

हिन्दी में साम्यवादी उपन्यास की चर्चा में उन्हीं उपन्यासों को लिया जायगा जिनके लेखक विचारक्रम से स्वयं भी साम्यवादी हैं। इस प्रकार के लेखक अपनी रचनाओं को साम्यवादी आदर्शों और सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति की वाहिका के रूप में प्रस्तुत करते हैं। साम्यवादी रचनाओं का मूलाधार हैं मार्क्सवादी दर्शन। मार्क्स की विचार परम्परा के अनुसार मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व से निर्दिष्ट होती है। पार्थिव-शक्तियों की अवस्थिति- से विचारात्मक प्रक्रिया का जन्म होता है। अतः मूल में वस्तुवादी दृष्टिकोण होना सर्वथा अपेक्षित है। मार्क्सवादी साहित्यकार अपने साहित्य के केन्द्र में मानव की प्रतिष्ठा करता है। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार समाज में केवल दो वर्ग हो सकते हैं—सर्वहारा और शोषक वर्ग के आज मशीन युग में बहुत बड़ा वर्ग आर्थिक गुलामी से ग्रस्त है। आर्थिक विपन्नता का अर्थ है—जीवन धारण के तत्वों का अभाव। भौतिक जीवन का यह अभाव व्यक्तित्व को अत्यन्त संकीर्ण, निष्प्राण और रुद्ध कर देता है। नैतिक मान्यतायें और चारित्रिक मूल्य अत्यधिक गिर जाते हैं। शोषक और शोषित दोनों वर्गों में अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि मानसिक विक्षिप्तता और योनविकृतियाँ आ जाती हैं। मार्क्सवाद के ही प्रकाश में हम सब व्यक्ति और समाज की समस्याओं का ठीक निदान कर पाते हैं। मार्क्सवादी अपनी इस बिचार-

सरणि को प्रत्येक स्थान, परिस्थिति और समय में अबाध रूप से प्रयुक्त करता है। इस दृष्टि से उसे वह एक शाश्वत और सार्वदेशिक दर्शन के रूप में स्वीकार करता है।

साम्यवादी उपन्यासों में आर्थिक आधार की खोज और दृष्टि का महत्व इतना अधिक हो जाता है कि उसकी सबसे आवश्यक वस्तु संवेदनीयता प्रायः हलकी पड़ जाती है। किसी भी साहित्य प्रकार की सफलता की सर्वमान्य कसौटी उसकी संवेदनशीलता है। सोवियत साहित्य में इस दृष्टि से बहुत कम सफल रचनाएं उतर चुकी हैं। कभी-कभी लेखक उत्साह में अपने सैद्धान्तिक विश्वासों और रूढ़ियों को ही चरित्र के क्रियात्मक चित्रण का रूप समझ लेता है। कलात्मक सौष्ठव और संवेदनीयता के लिए इससे बढ़कर घातक अन्य कोई भूल नहीं।[1]

'मार्क्सवादी कलाकारों में यशपाल, नरोत्तम नागर, सर्वदानन्द वर्मा, अमृतराय, नागार्जुन तथा रांगेयराघव प्रमुख हैं। यशपाल ने 'दादा कामरेड' 'पार्टी,' कामरेड', 'देश द्रोही', मनुष्य के रूप आदि में साम्यवादी विचारधारा की सफल अभिव्यक्ति हुई है। नरोत्तम प्रसाद के 'दिन के तारे', सर्वदानंद के 'नरमेध' तथा 'आनन्द निकेतन' अमृतराय के 'बीज' नागार्जुन के 'बचनामा' तथा 'रतिनाथ की चाची' रांगेयराघव के 'विषाद मठ' और 'हुजूर' आदि में गांधीवादी विचारों की जमकर खिल्ली उड़ाई गई है और जन-पदीय समस्याओं का चित्रण प्रचारवादी दृष्टिकोण से किया गया है। अंतिम दो उपन्यासों में विशेष रूप से आज के समाज के शोषण, नग्नता, दारिद्रय और परवशता का चित्रण किया गया है। उपर्युक्त उपन्यासों में लेखकों ने पाठक की संवेदना को गहराई से स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। अंचल के 'चढ़ती धूप' 'नई इमारत' और 'उल्का' सेठ गोविन्ददास के 'इन्दु' गुरुदास के 'स्वाधीनता 'स्वाधीनता के पथ पर', 'पथिक' 'पथिक' 'विकृत छाया' 'स्वराज्य दान' 'भावुकता' का मूल्य, 'विश्वासघात' मन्डल जो के 'बुझने न पाए', किशोरी

1. But for the form of writing which substitutes the opinion of the author for the living setions of human being they (Marx & Engels) always possessed the greetest contempt.

—RALPH FOX.—'*The Novel and the People*'

नारायण के 'राष्ट्र के लिए' आदि उपन्यासों के पिछले २५-३० वर्षों की राजनीतिक हलचलों का बड़ा ही सजीव चित्रण मिलता है।

(ऊ) अन्य कथा-प्रधान उपन्यास

इन उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ कथा-प्रधान उपन्यास ऐसे भी हैं जो इनके अन्तर्गत नहीं आते। इनमें लक्ष्मीदास जोशी रचित 'जपा-कुसुम अथवा नई सृष्टि' में 'राबिन्सन क्रूसो' के ढंग की एक सैतानी की कहानी है, जिसे सफल नहीं कहा जा सकता। व्रजनंदन सहाय-रचित 'आरण्य वाला' बाण की 'कादंबरी' का एक भद्दा और असफल अनुकरण मात्र है।

इस कथा-प्रधान उपन्यासों की सबसे प्रधान विशेषता थी—प्रेम का चित्रण। अंग्रेजी राज्य के 'शांतिमय' वातावरण में जनता के मनोरंजन के लिए प्रेम से बढ़कर और कौन-सा विषय हो सकता था ? भारतवर्ष में प्रेम-साहित्य का एक मुख्य और चिरंतन विषय रहा है। हिन्दी में उपन्यासों का भी प्रारंभ उसी प्रेम के चित्रण से होता है। कथा-प्रधान उपन्यासों में प्रेम की सबसे प्रधान विशेषता थी उसका परंपरागत चित्रण। सभी उपन्यासों में प्रेम की धारा अबाध गति से बहती है।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों में चरित्र-चित्रण बहुत ही कम मिलता है। चरित्र सभी प्रायः किसी प्रकार-विशेष प्रतिनिधि ('टाइप') के से जान पड़ते हैं। वे चरित्र अधिकांश में या तो बिलकुल भले ही हैं या बिलकुल ही बुरे, बीच में कोई नहीं।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों के लेखकों ने संसार को एक अनोखे दृष्टिकोण से देखा। उसके अनुसार मानव वीर और कायर, बुद्धिमान और मूर्ख, सुन्दर और कुरूप हो सकता है, परन्तु स्वार्थ त्यागी और उदार कभी नहीं हो सकता। हजारों वर्षों की परतंत्रता में मनुष्य दिन-पर-दिन अधिक स्वार्थी और हीन होते गये। इन उपन्यासकारों में तात्कालिक समाज के इस विश्रृंखल रूप को ही देखा और उसे ही सत्य मान लिया। पिछले उपन्यासकारों ने भी समाज को इसी रूप में पाया, परन्तु उनमें मानव चरित्र के उदात्तगुणों के देखने की भी क्षमता थी, इसी कारण उन्होंने उन दोनों रूपों के चित्र उपस्थित किये, परन्तु इन उपन्यासकारों ने केवल एकांगी चित्र उपस्थित किये और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि इस प्रकार का दृष्टिकोण होते हुए भी उन्होंने काव्य-न्याय (Poetic Justice) पर इतना अधिक जोर दिया।

विषय-प्रधानता की दृष्टि से इसी वर्गीकरण को एक दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है—

(१) काल्पनिक कथानक-प्रधान उपन्यास। इसके तीन उपभेद हैं—(क) रोमानी, (ख) अन्यापदेशिक एवं (ग) यूटोपियन।

(२) सामाजिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

(३) ऐतिहासिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

(४) मनोवैज्ञानिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

(५) राजनीतिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

(६) पौराणिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

२—ढांचे की दृष्टि से वर्गीकरण—

(क) कथा के रूप में।

(ख) आत्मकथा या डायरी के रूप में।

(ग) चिट्ठी-पत्री के रूप में।

रामचन्द्र शुक्ल उपन्यासों के ढाँचों के अनुसार तीन मुख्य भेद करते हैं—कथा के रूप में, आत्मकथा के रूप में और चिट्ठी-पत्री के रूप में।[१] उनमें से अधिकतर उदाहरण तो प्रथम के ही सर्वत्र न हुआ करते हैं। द्वितीय के उदाहरण भी अब हिन्दी में काफी हैं, जैसे 'दिल की आग' (जी० पी० श्रीवास्तव), 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'व्यतीत' (जैनेन्द्र) वाणभट्ट की आत्मकथा (हजारी प्रसाद द्विवेदी) आदि। तृतीय के उदाहरण हिन्दी में बहुत कम पाए जाते हैं, जैसे, 'चंद हसीनों के खतूत' (उग्र) अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' का उत्तरार्द्ध एक प्रकार के पत्रात्मक उपन्यास का रूप ले लेता है।

३—कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार

कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार पं० रामचन्द्र शुक्ल[२] ने वर्तमान उपन्यासों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(१) घटना-वैचित्र्य प्रधान—इसके अन्तर्गत कुतूहलजनक जासूसी एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का चमत्कार दिखाने वाले उपन्यास आवेंगे यथा—'चन्द्रकान्ता सन्तति'।

(२) मनुष्य के अनेक पारस्परिक सम्बन्धों की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखने वाले, जैसे, 'सेवा सदन', 'निर्मला', 'गोदान', श्री विश्वम्भरनाथ 'कौशिक'

---

१ रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २४१।

२ वही..............पृ० ४१-४२।

का 'माँ', 'भिखारिणी', 'श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा', 'विकास', 'विजय', चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की प्यास' ।

(३) समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार को चित्रित करने वाले, जैसे, प्रेमचन्द जी का 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' प्रसाद का 'कंकाल', 'तितली' ।

(४) अन्तर्वृत्ति अथवा शील-वैचित्र्य और उसका विकास-क्रम अंकित करने वाले, जैसे, प्रेमचन्द जी का 'गबन', श्री जैनेन्द्रकुमार का 'तपोभूमि', 'सुनीता' ।

(५) भिन्न-भिन्न जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सम्बन्ध पर जोर देने वाले, जैसे राजा राधिकारमणप्रसादसिंह जी का—'राम—रहीम' ।

(६) समाज के पाखंडपूर्ण कुत्सित पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करने वाले, जैसे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'बुधुवा की बेटी ।'

(७) बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति की रमणीयता का समन्वित रूप में चित्रण करने वाले, सुन्दर और अलंकृत पद-विन्यास युक्त उपन्यास जैसे, स्वर्गीय श्री चंडी प्रसाद 'हृदयेश' का 'मंगल प्रभात' ।

४—क्रिया-कलाप की दृष्टि से उपन्यास चार वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(क) घटना प्रधान उपन्यास ।

(ख) चरित्र प्रधान उपन्यास ।

(ग) वातावरण प्रधान उपन्यास ।

(घ) भाव प्रधान उपन्यास ।

कभी-कभी उपन्यास में घटना और चरित्र का संतुलन रहता है । प्रेमचंद के प्रायः सभी उपन्यासों में घटनाएँ और चरित्र समान रूप से प्रधान हैं । घटनाओं की तुलना में चरित्र प्रधानता का परिचय उस समय मिलता है, जब कि हम जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यासों का अनुशीलन करते हैं ।

५—उपन्यास संघटन के अनुसार

'ऐडबिन म्योर' 'दि स्ट्रक्चर आफ दि नावेल' के अनुसार उपन्यास का वर्गीकरण चार विभागों में किया जा सकता है ।

(१) घटना और चरित्र-प्रधान ।

'एडविन म्योर' के अनुसार ऐसे उपन्यासों की संख्या सबसे अधिक है जो विशिष्ट घटना-क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं जिससे पाठक का मनोरंजन हो सके।[1]

'एडविन म्योर' चरित्र प्रधान उपन्यासों को कथात्मक गद्य साहित्य का प्रमुख अंग मानता है।

(२) नाटकीयता प्रधान-उपन्यास

शिवनारायण श्रीवास्तव[2] के अनुसार नाटकीय उपन्यास उपन्यास-वाङ्मय का सबसे महत्वपूर्ण भाव है।....इनमें कथावस्तु और चरित्र का भेद नहीं रह जाता। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि इन्हीं उपन्यासों में कला की पूर्णता दिखाई देती हैं। इनमें कथावस्तु और चरित्र का भेद नहीं रह जाता। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। शिव नारायण श्रीवास्तव के विचारपूर्ण अविकल रूप से एडविन म्योर के विचारों पर आश्रित हैं। इन उपन्यासों में घटनाओं और चरित्रों का उचित पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है।

३—जीवन के इतिहास खंड के रूप में अथवा इतिवृत्तात्मक क्रम के रूप में—

जब हम जीवन को प्रधान रूप से समय की व्याप्ति एवं स्थान के विस्तार में मनोयोग की दशा में संयोग द्वारा उपस्थित किये हुए दृष्ट रूप में देख पाते हैं, तब हम वास्तव में जीवन को उससे अधिक पूर्णता से समझते हैं जितना कि उस समय जब कि हम उसे समान रूप से जैसा कि साधारणतया होता है दोनों में ही स्थित रूप में देखते हैं। कुछ क्षण होते हैं जब हम एक बारगी ही अपने समस्त कृत्यों की, उनके कारणों की, उनके परिणामों की समय की, व्याप्ति में उनके समस्त-क्रम की झलक-सी पा जाते हैं। कुछ दूसरे क्षण होते हैं जब हमें इस बात का भान होता है कि हमारा पूर्ण आचरण एक वर्ग-विशेष का-सा है, हम अन्य मनुष्यों की भाँति परिस्थितियों के अनुसार आचरण करते हैं और हमारी भावनाएं और आचरण उन्हीं के-से हैं। ये दोनों अनुभव साधारण अनुभव से अधिक तीव्र एवं पूर्ण प्रतीत होने के कारण साधारण अनुभव से पृथकत्व की विशेषता रखते हैं। यही क्षण हैं जिनको क्रम से नाटकीय एवं चरित्र-प्रधान उपन्यासों में स्थायित्व किया जाता है, वे पूर्णतया स्पष्ट है, हम उन्हें कभी एक साथ पा ही नहीं सकते। वे हमारे अन्य

---

१ एडविन म्योर—दि स्ट्रक्चर आफ दि नौवेल'—पृ० २१।

२ शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास'—पृ० ३६।

क्षणों से अधिक पूर्ण होते हैं, क्योंकि हम जीवन को समय की व्याप्ति में, अपना स्थान के विस्तार में उसके विशेष ढंग और महत्व के सहित विस्तृत रूप में अन्तर्दृष्टि द्वारा एक साथ देख सकते हैं और हम उसे पूर्णता से भी देख सकते हैं पर ऐसा समय और स्थान दोनों में एक साथ ही नहीं देखा जा सकता। जीवन के क्रम में हम जीवन को इस प्रकार अर्थात् बिना विस्तृत रूप में अन्तर्दृष्टि द्वारा एक साथ देख सकते हैं। हमारे दैनिक जीवन में समय और स्थान दोनों के तथ्य समान रूप से तात्कालिक महत्व रखते हैं, और जिस बात का हमें भान होता है वह है केवल निरंतर रूप से घटित होने वाला परिवर्तन जिसके साथ यत्र-तत्र महत्वपूर्ण एवं निश्चित रूप से निर्मित स्थायी खण्ड होते हैं पर उनका कोई ढंग नहीं होता है। साहित्यिक सौन्दर्य को अन्तर्दृष्टि द्वारा स्पष्ट रूप से दिखाने वाले क्षण हमें इस निरन्तर रूप से घटित होने वाले परिवर्तन क्रम से बाहर निकाल लेते हैं। 'उस निरंतर रूप से स्थित एवं अन्तहीन दृश्य के स्थान पर जिसमें दृष्टि एक साथ हजारों ओर बँधती रहती है और जिसमें उसको एक निश्चित केन्द्र पर बाँध रखने के लिए कुछ भी नहीं होता जो स्थल का दृश्य विस्तार हमारे सामने आता है वह एक और पूर्ण होता है, वह कल्पना से होकर निकल चुका होता है, वह अपने अनावश्यक भागों को हटा चुका होता है, और अपने ही अभिप्राय से पूर्णरूप से कस कर भरा हुआ होता है।'[1]

इनके बाद एक तीसरा विभाग है जो महत्व में इन दोनों विभागों से कुछ ही कम है पर इस विभाग के संबंध में सबसे बड़ी बात यह है कि इसी के अन्तर्गत सब से महान् औपन्यासिक कृति की रचना की गई है। उपन्यास-रचना के सब मान्य-सिद्धान्तों की अवहेलना करते हुये भी 'वार एण्ड पीस' जीवन का व्यापक चित्र समय और स्थान दोनों के ही विस्तार में प्रस्तुत कर सर्वभौमिकता का गुण प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। स्थान विस्तार एवं समय की

---

1 "Instead of a continuous endless scene, in which the eye is caught in a thousand directions at once, with nothing to hold it to a fixed centre, the landscape that opens before as is whole and single; it has passed through an imagination, it has shed its irrelevancy and is compact with its own meaning."

—PERCY LUBBOCK.—*'The Craft of Fiction.'*

व्याप्ति दोनों ही 'वार एण्ड पीस' में सत्य है, पर यदि सच पूछा जाय तो उसकी घटना की गतिशीलता केवल समय में ही है।

'वार एण्ड पीस' में मानव जीवन को भाग्य अथवा समाज की पृष्ठभूमि के साथ नहीं प्रस्तुत किया गया है। वरन् उसे शाश्वत रूप से परिवर्तनशील मानव जीवन की पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह किसी साधारण नियम का विशिष्ट साकार रूप नहीं है, इसमें विशिष्टता एवं साधारणता एक ही साथ है।

इतिवृत्तात्मक उपन्यास का संघटन नाटकीय उपन्यास के संघटन से अन्तर रखता है। नाटकीय उपन्यास की कथावस्तु के विस्तार का विकास कड़ाई से और तर्कपूर्ण ढंग पर होता है और इतिवृत्तात्मक उपन्यास की कथावस्तु का विस्तार घटनाओं की ढीली शृंखला के रूप में होता है जो एक कड़ी बाह्य प्रगति के भीतर बँधा रहता है, जो वह समय है जिसकी मानव मस्तिष्क के द्वारा गणना की गई है।

(४) सामायिक उपन्यास

इतिवृत्तात्मक उपन्यास से भिन्न पर ऊपरी ढंग से इतिवृत्तात्मक उपन्यास से बहुत अधिक समानता रखने वाला सामयिक उपन्यास का एक और वर्ग है। इस वर्ग का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व क्लेहैंगर (उपन्यास) त्रयी से होता है-'दि फारसाइट सागा' 'दि न्यू मेकियावेली' और 'मिस्टर ड्राइजर्स रेकार्डस आव अमेरिकन लायफ' के द्वारा होता है। सामयिक उपन्यास का लक्ष्य इतिवृत्तात्मक उपन्यासों के लक्ष्य से भिन्न है। यह उनसे कम महत्वाकांक्षी है और कम बातों को अपने में अंकोरता है, पर उससे अधिक तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला और अधिक उपयोगितावादिता वाला है। इस प्रकार का उपन्यास कभी इतना दुःसाहस नहीं करता कि वह समाज के उस चित्र को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे जो हर समय के लिये ठीक हो, इसका उद्देश्य अधिक हल्का और एक खास प्रकार का होता है। वह केवल तत्कालीन समाज के एक भाग को दिखाता है और वह भी परिवर्तित होती हुई दशा में।

सामयिक उपन्यास स्वरूप का विचार करने से इतिवृत्तात्मक उपन्यास से न केवल उत्तमता की कोटि के विचार से भिन्न है, वरन् प्रकार में भी यह उन मानवीय सत्यों को देने का प्रयत्न नहीं करता जो सब समय के सिद्ध सत्य हैं, यह तो केवल परिवर्तन के एक 'स्टेज' पर स्थित समाज से अपना वास्ता रखती है और चरित्र भी इसमें वे ही होते हैं जो जहाँ तक इस समाज के प्रति-

निधि चरित्र होने का संबंध है पूर्ण सत्यस्वरूप प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार का उपन्यास हर बात को विशिष्ट सापेक्ष्य और ऐतिहासिक बना देता है। वह जीवन को सार्वभौमिकता देने वाली आँखों से नहीं देखता, वरन् उसे वह एक व्यस्त सूचना-संग्रहीत दृष्टि से देखता है जिसके व्यापार में प्रतिपादन व्यापार प्रवृत्त मेधा भी सहायक होती रहती है।

(५) चरित्र-चित्रण की दृष्टि से—

चरित्र-प्रधान उपन्यास—साहित्य क्षेत्र में चरित्र-प्रधान उपन्यास भी विशेष महत्व रखते हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि पात्रों की सृष्टि कथानक के आधार पर न होकर स्वतन्त्ररूप से होती है। लेखक अपनी रुचि एवं पद्धति के अनुरूप ही उनके समस्त क्रिया कलापों को व्यक्त करता है। इन रचनाओं के कथानक का उद्देश्य पात्रों के गुणों और अवगुणों पर प्रकाश डालना रहता है। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' और 'गबन' चरित्र-प्रधान उपन्यासों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इन उपन्यासों में व्यक्त चरित्र दो प्रकार के होते हैं –(१) व्यक्तिगत अथवा विकसित चरित्र (इंडिवीजुवल अथवा राउण्ड) (२) प्रतिनिधि अथवा स्थिर (टाइप्स अथवा फ्लैट) प्रेमचन्द के सभी पात्र विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि हैं। जब कि इलाचन्द जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र के पात्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं में ही सब कुछ हैं, वे प्रेमचन्द के पात्रों को भाँति किसी विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि नहीं होते, ऐसे उपन्यासों में लेखक पात्रों को भयंकर परिस्थितियों में आगे बढ़ने को विवश करता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास—मनोवैज्ञानिक उपन्यास का विकास देखते हुए एक आलोचक ने लिखा हैं—'मेरे लेखे प्रेमचन्द ने जाते-जाते और भगवती-चरण वर्मा ने आते ही व्यक्ति की ऐकांतिक सत्ता के अध्ययन की जरूरत महसूस कर ली थी लेकिन व्यक्ति की सत्ता और व्यक्ति-मानव का महत्व जैनेन्द्र-कुमार के उपन्यासों के साथ आया।[१] श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के मत से भी हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं को चित्रण करने का सब से सफल प्रयास जैनेन्द्र जी का रहा[२]। उनके 'परख' 'तपोभूमि' 'सुनीता' 'कल्याणी' 'त्यागपत्र' 'व्यतीत' आदि प्रायः सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक

---

१ **साहित्य संदेश—भाग १८—अंक १-२**
हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास—राजेश्वर गुप्त एम० ए०।

२ **शिवनारायण श्रीवास्तव पृ० २३१-३२**

विश्लेषण की प्रधानता है। आदि से अन्त तक इनके पात्रों की प्रत्येक बात उनका प्रत्येक बात उनका प्रत्येक संकेत उनके मनोभावों की वास्तविकता का प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है।

(७) शैली की दृष्टि से—
- (अ) वर्णनात्मक शैली
- (ब) विश्लेषणात्मक शैली
- (स) पत्र शैली
- (द) स्वागत शैली।

हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों की शैली वर्णनात्मक है। प्रेमचन्द, 'प्रसाद' (गोविन्द वल्लभ) पन्त, तथा प्रेमचन्द स्कूल के अन्य उपन्यासकारों के उपन्यास इसी शैली में हैं।

जोशी 'अज्ञेय,भगवतीचरण वर्मा,जैनेन्द्र आदि उपन्यासकार विश्लेषणात्मक शैली के लेखक हैं। पत्र-शैली में प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त' का 'पाप और पुण्य' इसमें कुल ३८ पत्र हैं। उग्र का 'चन्द हसीनों के खतूतें इस प्रकार का अच्छा उदाहरण है। जोशी का 'सन्यासी' स्वगत शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। स्मरणीय है कि पत्र-शैली एवं स्वगत शैली में रचनाएँ बहुत ही न्यून संख्या में हुई हैं।

(८) उद्देश्य की दृष्टि से—
- (अ) केवल मनोरंजनार्थ लिखे गये उपन्यास
- (ब) हास्यरस के उपन्यास
- (स) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास
- (द) यथार्थवादी उपन्यास
- (य) समस्यामूलक उपन्यास
- (र) प्रयोगवादी उपन्यास
- (ल) अनूदित उपन्यास।

(अ) केवल मनोरंजनार्थ लिखे गये उपन्यास—उपन्यासों की यह अत्यधिक साधारण श्रेणी मानी गई है। कतिपय आलोचक इन्हें फुटपाथ के उपन्यासों की संज्ञा प्रदान करते हैं। इन उपन्यासों द्वारा केवल मनोरंजन की ही सिद्धि होती है। उदाहरण के लिये 'किस्सा तोता-मैना' का नाम लिया जा सकता है। इसके तोता स्त्रियों के सम्बन्ध में और मैना पुरुषों के सम्बन्ध में उनकी कुटिलता मिश्रित बातों का वर्णन करते हैं। पाठकों को इसी किस्से में समय काटने का

साधन प्राप्त हो जाता है। 'आल्हा-ऊदल' 'किस्सा गुलब्कावली' 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पचीसी' 'छबीली भटियारी' 'किस्सा साढ़े तीन यार' और 'एक रात में तीन खून' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

(ब) हास्य के उपन्यास—बालकृष्ण भट्ट रचित 'सौ अजान एक सुजान' हास्यरस की प्रसिद्ध कृति है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव के लतखोरीलाल और 'स्वामी चौखटानन्द' नामक उपन्यास में हास्यरस अवश्य है, पर इनमें संयम का अभाव खटकता है। निराला जी के, 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर करिहा' भी हास्यरस की कृतियाँ हैं। पर इनमें हास्य परिस्थिति प्रसूत न होकर केवल वर्णनगत है। 'उग्र' की 'बुधुवा की बेटी' 'दिल्ली का दलाल' 'चन्द हसीनों के खतूत' और 'शराबी' में व्यंग्य और हास्य का सम्मिश्रण है। इस शैली के कतिपय अन्य उपन्यास ये हैं।

'मूर्खराज' 'महा कवि चचा' 'सेठ बाँकेमल' ,काठ का उल्लू, कबूतर' 'चाँदी का जूता' 'पिगसन की डायरी' 'मिस्टर टेलीफून का टेलीफोन' 'नबाब लटकन' 'गुनाह वेलज्जत' आदि।

(स) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी—आदर्शवाद का ही निरूपण करने वाली परम्परा उपन्यास क्षेत्र में प्रायः संभव नहीं है। यदि आदर्शवाद का ही विश्लेषण या निरूपण किसी कृति में होगा तो वह कृति फिर जीवन की कृति न होगी क्योंकि लौकिक जीवन में नितान्त आदर्शवादिता साधारणतः नहीं मिलती। अस्तु, यथार्थ को ही विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि हमारा यथार्थ आदर्श को लेकर चलने वाला हो। वस्तुतः यथार्थ की आदर्शोन्मुखता ही जीवन का सत्य है। 'प्रसाद' ने 'कंकाल' और 'तितली' में इसी सत्य को देखना चाहा है।

(द) यथार्थवादी उपन्यास—जीवन की वास्तविका जब कला के क्षेत्र में अभिव्यक्ति की समस्त कमनीयता के साथ अवतरित होती है। तब उसे हम यथार्थवादी साहित्य के नाम से अभिहित करते हैं। यथार्थ का निरूपण बहुत-कुछ सापेक्ष्यता रखता है इसलिये युगीन परिस्थितियों के अनुरूप यथार्थ के रूप भी परिवर्तित होते रहते हैं। यथार्थवादी उपन्यास का प्रत्येक लेखक भी अपनी मान्यता के अनुरूप होता है, इसका उदाहरण यदि देखना हो तो विष्णु प्रभाकर लिखित 'निशिकान्त' उपन्यास पढ़िये। इसमें नायक का चरित्र लेखक की आर्य समाजी-सुधार की मनोवृत्ति के अनुरूप हुआ है। जहाज के 'पंछी' नामक उपन्यास में इलाचन्द जोशी ने राजनीति और समाज के अनेकानेक दुराचारों पर दृष्टि

पात किया है। 'उग्र' के उपन्यास उनकी 'यथार्थवादी प्रवृत्ति' का पूर्ण पोषण करते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'मैला आंचल' तथा उदय शंकर भट्ट कृत— 'सागर, लहरें और मनुष्य' भी यथार्थवादी उपन्यासों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

(य) **समस्यामूलक उपन्यास**—समस्यामूलक उपन्यास दो प्रकार के होते हैं—प्रथम वे जिनमें केवल एक समस्या हो और द्वितीय वे जिनमें किसी एक प्रधान समस्या के साथ विभिन्न समस्यायें संलग्न रहती हैं।

(र) **प्रयोगवादी उपन्यास**—हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद सरीखा कोई वाद उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। पर इस वाद की चर्चा उतनी अधिक है कि कतिपय लेखक प्रयोग के लिये प्रयोग के स्वर को तेज करते हुए पाये जाते हैं। और कदाचित् इसी धुन में कुछ उपन्यासकारों ने भी अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इसी दृष्टि से अज्ञेयकृत—'शेखर—एक जीवनी' द्रष्टव्य है। धर्मवीर भारती कृत—'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और 'गुनाहों के देवता' शिव प्रसाद रुद्रकृत'—बहती गंगा' नागार्जुनकृत बाबा बटेसरनाथ' प्रभाकर माचवेकृत 'परन्तु' और फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'मैला आंचल' आदि रचनाएँ भी प्रयोगवादी दृष्टिकोण से अपना स्थान रखती हैं। इनमें एक प्रकार का नवीन शिल्प-विधान प्रस्तुत करने का प्रयास परिलक्षित होता है।

(ल) **अनूदित उपन्यास**—अनूदित उपन्यासों की परंपरा का प्रचलन भारतेन्दुकाल से पाया जाता है। प्रारंभ में अंग्रेजी और बंगला उपन्यासों के अनुवाद अधिक हुए। अनुवाद की दृष्टि से आधुनिक उपन्यासों में 'स्काट' 'आस्टिन' थैकरे 'डिकेन्स' हार्डी,लारेन्स वर्जीनियाबुल्फ तथा गार्नेट आदि के उपन्यासों का नाम उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया था। रूसी उपन्यासों में जीवन के यथार्थ चित्रण की ओर विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रसंग में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला पर तुर्गनेव, टालस्टवाय, गोर्की तथा शैलोकाव आदि की छाया विद्यमान है। उनकी रचनाओं में साम्यवाद की मूलक-निम्नवर्ग एवं मध्यम वर्ग के समाज के प्रति सहानुभूति का चित्रण बहुत-कुछ इसी प्रभाव का परिणाम कहा जा सकता है। रूसी उपन्यासों से प्रभावित यशपाल की रचनाओं में शोषक वर्ग के प्रति क्रान्ति की भावना पाई जाती है। रूसी उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में अधिक हुआ है। हिन्दी उपन्यास साहित्य पर फ्रेन्च भाषा के उपन्यासों का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। डयूमा, मोपासा, अनातोले फ्रांस

बालजाक रोमारोलां आदि के उपन्यासों का हिन्दी में सफल अनुवाद हुआ है।
(म) जीवन के प्रति दृष्टिकोण के विचार से (प्वाइंटआफव्यू)

(अ) रोमानी उपन्यास

(ब) आदर्शवादी रोमानी उपन्यास

(स) यथार्थवादी उपन्यास

(द) आदर्शवादी उपन्यास

(अ) रोमानी उपन्यास—इनकी कथा का निर्माण केवल काल्पनिक रंगीनियों के आधार पर होता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत जासूसी, तिलस्मी, साहसिक वैज्ञानिक, त्रासद आदि उपन्यास आते हैं, इनमें उच्च वर्ग के जीवन के लोगों के स्वप्न प्रत्यक्ष किये जाते हैं। इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन की सृष्टि करना होता है। इन रचनाओं में जीवन का चित्रण एक काल्पनिक स्वप्न के रूप में ही होता है। ये रचनायें पलायनवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होती हैं।

(ब) आदर्शवादी रोमानी उपन्यास—किशोरीलाल गोस्वामी के अधिकांश उपन्यास आदर्शवादी रोमानी उपन्यास हैं। इस प्रकार की रचनाओं में मनोरंजन के लिये सामग्री तो रहती ही है साथ ही नीतिपरक बातों एवं उपदेशों का भी समावेश रहता है।

(स) यथार्थवादी उपन्यास—इन रचनाओं में लेखक तटस्थरूप में जीवन के स्वरूप को देखता है और वैज्ञानिक पद्धति से उसकी विवेचना करता है।

(द) आदर्शवादी उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासों में लेखक की दृष्टि यथार्थ को आकर्षक बनने की ओर रहती है। इसके लिये वह आदर्शमयी भावनाओं का अपनी कृतियों में समावेश करता चलता है। सामाजिक उपन्यासों में इस आदर्शवादिता का विशेष रूप से दर्शन होता है।
(१०) दीर्घ विस्तार तथा प्रभाव की तीव्रता के विचार से—

(अ) वृहत् उपन्यास

(ब) लघु उपन्यास

वृहत् एवं लघु उपन्यास का अन्तर मुख्यतः आकार द्वारा स्पष्ट किया जाता है। वृहत् उपन्यासों का अत्यधिक विस्तृत आकार अपनी सीमा के अन्तर्गत अनेकानेक घटनाओं की सृष्टि होती है।

लघु उपन्यास का आकार उसके नाम के अनुरूप प्रायः बहुत ही सीमित होता है। इस प्रकार की रचनाओं में लेखक के अत्यधिक कौशल की अपेक्षा होती है। 'सेवासदन' 'रंगभूमि' 'गोदान' 'गिरती दीवारें' उपन्यास वृहत् उप-

न्यास की कोटि में हैं और 'निर्मला', त्यागपत्र आदि उपन्यास लघु उपन्यास की कोटि में परिगणित किये जा सकते हैं।

(११) साधारण जन-दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण—

समीक्षाशास्त्र[1] के लेखक के अनुसार उपन्यास में अनुभवात्मक वास्तविकता का चित्रण इतना अधिक होता है और उसके रूप अथवा शैली के विषय में पाठकों की उदासीनता इतनी है कि उपन्यास के निम्नांकित वर्ग ही माने गये हैं—

१—सामाजिक, २—मध्यवर्गीय, ३—मनोवैज्ञानिक, ४—स्थानीय चित्रण युक्त, ५—अपराध चित्रक, और ६—भावावेगपूर्ण। इनके भी और बहुत से छोटे-छोटे भेद हो सकते हैं। सामाजिक उपन्यास में किसी एक विशेष युग और स्थान का, वहाँ के मानव आचार-विचार पर वहाँ की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के पड़े हुए प्रभाव का चित्रण होता है। इन उपन्यासों के विषय अत्यन्त परिमित होने के कारण और सौन्दर्य निरपेक्ष होने के कारण इनका महत्व केवल अल्पकाल के लिये तथा किसी विशिष्ट स्थान के लिए हो सकता है। इस प्रकार के उपन्यासों के अन्तर्गत एक समस्या-उपन्यास (प्रावलम नावेल) होते हैं, जिनमें कोई विशिष्ट सामाजिक प्रश्न होता है, जैसे पति-पत्नी परित्याग (डाइवोर्स) अथवा अछूतप्रथा एवं जातीय रंगभेद-भावना आदि। दूसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं जिनमें किसी एक वर्ग का पक्ष लेकर दूसरे की निन्दा की जाती है। उन्हें प्रचारवादी उपन्यास कहते हैं। कुछ मजदूरवादी उपन्यास होते हैं जिनमें मजदूरों की समस्या के साथ सहानुभूतिमय विचार किया जाता है। स्थानगत (रीजनल) उपन्यासों में वहीं की परिस्थिति और अवस्थाओं का तथा मनुष्य द्वारा निर्मित आर्थिक प्रणाली का ही नहीं, वरन् वहाँ की धरती, उजाड़, जंगल अथवा कहीं दूर की आदिम भूमि का चित्रण होता है। स्पेन और स्पेनी अमेरिका के उपन्यासों में 'कोस्टब्रिस्सों नाम के ऐसे ही यथार्थवादी चित्रण चले जिनमें आचार-विचार के अध्ययन को ही महत्व दिया गया है।'

इस प्रकार समीक्षा शास्त्र में सब स्थानों से बटोर कर उपन्यासों के अनेक प्रकार एक साथ प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—

ऐतिहासिक उपन्यास, विवरणात्मक उपन्यास, नाटकीय उपन्यास, औप-न्यासिक विवरण, (रोमांटिक गेस्टेस या क्रानिकल) पत्रात्मक उपन्यास, गोथिक

---

१ सीताराम चतुर्वेदी—'समीक्षाशास्त्र'-पृ० ६७०-६७६,—सम्वत् २०१०वि०

उपन्यास', (मध्यकालीन कथा तथा विचार के पक्षों से युक्त) भावुकतापूर्ण उपन्यास (सेन्टिमेंटल फिक्शन) जासूसी उपन्यास, इटली की गियोबानी (गद्यात्मक कथाएँ 'नावेता'), जर्मनी की 'ग्रावेन्टेडएरोमान' (साहस पूर्ण उपन्यास), स्पेन का पिकारेक्स' (ग्राबारगर्दी के जीवन से संबंधित) ग्रमेरिका के 'ऐल्वर' उपन्यास (बाल-उपन्यास), फ्रांस के 'फुइलेतां, (निंद्य-उपन्यास) 'नाउवेल' (मनोरंजक उपन्यास) तथा 'रोमां' (मध्यकाल की काल्पनिक कथाएँ), क्रमिक उपन्यास (जिनके चरित्र कई उपन्यासों में क्रमशः चलते हैं जैसे चन्द्रकान्ता सन्तति या रुद्र 'काशिकेय' का 'बहती गंगा'), 'नीली बुक (व्यवसायी निम्न-कोटि के लेखकों द्वारा लिखे हुए वासना को उत्तेजित करने वाले दरिद्र तथा सस्ते भयानक उपन्यास जिन्हें 'पेनी डेडफुल', 'शिलिंग-शाकर', 'ब्लूबुक', 'डाइम नावेल', ग्रथवा 'ग्रलौबैक कहते थे ग्रौर जिनमें भयानक रोमांचकारी कथाग्रों का सन्निवेश होता था), वैज्ञानिक उपन्यास, उपन्यासिका (नावलेट-ग्रत्यन्त छोटे उपन्यास')

१२—ऐतिहासिक वर्गीकरण

एक प्रकार का ऐतिहासिक वर्गीकरण केवल ग्रध्ययन के क्रम के सहायक के रूप में होता है। जैसे हिन्दी के उपन्यासों में—

(ग्र) ग्रादिकालीन उपन्यास।

(ब) प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यास।

(स) प्रेमचन्द के समय के उपन्यास।

(द) प्रेमचन्दोत्तरकाल के उपन्यास।

(य) ग्राधुनिक काल के उपन्यास।

इस वर्गीकरण के ग्रन्तर्गत ग्राने वाले उपन्यासों में रचना की दृष्टि से किसी शास्त्रीय पद्धति विशेष का ग्रनुसरण नहीं किया जाता। केवल काल-विशेष की घटनाग्रों को दृष्टि में रख कर रचना की जाती है।

१३—वर्ण्य-विषय के प्रति दृष्टिकोण के विचार से वर्ण्यविषय की दृष्टि से उपन्यासों के निम्नांकित रूप से विभाजन किये जा सकते हैं—

(ग्र) घटना प्रधान।

(ब) चरित्र प्रधान।

(स) नाटकीय।

(द) इतिवृत्तात्मक।

(य) सामयिक।

(र) बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक ।

(ल) समस्यात्मक एवं प्रचारात्मक ।

(व) शैली प्रधान ।

(अ) घटना प्रधान इसके अन्तर्गत वे उपन्यास आवेंगे जो कौतूहल-शान्ति को लक्ष्य में रखकर साधारणतः मनोरंजन की सृष्टि करते हुए तथा चरित्र-विश्लेषण को गौण स्थान देते हुए आश्चर्यजनक बातों को पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं।

(ब) चरित्र प्रधान उपन्यासों में जीवनव्यापी नाना प्रवृत्तियों का निदर्शन किया जाता है और कथा-विकासक्रम में ऐसी ही घटनाओं की नियोजना की जाती है जो चरित्र के विकास में योग दे सके ।

(स) नाटकीय शैली में लिखे गये उपन्यासों में लेखक किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी नहीं कर सकता है। नाटकीय पात्रों की भाँति उपन्यास के पात्र भी केवल आवश्यक कथोपकथन उपस्थित करते हैं।

(द) इतिवृत्तात्मक उपन्यासों में इतिहास के अन्तराल में प्रच्छन्न जीवन को व्यक्तरूप प्रदान किया जाता है। 'इतिहास में केवल समय का ऊपरी नकशा देखने को मिलता है और इतिवृत्तात्मक उपन्यास में उस समय की आत्मा के दर्शन होते हैं।'

(य) सामयिक-इतिहास में हम समय को बाँधते हैं और सामाजिक उपन्यास में हम इतिवृत्तात्मक उपन्यास को समय के अन्तर में बाँधते हैं।

(र) बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में लेखक पात्रों के कार्यों का वर्णन न करके उनकी मानसिक क्रियाओं का वर्णन करने लग जाता है।

(ल) समस्यात्मक एवं प्रचारात्मक उपन्यासों में लेखक प्रायः प्रचारात्मक-दृष्टिकोण को लेकर चलता है। देश की विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियों का उल्लेख प्रचार एवं समर्थन इसी प्रकार के उपन्यासों द्वारा संभव होता है।

(व) 'शैली प्रधान-कुछ उपन्यास औपन्यासिकता के झीने आवरण को केवल शैली के महत्व पर टिकाये रखते है। इसमें औपन्यासिकता विदा माँगती हुई मालूम पड़ती है और तत्संबंधी पांडित्य अपनी पूर्ण कला के साथ प्रकट होता हुआ।'

अपने यहाँ की उपन्यास-रचना का आरंभ कुछ इस प्रकार हुआ कि बिना पहले की चीजों के देखे आगे की चीजों को बाहर ही बाहर देखकर हमने अपने

यहाँ उसी के अनुसरण पर रचनाएँ आरंभ कर दीं। इसीलिये उसमें प्रारंभ से ही 'आउटशैण्डिश' चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। हाँ, अब हम उसमें रम गये हैं। हमारा अपना कुछ भी इस क्षेत्र में हो गया है तो अब हमें हमारा अपनापन उसमें अक्षुण्ण रखना पड़ेगा। बाहर के उत्तम उदाहरणों को हम लें पूरी तौर से पर साथ ही अपनी तैयारी की हुई भूमि को भी न छोड़ें।

उपन्यास वर्तमानकाल की सबसे बड़ी साहित्यिक देन है।[1] इस साहित्यिक विधा की मूलप्रवृत्ति तो 'कादंबरी' के समान पुस्तकों में पहले ही से थी, पर पाश्चात्य प्रभाव ने इसके ऊपरी रूप को अत्यधिक प्रभावित किया पर वर्ण्य विषय भारतीय रहने से इसमें पहले के ग्रन्थों की-सी अलौकिकता अब भी है। (कायाकल्प-प्रेमचन्द तथा 'बेकसी का मजार'—प्रताप नारायण श्रीवास्तव)।

इस प्रकार हमने देखा कि वर्तमान रूप में उपन्यास आधुनिक युग की देन है। विश्वसाहित्य में उपन्यास को शिशु-हिमालय साहित्य के रूप में ले सकते हैं। 'हिन्दी में औपन्यासिक परम्परा का जन्म संस्कृत आख्यायिकाओं के अनुवाद तथा तुलसी की आध्यात्मिक औपन्यासिकता से होता है। तत्पश्चात् रोमांस के रूप में कादम्बरी' के अनुवाद तथा 'दशकुमारचरित' की लम्बी आख्यायिकाओं के अनुकरण पर तथा विदेशी एवं प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के रूप में हिन्दी रोमांस का जन्म हुआ।....वही रोमांस जब जातीय जीवन की विशेषताओं को भी अपने में समेटते चलते हैं तब साहसपूर्ण कथाओं के रूप में उपन्यास का रूपक बन कर आते हैं। यही विकसित होकर उपन्यास साहित्य के इतिहास में अय्यारी, जासूसी और प्रारंभिक सामाजिक एवं साहसिक उपन्यासों की परम्परा का श्रीगणेश होता है।

यह हिन्दी के उपन्यास साहित्य के इतिहास का संयोग है कि आरंभ में ही हमें हिन्दी के उपन्यास के विशुद्ध रूप के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में और उस परंपरा को 'कौशिक', प्रतापनारायण श्रीवास्तव तथा जैनेन्द्र (के आरंभ के उपन्यास) में पुष्ट होते हुए पाते हैं।

जैनेन्द्र के बाद के उपन्यास तथा मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषण की परम्परा तथा बंगाली, अंग्रेजी तथा फ्रेन्च और रूसी उपन्यासों के अनुवादों से उपन्यास साहित्य में रीतिकाल की पुनरावृत्ति हो जाती है। उपन्यास का केन्द्र बन जाती है—नारी, उपन्यास का प्रति-पाद्य विषय बन जाता है—शैली पर आग्रह।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास'।

स्वतन्त्रता आंदोलन के पहले के जागरण काल में राष्ट्रीय चेतना की लहर ऐतिहासिक परंपरा को आगे बढ़ाती है और नारी प्रेम तथा शैली सौंदर्य का स्थान उपादेयता का भाव ले लेता है।

आन्दोलन का संघर्ष एवं क्रान्तिकारी भावनाएँ राष्ट्रीय चेतना को विस्फोटक साहित्य की आवश्यकता वतलाती हुई, शरत् का अनुकरण करती हुई विभिन्न वादों के प्रचार का माध्यम बनती हुई—वर्ग संघर्ष के प्रतीक में, हरिजन समस्या को लेते हुए संघर्ष के उपन्यासों की सृष्टि होती है। नारी का विद्रोह समाज से और पुरुष से निम्न वर्ग का विरोध उच्च वर्ग से और निर्धनों का मोर्चाधनिकों से सब संघर्ष से पूर्ण कथानकों की सृष्टि करते हैं।

तूफान के बाद शान्ति की वेला में 'ग्राम-सुधार, शिक्षा प्रचार, आदर्श-शासन व्यवस्था, स्वयं १९४२ की क्रान्ति तथा गदरकालीन पात्रों एवं चरित्रों को लेकर एक उपन्यास नयी धारा प्रवाहित हुई। इसमें शान्ति स्थापना का उद्योग तथा स्वतंत्रता संग्राम में वीरगति प्राप्त करने वाले अमर शहीदों को श्रद्धांजलि के रूप में उपन्यास अपने नये रूप में आया।

ऐसा प्रतीत हुआ मानो जन-कल्पना थक कर बैठ गई है। प्रेमचन्द के बाद किसी भक्त लेखक के न होने पर खेद प्रकट किया जा रहा था कि उपन्यास के क्षेत्र में नये प्रयोगों का आरंभ हो गया—आंचलिक उपन्यास, ग्राम्य जीवन, जन-जीवन, धरती से प्रेम आदि से पोषित उपन्यास तत्व स्वतंत्रता की गोद में पल रहा है और इसी क्रम के विकास से रूप में हमें उपन्यास के उज्जवल भविष्य की आशा है।

हमने यह भी देखा कि जब साहित्य की क्षितिज में संभावना के फैलाव की सीमा एवं शून्य के छोर के संधि स्थल पर कल्पना के विस्तार का आरम्भ होता है तब औपन्यासिकता का जन्म होता है। वैज्ञानिक तर्कप्रणाली जब तथ्यों की ठोस भूमि को छोड़ कर अनुमान से वास्तविकता को टटोल कर ढूँढ़ना आरम्भ करती है तब वैज्ञानिक की औपन्यासिकता का आरम्भ होता है। इसी प्रकार 'नेति-नेति' की भावना एवं 'ब्रह्म' सम्बन्धी विचार दार्शनिक औपन्यासिकता की कोटि में रखे जा सकते हैं। पुराण, जातक और बाइबिल एवं कुरान के दृष्टान्त एवं धार्मिक गाथायें अपने में औपन्यासिकता के पूर्ण प्रवाह को छिपाये चलती हैं। औपन्यासिकता का सब से गहरा और घना पुट मिलता है हमें चुटकुलों में—जहाँ बीरबल और सर्दार जी को लेकर, अफीमची और चण्डूबाज की शक्ल में तथा अगणित सामाजिक अवसरों के हवाले के संदर्भ में स्वाभाविकता की रोचक आवृत्ति होती है।

हमारा जीवन आगे बढ़ता है। कुछ तो बाहर से आकर पड़ने वाले प्रभावों को आत्मसात् करने से और कुछ अपने ही में उठे हुए विचारों को बाहर से कार्य का रूप देने से। साहित्य के प्रकार भी इसी भाँति कुछ तो पूर्वा पर सम्बन्ध अथवा गतानुगति के अनुसार आगे बढ़ते हैं अथवा परिवर्तित होते रहते हैं और कुछ कृतियों में अथवा लेखक में बाहर से आकर पड़ने वाले प्रभावों से पोषित एवं पल्लवित होते हैं। आंतरिक प्रेरणा एवं विश्लेषण तो स्वाभाविक रूप से विकास में सहायक होते है पर बाहर से आकर पड़ने वाले प्रभाव सहायक भी हो सकते हैं और बाधक भी। जब बाहरी प्रभाव कर्तृत्व का ऊँचा आदर्श हमारे सामने रखते हैं तो वह नये, उठते हुए साहित्य के प्रकार को बल देते हैं—ऊँचा उठाते हैं। यथा—प्रेमचन्द के पहले बंगला, अंग्रेजी फ्रेन्च तथा रूसी उपन्यास। जब बाहरी प्रभाव अनिश्चित भाव-भूमि पर उड़ कर अपने अर्द्ध-स्वीकृत अथवा प्रायः अस्वीकृत रूप में अन्यदेशीय अथवा अन्य स्थानीय कलाकारों को प्रभावित करने का उपक्रम करते हैं तब 'नये मुसलमान' की सी स्थिति में पाता है इस ब्रह्म प्रभाव को ग्रहण करने वाला व्यक्ति। किन्तु वे न तो अपनी धरती का पूत रह पाता है और न पूरे रूप से बाहर किसी का बन कर रह सकता है। ऐसा ही कुछ मार्क्सवाद', 'योनवाद', के सिद्धान्तों को हजम न करके लिखने वाले लोगों के उप चरितार्थ होता है यथा जोशी, अश्क, यशपाल, आंशिक रूप से जैनेन्द्र और अज्ञेय भी। वाह्य प्रभाव का अपेक्षणीय रूप होता है—उसका प्रेरक और पौषक शक्ति वाला। जहाँ बाहर का महान् कृतित्व प्रभावित व्यक्ति से प्रभाव का-सा कार्य करवा सकता हो वही वाह्य प्रभाव अपने सर्वाधिक वांछित रूप में होगा। इसके उदाहरण मिलते हैं हमें प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, ऊषा मित्रा और 'कौशिक' में।

हिन्दी उपन्यास के वर्गीकरण के शास्त्रीय विवेचन तथा तद्गत हिन्दी उपन्यास के विकास के वर्णन विस्तार ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि हिन्दी उपन्यास सब असफलताओं के बीच, सब तथाकथित बुराइयों के बीच और सब प्रकार से समझे जाने वाले अभावों के बीच से निकाल कर जीवन के अटूट क्रम को प्रस्तुत कर सकता है। और सामयिक जीवन के दर्पण की संज्ञा पा सकता है। आदर्श कथा वाला उपन्यास जीवन का कढ़ा हुआ रूप प्रस्तुत करता है। अनिष्पंदित पाषाण प्रतिमा के भावात्मक सौन्दर्य की भाँति। रोमानी उपन्यास का जीवन होता है रंगीन चित्र की भाँति सुन्दर पर मूक। प्रगतिशील

उपन्यास का जीवन होता है लेखक अहंभाव से लिपा-पुता सा, अमृतशेरगिलकी असफल पेन्टिग' सा जिसमें जो जीवन में नहीं है उसके सहारे जीवन जैसा नहीं है वैसा दिखाया जाता है और दम भरा जाता है जीवन के प्रतिनिधि स्वरूप प्रस्तुत करने का। उपन्यास का वास्तविकस्वरूप तो 'गोदान' में आये हुए देहाती जीवन के दृश्य---'मैला आँचल' और 'बलचनमा' ऐसी कृतियों के चरित्र-चित्रण में और 'मृगनयनी' तथा झाँसी की रानी' के गुदगुदी पैदा करने वाले मानस के अन्तर के भिलमिल को बाहर लाने वाले संभाषणों और वर्णनों में 'बूंद और समुद्र' और परती परिकथा तथा विदा और 'रंगभूमि' तथा 'परख' के साधारण जीवन के वार्तालापों एवं उद्देश्यों के अनुशीलन में रसात्मकता के रूप में प्राप्त होता है।

उपसंहार

उपन्यास का भविष्य तथा हिन्दी उपन्यास की सम्भावनाएँ

यह स्वाभाविक ही है कि हिन्दी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन मन को विश्राम देने वाले प्राचीन उपन्यासों की भाँति भविष्य की ओर दृष्टि लगाये हुए समाप्त हो। इस विवेचन के उपसंहार रूप में यह अनुमान लगाने की इच्छा स्वाभाविक होती है कि उपन्यास का भविष्य क्या होगा? क्या यह अधिक यथार्थवादी हो जायगा? क्या सिनेमा के द्वारा इसका अन्त हो जायगा, आदि कितने ही प्रश्न सामने आते हैं। भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान चाहे आशाजनक हो अथवा निराशाजनक, दोनों ही दशाओं में प्रभावशाली लगने का गुण विद्यमान रहता है। भविष्य के संबंध के अनुमान प्रयत्न के हौसले के स्वप्न भी होते हैं। अत: दूर के ऊँचे आदर्श के रूप में भी उनका अपना महत्व होता है। कभी-कभी किसी साहित्यिक विधा के स्वरूप की कल्पना का उद्भव उसकी वर्तमान उपलब्धियों एवं अभाव की 'बैलेंसशीट' से होता है। उस समय प्रचलित स्वरूप को संवारने के प्रयत्न की प्रेरणा में तत्संबंधी अनुमानों की परिणति होती है।

उपन्यास के भविष्य के संबंध में विचार करने के प्रथम हमें इस बात को निश्चित रूप से जान लेना है कि उपन्यास कभी मरेगा नहीं। साहित्य के माध्यमों में से कौनसा माध्यम सब से अधिक सशक्त तथा प्रभावोत्पादक है, इस संबंध में विभिन्न विद्वानों के अपने-अपने मत रहे हैं। इधर लगभग दश वर्षों से उपन्यास की महत्ता सर्वमान्यरूप से प्रतिपादित की जाने लगी है। आत्मतत्व की अनुभूति को संसार के प्राय: सभी दर्शनों ने मनुष्य जीवन की उच्चतम स्थिति के रूप में स्वीकार किया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक तथा 'टाइम्स लिटरैरी सप्लीमेंट' के संपादक 'ऐलन प्राइस जोन्स' के अनुसार इसी आत्मतत्व की अनुभूति की उपलब्धि कराना उपन्यास के प्रधान दायित्वों में से एक है। इन्हीं के शब्दों में "यह मत समझिये कि आप काल्पनिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के लिये उपन्यास पढ़ते हैं। आप उन्हें पढ़ते हैं, जिस प्रकार अन्य

लोग प्रार्थना करते हैं, स्वयं अपने आपके अन्वेषण के लिये। और क्योंकि अन्तिम अन्वेषण कभी संभव नहीं हो पाता, इसीलिये उपन्यास की कभी मृत्यु नहीं होती।'

आत्मानुभूति के साथ-साथ उससे सम्बद्ध सत्य के अन्वेषण की बात आती है। आत्मा व्यक्तिगत है तो सत्य वस्तुगत। जोन्स महोदय के अनुसार तो सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम द्वारा संभव नहीं। उनका कथन है—"तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिये उपन्यासकार की दृष्टि ही एकमात्र सहारा है"। जिस प्रकार आत्मा की खोज कभी समाप्त नहीं होती उसी प्रकार सत्य का अन्वेषण भी कभी समाप्त नहीं होता, और इसीलिये उपन्यासकार कभी इस बात का अनुभव नहीं करता कि प्रत्येक बात कह दी गई है अथवा सत्य का कोई भी पहलू अंतिम निश्चय के साथ अनावृत्त कर दिया गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से अहं का विकास गहराई की अनुभूति का विकास है। जैसे-जैसे संस्कृति आगे बढ़ती है। यथार्थ की पाशविक शक्ति में चेतनारूपी गुणात्मक परिवर्तन होता जाता है और मानव को अपने अहं में एक नये आयाम का भान होता है। ऐसी दशा में हमारा 'स्व' शौर्यात्मक अथवा 'एपि-कल' नहीं, बल्कि वैयक्तिक और अनूठा हो जाता है। उपन्यास के रूप-विधान में जो विकास हुआ है उसके पीछे अहं अथवा 'स्व' के प्रति गहराई के आयाम के रूप में इस बढ़ती हुई जागरूकता को अभिव्यक्त करने का प्रयास ही है। एक ऐसे दर्पण वाला जो केवल यथार्थ की छाया उपस्थित करता है, बल्कि उसे अर्थ भी देता है।

उपन्यास की सबसे महत्वपूर्ण बात यही है कि मानव-चेतना, सार्थकता, अथवा नियति के विभिन्न सत्यों का इतना ठीक चित्र साहित्य का कोई माध्यम प्रस्तुत नहीं करता। आज लगता है कि उपन्यास यथार्थ और तर्क-संगति के शिकंजे में चूर-चूर हो जायगा। लेकिन जब हम इस पर विचार करते हैं कि अनुभूतियों पर कसा हुआ कोई भी साँचा केवल अस्थायी और असंतुलित ही होगा तो हमारे सामने औपन्यासिक कला-रूप की मूलतः प्रायोगिक प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। शायद यह हमेशा लगेगा कि उपन्यास एक कलारूप की दृष्टि से समाप्त हो चुका है, जो कि सार्थकता और अनुभव, पदार्थ और चेतना वस्तु और व्यक्ति के संयोजन का प्रयास हमेशा विफल होने के लिये विवश है। जीवन की ही भाँति उपन्यास का कलारूप असमाप्त अधूरा है। 'केमस' के

अनुसार—'उपन्यास लिखने की क्रिया यथार्थ की कुछ न कुछ अस्वीकृति को मान कर ही चलती है।' चेतना अथवा इच्छा के वृत्त को इतिहास अथवा विशुद्ध सम-सामयिक यथार्थ में बाँधने के मूल में ही विफलता छिपी हुई है। वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा भी इसे करने का प्रयास मात्र उसे कुंठित करता है। उपन्यासकार का प्रयास चेतना की जिस गहराई को लेकर चलता है उससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार अंतिम सामंजस्य असंभव है उसी प्रकार उपन्यास का अंत भी असंभव है।

उपन्यास में मानवत्व का जन्म होता है। वह साधारणत्व के बंदीगृह से निकला हुआ जनता-यशोदा द्वारा प्रतिपालित और उसके आनंदवर्द्धन करने वाले चिरसंगी कुतूहल का दुलार पाकर व्यक्तिगत रुचि की गोपियों का मन-माखन चुरा कर वृद्धि को प्राप्त होता है। यह मानवत्व का अवतार पालने ही पर पड़े-पड़े दानत्व की चुनौती को स्वीकार करता है और अपनी शैशवावस्था में ही उसकी ईर्ष्या और द्वेष से लोहा लेने लगता है। मानवत्व के ज्ञान का प्रचंड अहं इसके मिटाने के प्रयत्न में कसर नहीं रखता और यह भी चिर-प्रसन्न ऐसा कि विष के घोल को भी अपने स्पर्श से अमृत बना लेता है।.... अन्त में स्वयं ज्ञान का प्रचंड अहं इसके हाथों अपनी ही सभा में पराजित होता है और यह मानवत्व स्वयं ज्ञान के अहं के पिता जिज्ञासु को राजसिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित करता है।.... तब मानवत्व अपनी उदारता की परिधि में सबको समेट लेता है।

उपन्यास लेखक भगवान वेदव्यास को अपना गुरू बना कर पूजता है। उसकी पंक्तियों का अंत नहीं (पुस्तक के समाप्त होने पर भी)। उसकी लेखनी बुद्धिदेव (गणेश) के वरदान से अभिषिक्त होती है जो विश्राम लेना जानती ही नहीं और उसकी प्रतिमा सरस्वती की गोद में इठलाती हुई अपने अमर हास्य को अक्षुण्ण बनाये रखती है।

उपन्यास अमर है। उपन्यास था कब नहीं ? जब से मनुष्य ने एक दूसरे के पास बैठना सीखा था तब इस सामाजिक संयोग से उपन्यास की वृत्ति का जन्म हुआ था। जब मानव के ज्ञान की सहगामिता प्रकृति के कौमार्य के अछूते सौन्दर्य के पार्श्व में डोलने लगी तब उपन्यास की चेतना ने आँखें खोली थीं। जब मानव समाज ने अपनी किशोरावस्था को पार किया था तब चिर-यौवना उत्सुकता के साथ उपन्यास की सगाई हुई थी। फिर जब मनुष्य के अवकाश ने जम कर अंगड़ाई ली थी तब उपन्यास का गठबंधन जन-रुचि के

साथ हुआ। उत्सुकता के संस्कृतरूप जन-रुचि का सुहाग अपने में अक्षय है— अचल है। अतः उपन्यास भी अमर है अपने में स्थिर है।

ई० एम० फार्स्टर ने अपने 'ऐसपेक्ट्स आफ दि नावेल' 'में अब तक के सब उपन्यासकारों को एक भवन में बैठ कर एक साथ एक समय ही उपन्यास की रचना क्रिया में रस माना है। इसी प्रकार यदि हम भी आगामी दोसौ वर्षों के उपन्यासकारों को भी एक साथ बड़े हाल में जमा कर दें तो स्वाभाविक है कि उसके विषय में बड़ा भारी परिवर्तन हमें दिन-प्रतिदिन के जीवन के भारी रूप में एवं विभिन्न क्षेत्रों में अवश्य दृष्टिगोचर होगा। परन्तु यदि हम विभिन्न कालों में कला का मथा हुआ स्वाभाविक रूप देखें तो वह सर्वत्र एक सा लगेगा[1]। कला में स्थिरता की भावना होती है। इस दृष्टि से कला विकासशील इतिहास की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। उपन्यास के वर्ण्य-विषय में भले ही समय के अन्तर पर परिवर्तन होता रहे पर उपन्यासकार की वृत्ति तो सदैव आत्मानुभूति एवं तथ्यान्वेषण में एक सी ही रहती है।

कुछ लोगों के अनुसार यह कठिन कार्य है। उनके अनुसार इस समय जो कुछ भी नियम बनाये जायेंगे अथवा साधारणरूप से कहा जायगा वह लिखे हुए उपन्यासों के संबंध में ही सत्य होगा। भविष्य के उपन्यास के सम्बन्ध में लिखने के लिये तो किसी भविष्यवक्ता की ही अपेक्षा है। ऊपर-ऊपर देखने से से यह कथन ठीक प्रतीत होता है। किन्तु भविष्य के औपन्यासिक स्वरूप के निर्धारण के लिये अतीत के ज्ञान का आभार और वर्तमान की प्रमुख अविकसित अथवा अर्द्धविकसित प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है।

जान कैरुथर ने एक विचार-बोझिल छोटा निबन्ध लिखा है। उसका शीर्षक है 'शहरजादी एण्ड दि फ्यूचर आफ दि इंगलिश नावेल' इसके अनुसार जीवन में एक निश्चित स्वरूप होने के कारण उपन्यास में भी एक निश्चित स्वरूप की योजना करनी ही होती है। उपर्युक्त निबंध लेखक के अनुसार भविष्य में उपन्यासकार को इस मिथ्या धारणा से छुटकारा मिल जायगा। जीवन में मानव को पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती, अतः कला में पूर्णत्व की प्राप्ति की चेष्टा करना अपने ही को धोखा देने के समान है। इसके विरुद्ध वह इस तथ्य में विश्वास जमाएगा कि अपनी कृति को गतिशील स्वरूप देने की

---

१ ई० एम० फार्स्टर 'आसपेक्ट्स आफ दि नावेल'—पृ० १२

प्रक्रिया में वह जीवन में निहित प्रेरक शक्ति का ही अनुगमन कर रहा है और अपने में ठोस रूप से पूर्ण जिन कला-वस्तुओं को वह बनाता है उनमें वही वास्तविकता है जो वह अपने आस-पास के कठिन पर विशुद्ध तथ्य वाले संसार में पाता है।[१]

अंग्रेजी उपन्यास के भविष्य की विवेचना करते हुए केटिल साहब ने कहा है कि उपन्यास का भविष्य स्वतन्त्र विषय नहीं है। वह जाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विषयों के साथ जुड़ा हुआ है। अतः भविष्य में भी अच्छे उपन्यासकार की कला की कसौटी यह रहेगी कि वह अपने अग्रगन्ता कलाकारों की भाँति अपने समय के गंभीरतम प्रश्नों के प्रति कितनी ईमानदारी और सचाई से उलझ सका है।[२]

अब भी जीवन के अनेक अछूते क्षेत्र हैं जहाँ उपन्यासकार का ध्यान नहीं गया है। महान् उपन्यासकार वह है जो किसी नये क्षेत्र को उपन्यास के अधिकार में लाये और विशिष्टरूप से उसकी भावुकता अपने समय से सम्पृक्त हो। साधारणतया उपन्यासकार तो अपने समय के भी नहीं होते। वे न तो अपने समय से उद्भूत होते हैं और न उसके स्पर्श में रहते हैं। वे जीवन से जीवन नहीं पाते, वरन् साहित्यिक परंपरा से उत्पन्न होते हैं।

एच० जी० वेल्स ने सम-सामयिक उपन्यास पर निबन्ध लिखते हुये कहा है, 'जहाँ तक मैं समझता हूँ मात्र उपन्यास ही ऐसा साहित्यिक माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने सामाजिक जीवन में उठने वाली अधिकांश समस्याओं पर विचार कर सकते हैं।" यही नहीं वह उपन्यास की परिधि में राजनीति और धर्म से संबंध रखने वाले प्रश्नों को भी समेट लेता है। वह उसे मन बहलाने का साधन मात्र नहीं समझता था, और स्पष्टरूप से उसने उपन्यासों को कलाकृति के रूप में भी लेने से इन्कार कर दिया है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि वह अपने उपन्यासों को प्रचारात्मक उपन्यास कहने पर रोष प्रकट करता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रचारात्मक उपन्यास किसी संगठित पार्टी (दल), धर्म-संस्था अथवा सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले उसमें और लोगों का विश्वास जमाने वाले होते हैं पर अब इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापकरूप

---

१ जोन केरुथर्स 'शहरजादी' ऐण्ड दी फ्यूचर आफ दि इंगलिश नावेल—पृष्ठ ८-९

२ बी० एस० प्रिचेट 'प्रिफेस टु दि लिविंग नावेल' पृ० १९६

में होने लगा कि बोल कर अथवा लिख कर इस बात को सब के मन में जमाने का प्रयत्न करना कि आपके विचार ठीक हैं, न्यायोचित हैं अथवा दूसरी बात बुरी, गई अतः छोड़ देने योग्य। एच० जी० वेल्स के उपन्यासों में किसी न किसी सिद्धांत अथवा डाक्ट्रिन्स की अन्तर्धारा प्रवाहित होती रहती है, और इसी को प्रोपेगंडा कहते हैं।[1]

विश्व उपन्यास का भावी स्वरूप

जब हम १९५० के बाद लिखे जाने वाले उपन्यासों की चर्चा आरंभ करते हैं तो हमें इससे आगे उपन्यास का भावी रूप क्या होगा इसके विषय में भी अनुमान और अटकल से काम लेना पड़ता है। 'क्रास' के अनुसार भविष्य का उपन्यास मानव प्रकृति की उमंग पर आश्रित रहेगा। वह सोचता है—'स्विंग आफ दि पेण्डुलम' के सिद्धांतनुसार भावी उपन्यास कभी तो यथार्थवाद की ओर झुकेगा और कभी प्रतिक्रिया के रूप में आदर्शवाद का पल्ला पकड़ेगा। उसके मतानुसार उपन्यास के शिल्प विधान का संस्कार होता रहेगा और इसके प्रमाण के लिये वह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के औपन्यासिक प्रयोगों को प्रस्तुत करता है।[2]

क्रास का त पुराना हो चुका है। उसने आज के उपन्यास को प्रथम युद्ध के भी पहले की मनोवृत्ति के माध्यम से देखा था। पर इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि जैसा अनुमान या अटकल भावी उपन्यास के संबंध में इन पृष्ठों में लगाया जायगा वह बिल्कुल ठीक ही होगा। वास्तव में जिस किसी के अनुमान एवं अटकल की भाँति वह अच्छा भी हो सकता है, ठीक भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है गलत भी हो सकता है। पर इतना तो निश्चित है कि १९५० से अगले दस वर्षों में ही बड़ी ही आश्चर्यजनक बातें हुईं और हो सकती हैं। नये शास्त्र तथा अमेरिका और रूस द्वारा कृत्रिम ग्रह बनाने और निकट के ग्रहों में जाने का उपक्रम इस प्रकार की बातें उदाहरण के रूप में दी जा सकती हैं। तीसरे विश्वयुद्ध की भी संभावना की जा सकती है। अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि युद्ध से क्या होता है? युद्ध से पहली बात तो यह होती है कि वह तत्कालीन परिस्थिति में उथल-पुथल उत्पन्न करके अपने समय के साहित्य को अपने देश के साहित्य से ही अपरिचित-सी होने की स्थिति में ला देता है। इसके अतिरिक्त एक बात और होती है और वह यह कि प्रवासी लेखक

---

१ नोवेल्स ऐण्ड देअर औथर्स......माम।

२ विलबर एल० क्रास—दि डेवलेपमेन्ट आफ दि इंगलिश नावेल पृ०–२९३

स्वदेश के सजीव सम्पर्क से पृथक होकर अपनी ही भाषा में अन्यत्र बैठ कर लिखते हुये मानों अपनी ही कृति का स्थानीय छाया में अनुवाद-सा करते रहते हैं।[१] हेनरी जेम्स से कुशल एवं सिद्धहस्त एवं अभ्यस्त लेखक पर भी इसका प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

पर यह सब होते हुए भी यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। प्रत्येक उपन्यासकार को 'उपन्यास के भविष्य की चिन्ता है। दर्जनों उपन्यासकारों ने तो इसके विषय में लिखा भी है। हेनरी ग्रीन, वाल्टर ऐलेन, ज्वायेस केरी, सी० पी० स्नो, फिलिप टवायन्वी, वी० एस० प्रिशेट ऐलिजावेथ वोवेन, ग्राहमग्रीन और एलेक्स, शरत, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र आदि सभी ने उपन्यासकार की समस्याओं के विषय में लिखा है। उनकी रचनाओं से वहुत कुछ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भविष्य में क्या होने जा रहा है? इस सम्बन्ध में प्रोत्साहन देने वाली बात यह है कि उपर्युक्त सभी लेखक स्वयं उपन्यास के अटूट क्रम के प्रति विश्वस्तरूप से सावधान हैं। उन्हें इस विधा के महान् कलाकारों का पता है और उन्हें यह भी ज्ञात है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन महान् औपन्यासिकों ने उपन्यास के लिये क्या किया है, भविष्य में उनके लिये वे क्या कर सकते हैं और प्राचीन उपन्यासकारों के उचित मूल्यांकन के लिये उन्होंने क्या किया है। यदि यत्र-तत्र प्रकाशित पुस्तकों की आलोचनाओं की संख्या को देखा जाय तो पता चलेगा कि छः महीने में भी हजार से ऊपर उपन्यासों की गंभीर आलोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और जिस साहित्यिक गंभीरता के साथ उपन्यास कला तथा तत्संबंधी भविष्य की समस्याओं का निरूपण किया गया है वह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि निम्नकोटि की पत्रिकाओं में बड़े हल्के और बाजारू ढंग से की गई एक हजार उपन्यासों की आलोचनाएँ भी इसी समय की अवधि में निकल चुकी हैं। इन पिछले उपन्यासों को हम प्रकाशकों के पेट भरने की साधन सामग्री का रूप दे सकते हैं। लगभग चालीस वर्ष पहले टी० एस० इलियट ने 'ट्रेडीशन ऐण्ड दि ईंडिवीजुअल टैलेन्ट' शीर्षक निबंध में इस बात की स्थापना की थी कि 'जो कुछ भी एक नवीन कलाकृति के निर्माणकाल की अवधि में घटित होता है बिल्कुल वही बात एक साथ उन सभी नवीन कला-कृतियों की सृष्टि के समय घटित होती है जो उससे पहले रची जा चुकी हैं। जो भी विशिष्ट कला-

---

१ आइजक..............पृ० १७६-८०

कृतिया अस्तित्व मे होता है वे सब मिल कर अपने बीच म एक आदर्श की प्रतिष्ठा करती है, जिसमे तत्सम्बन्धी क्षेत्र म नवीन कलाकृतियो के समावेश होने के साथ ही साथ सुधार होता रहता है।[1] उस समय मे अब तक सारे साहित्य मे और सबसे अधिक उपन्यास साहित्य मे इसी प्रक्रिया के घटित होने का परिचय प्राप्त होता रहा है। इसी के साथ ही साथ आज के उपन्यासकार प्राचीन सिद्ध औपन्यासिक कलाकारा मे भी उस नवीता को भी ढूढ निकालने मे तत्पर रहते हैं जिसका आभास उस समय के अन्य उपन्यासकारा का तथा तब से अब तक के आलोचका को भी नही चला था। इसके साथ ही भविष्य का महत्ता की छाप वाले इन प्राचीन उपन्यासकारो के द्वारा प्रयुक्त इन औपन्यसिक तत्वो अथवा उपन्यासशिल्प का इन नवीनताओ का भी समयानुसार पूरा उपयोग करते हैं जिनका आशिक उपयोग ही मौलिक औपन्यासिक रचना के समय किया गया था। उनमे से कुछ उपन्यासशिल्प के महान् आगार जोला की ओर उन्मुख होते है। दोस्तोव्स्की गोगोल और टाल्स्टवाय अब भी अनुकरणीय उदाहरणो के वृहत् भडार हैं और जेम्स ज्वाएस तो ऐसी खान के समान है जिसमे अभी कार्य ही नही आरभ हुआ हे। और उसमे स्थित सभावनाओ की खोज की ओर किसी का ध्यान भी नही गया है अतीत के महान् औपन्यासिको ने स्वय अपने उपन्यास के स्वरूपो का आविष्कार किया है।

ये सब लेखक इस बात मे भी सहमत है कि आधुनिक गद्यात्मक कथा साहित्य पर सिनेमा का गहरा प्रभाव पडा है। कही तो सिनेमा ने उपन्यासकार को ऊँचे पर खडे होकर सामने देख पडने वाले दृश्य विस्तार के रूप कथानक को दिया है अथवा उसको अपनी कृति को नन्हे टुकडो मे तोड कर रखने को बाध्य किया है। सवाक् चित्र की वर्णनात्मक शैली ने भी आज के उपन्यासकार का उस रचनात्मक शिल्प को ग्रहण करने के लिये विवश किया है। जिसमे सावधानी से सतुलित लघु खण्डो को एक मे करके परिणामत पूर्ण प्रभाव को उत्पन्न करते है। और भी अनेक ऐसे उपन्यास शिल्प के ढग है जिनका विकास सिनेमा के सहारे हुआ है और जिनके लिय अभी तक कोई नाम भी नही चुना जा सका है। यह पभाव दिन प्रतिदिन देखे जाने वाले सिनेमा द्वारा नही पडता हे। प्रभाव की दृष्टि से तो वे समाचारपत्रो और हल्के छोटे उपन्यासा की भाँति होते हैं। उपन्यास की कला पर प्रभाव डालन वाले वे गभीर कोटि के रूसी, जर्मन, फ्रेन्च तथा इटैलियन चित्र है जिनका प्रदर्शन समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय

---

१ आइजक पृ० १८१

चित्र प्रदर्शनियों अथवा फिल्म-समितियों में होता रहता है, डाक्टर कैलीगरी 'पोटे किन' 'दि जनरल लायन' 'स्टार्म ओवर एशिया 'अर्थ' 'वार्निंग शैडोज, सुअलियाँ सलेत्वात ड्र पारी सिटेजन केन और वबैदे ब्रूम आदि विश्व-विश्रुत चित्र उसी प्रकार साहित्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं जिस प्रकार विदेशों में लिखे हुए महान् उपन्यास।

भविष्य के सम्बन्ध में आशान्वित होने का एक कारण और भी है। वह हमें बहुत से नये लेखकों की विनम्रता में मिलता है। काव्यात्मक नाटक में अत्यन्त लघु रूप से आरंभ होकर महान् कृतियों की रचना संभव हो सकी। इसी सफलता का प्रतिबिम्ब इन गद्यात्मक नाटकों में भी होगा जो ऐसे लेखकों के द्वारा रचित हैं जिनमें काव्यतत्व का लेश भी नहीं हैं पर उन में जागृति होगी, क्योंकि (उन में स्थित) नाटकीय मूल तत्वों को उकसा दिया गया है। पिछले दशक में बहुत से ऐसे उपन्यासकार हुए हैं जिनमें आश्चर्यजनक ढंग परिपक्वता एवं भावी महानता के लक्षण मिलते हैं। कोई भी महीना ऐसा नहीं जाता जिसमें गंभीरता से ध्यान देने योग्य कोई न कोई उपन्यास नहीं प्रकाशित होता है। उदाहरण के रूप मे ऐन्थोनी विल्सन का 'आन ए डार्क नाइट' चैपमैन मार्टिनर का 'दि स्ट्रेन्जर आन दि स्टेयर' विलियम सेन्सम की अत्यन्त भावुकतापूर्ण कृति दि बाडी पी० एच० न्यूबी, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु ऐसे लेखकों के उपन्यास प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इनमें बहुत से ऐसे उपन्यास भी होते हैं जो उच्चकोटि के होते हुए भी प्रकाशन के समय जनप्रिय न होने के कारण मिट्टी के मोल बिकते हैं। कुछ उपन्यामकार ऐसे भी होते हैं जिनका प्रत्येक उपन्यास एक नई औपन्यासिक समस्या लेकर आता है और उस उपन्यासकार का मूल्यांकन नए सिरे से करना पड़ता है। हेनरी ग्रीन, वरजीनिया वुल्फ और मिस क्राम्प्टन-बर्नेट तथा फणीश्वरनाथ रेणु इसी प्रकार के प्रत्येक बार नई समस्या के उपस्थित करने वाले उपन्यासकार हैं।

इस प्रकरण के प्रसंग में किसी प्रकार का 'फतवा' अथवा व्यवस्था देने का प्रयत्न नहीं किया गया है यह तो एक ईमानदार पैरवी करने वाले का तर्क है जो अपनी बात में स्वयं विश्वास रखते हुए दूसरों को भी उस सम्बन्ध में वैसा ही विश्वास दिलाना चाहता है। इस निबन्ध का निर्णय उपसंहारात्मक ही है। साहित्य तो सदैव ही जाँच की कसौटी पर रहता है और कभी कभी उसे इन जाँच के विषाक्त पिस्सुओं के द्वारा विशेष हानि भी पहुँचाई जाती है। उनके भिन्न-भिन्न नाम और प्रकार होते हैं—साधारण सूचना देने वाले (दि कामन इन्फार्मर)

केवल अटकल लगाने वाले (दि स्मिअरर) विषय का ज्ञान रखने वाले (दि नोइंग वन) चुस्ती से निर्णय देने वाले (दि स्मार्ट एलेक) अथवा केवल मनोरंजन करने वाले (दि इन्टरटेनर)। कलाकार को रोष में विक्षिप्त-प्राय कर देने वाला आलोचक का निर्णय तो यह होता है—'दोषी तो नहीं हो, पर अब आगे से फिर कभी ऐसा न करना।'

यह बड़े खेद की बात है कि साहित्य के शत्रुओं के बीच में बहुत से ऐसे भी लोग हैं जो अपने को साहित्य का प्रेमी तो मानते हैं और वे साहित्य-प्रेमी होते भी हैं, पर वे साहित्य को उस उन्नति के क्रम के पार नहीं बढ़ने देना चाहते हैं जहाँ तक उसे वे स्वयं ले जा सके हैं। उनकी आधुनिकता ही साहित्य की सीमान्तरेखा बन जाती है।

यदि विकास होना है तो स्नायुओं की कड़ाई अपेक्षित नहीं होती विकास के लिए किसी सुरक्षा पंक्ति की भी आवश्यकता नहीं होती और उसके लिए हम सदैव शास्त्रीय होने की दुहाई भी नहीं देते। यदि जागरण काल आना है तो प्रयोग होंगे ही। बिना प्रयोग के साहित्य की गति की इति हो जाती है, बिना प्रयोग के युग की समाप्ति हो जाती है। लेकिन इस प्रयोग की प्रक्रिया को ईमानदारी से होना है। आगे की प्रगति के लिये यह जानना बहुत आवश्यक है कि वर्तमान समय में क्या हो रहा है और अतीत में क्या हो चुका है। यह सिद्धान्त दोनों ओर से काम करता है। इस सम्बन्ध में एंजेल रिकवर्ड ने बड़ा अच्छा कहा है कि यदि आलोचक वर्तमान साहित्य के प्रति उसी उदारता से काम लेते जिसका प्रयोग वे प्राचीन साहित्य की आलोचना करते समय करते हैं तो साहित्यिक इतिहास रद्दी की टोकरी (जैसा कि वह इस समय बना हुआ है) न बनता।[1]

साहित्य की प्रगति के लिए परम्परा एवं प्रयोग दोनों का समान महत्व होता है। परम्परा तथा प्रयोग साहित्य की अजस्र धारा को प्रवहमान बनाते हैं। परम्परा की दृष्टि अतीत की ओर होती है और प्रयोग की आँखें भविष्य की ओर लगी रहती हैं। परम्परा अनुकरण तथा अनुशीलन की प्रवृत्ति का आश्रय लेकर रचनात्मक परिपक्वता को सिद्ध करता है, जब कि प्रयोग चेतना प्रवाह की नवीनतम ऊर्मियों का अनुसंधान करके अभिव्यक्ति के साधन रूप नये मार्गों का उद्घाटन करता है—। 'प्रयोग का परम्परा के साथ निकट का

---

१ आइजक पृ० ८७।

सामंजस्य है। प्रयोग पूर्व परम्परा से अतीत के अनुभवों का संबल लेकर सतत रूप से प्रगति-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त करता चलता है, क्योंकि अतीत का अनुभव भविष्य के लिये दृष्टि का द्वार खोलता है। परम्परानुगत सत्य की शक्ति से अनुप्राणित होकर नए-नए अन्वेषण करने में ही प्रयोग की सार्थकता है। स्वस्थ परम्पराएँ नवीन प्रयोगों को जन्म देती हैं। प्रयोग का लक्ष्य भी भविष्य की परम्परा बनने का ही रहता है। इस प्रकार परम्परा तथा प्रयोग क्रिया तथा प्रतिक्रिया के रूप में चक्रवत् घूमते हैं तथा साहित्य की धारा को निरन्तर गतिशील एवं प्रवहमान रखते हैं।

साहित्य की प्रगति के लिए अच्छी सम्मतियों के द्वारा उत्पन्न किये हुए वातावरण की भी अपेक्षा रहती है। इस प्रकार के साहित्यिक प्रोत्साहन का कार्य आलोचनात्मक पत्र द्वारा ही हो सकता है। 'दि क्राइटॉरियन' और 'होराइजन' ऐसे टकसाली सम्मति प्रचारित करने वाले पत्रों का प्रकाशन तो कब का समाप्त हो चुका। अमेरिका में इस प्रकार के चार पत्र हैं—'दि केन्यो रिव्यू', 'दि सेवानी रिव्यू', 'पार्टिजन रिव्यू' और 'दि हडसन रिव्यू' इङ्गलैण्ड में तो अकेला 'स्क्रुटिनी' है। समस्या नितान्त साधारण है। इंग्लैण्ड में 'एडिनबरा रिव्यू' की स्थापना आज से लगभग ५८ वर्ष पहले इसलिए हुई थी जिससे सम्पन्न ग्रामवासी अंग्रेज भद्र-पुरुषों को मुद्रित ग्रन्थों के पठन के कार्य में अभ्यस्त कर सकें। इङ्गलैण्ड और अमेरिका में 'दि न्यू क्रिटिसिज्म की स्थापना' अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापकों को अपने सीमितरूप में कविता के पढ़ाने की ओर हुई। इस समय तो एक ऐसे सामयिक-पत्र की आवश्यकता है जो अवांछनीय साहित्य को अलग हटा कर इङ्गलैण्ड, उत्तर-दक्षिणी अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी, इटली, स्पेन, स्कैंण्डनेविया, रूस और पूर्व में जहाँ जो कुछ साहित्य में अच्छा हो रहा है उससे लेखक तथा पाठक दोनों को ही परिचित करावे। आज के सामयिक पत्र को न तो विशिष्ट संस्कृत रुचि वालों का पत्र बन कर रह जाना है, और न किसी दकियानूसी और संघविशेष का पत्र बनना है।

कारयित्री प्रतिभा के रूप में भी भावी उपन्यास के लिए ऐसी योग्यता एवं सामर्थ्य वाली प्रतिभा की अपेक्षा है जो जनप्रिय उपन्यास और अच्छे टकसाली उपन्यास के बीच की खाई को भी पाट सके। इस विचार से आज के उपन्यास की वही समस्या है जो आज के चित्र-जगत् की समस्या है। भविष्य के उपन्यासकार को अपने ऊपर एक सामाजिक उत्तरदायित्व को ओढ़ना भी है। उपन्यास लेखक को समाजिक मध्यस्थ का कार्य संपादन करना है। वेल्स ने अपने निबन्ध

ने इस बात को स्पष्ट किया है कि भावी उपन्यासकार को एक साथ राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं को लेना पड़ेगा ।[1] वेल्स न तो उपन्यास को केवल मन की विश्रान्ति के साधन के रूप लेता था और न उन्हें कलाकृति के के स्वरूप मात्र को प्रस्तुत करने वाला ही समझता था ।

हिन्दी उपन्यास की सम्भावनाएँ

विश्व उपन्यास के कृतित्व की तुलना में हिन्दी उपन्यास को अभी बहुत कुछ करना है । वर्षों की अवधि से यदि उपन्यास-लेखक के कार्य-व्यापार की माप करें तो हिन्दी उपन्यास को उसकी किशोरावस्था में ही पायेंगे । विश्व-उपन्यास के पीछे बड़े विस्तार वाली पृष्ठभूमि है । ह्यूगो, बालजाक, फ्लाबेयर, टालस्टॉय, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, डिकेन्स, रोमां रोलां, जैसी महान् प्रतिभाओं के प्रभाव उसके पीछे हैं । पर इससे अपने में हीनता का भाव भी नहीं आना है । पिछले ४० वर्षों में ही हिन्दी उपन्यास ने जितनी प्रगति की है उससे शताब्दियों यात्रा पूरी करने का प्रयास किया है । जिस साहित्य के उपन्यास साहित्य में 'गोदान', 'गढ़कुंडार', 'चित्रलेखा', 'सुनीता' 'शेखर—एक जीवनी' 'सन्यासी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'बूँद और समुद्र' तथा 'परती : परिकथा' आदि उपन्यासों की परम्परा है उसकी भविष्य की सम्भावनाएं बहुत हैं।

हिन्दी उपन्यास साहित्य विकासशील रहा है । उसके विषयों में विविधता का समावेश होता रहा है और उसका शिल्प-कौशल निरन्तर सुधरता रहा है । मानवीय सत्य के प्रसार, गति और गहराई को अपने में समेटने के लिए पिछले महान् उपन्यासकारों ने जो विराट शिल्प-रेखाएं खींची थीं उनसे भी हिन्दी का भावी उपन्यासकार बहुत-कुछ सीख सकता है । इसी प्रकार वह विश्व उपन्यास की महानतम सफलताओं में अपना योगदान दे सकता है । इसके लिए हिन्दी के भावी उपन्यासकार के मानव अस्तित्व को उसकी पूर्णतम जटिलता, गहनता, रसमयता, अपराजेयता और श्रेष्ठता के साथ अपने उपन्यासों में लाना होगा । अतीत में और अब भी हिन्दी उपन्यासों का केन्द्र मानव या तो स्वतः उपन्यासकार के रुग्ण अस्वस्थमन का प्रक्षेपणमात्र बन कर रहा है, या उसकी दलगत राजनीति का अखबारी चित्र । हिन्दी के आने वाले उपन्यास की कल्पना प्रौढ़ औपन्यासिक रूप में होती है । भावी उपन्यास में मनुष्य को उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश, उसकी जीवन प्रक्रिया के विविध

---

[1] एच० जी० वेल्स 'दि कन्टेम्पोरेरी नावेल' पृ० ६

आयामों के साथ प्रतिष्ठित करना है । उसके आत्मान्वेषण को पूर्ण प्रसार प्रदान करना और उसकी आत्मोपलब्धि को पूरी गहराई तक उतार कर चित्रित करना है ।

पाश्चात्य उपन्यासकारों की तुलना में हिन्दी के उपन्यासकारों को कुछ सुविधाएँ भी हैं, कुछ असुविधाएँ भी । हिन्दी उपन्यास को अभी अपना समझदार पाठकवर्ग बनाना है । हिन्दी उपन्यास का शिल्प को प्रौढ़ करना है । उसकी भाषा को देश-काल एवं पात्रानुसार गढ़ना है । 'गोदान', 'मृगनयनी' 'वाणभट्ट की आत्मकथा', और 'परती परिकथा' में हिन्दी उपन्यास की भाषा को एक उदात्त लय और आभिजात्य संस्कार मिला है । इसके माध्यम से आत्मान्वेषण की सूक्ष्मतम वृत्तियों को अभिव्यक्ति मिलने की सम्भावना है । 'नदी के द्वीप', 'बया का घोंसला' और सांप', नयी पौध, 'बहती गंगा', और मैला आँचल', में उपन्यास की भाषा को नये लोक-संसार मिले हैं । प्रेमचन्द्र जी के द्वारा जिस उपन्यास के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई थी, उसमें अतीत की औपन्यासिक उपलब्धि की समग्रता अपने पूर्णरूप में विद्यमान है । अब हिन्दी का भावी उपन्यास को, मानव-सत्य को उसके समग्र परिवेश और बहु-विधि आयामों में अभिव्यक्त कर पाने की दिशा में अग्रसर होना है । हिन्दी के भावी उपन्यास के मार्ग में दुराग्रहपूर्ण प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण की कोई विशेष बाधा नहीं होगी ऐसा विश्वास किया जा सकता है ।

वास्तव में देखा जाय तो किसी साहित्यिक विधा के विकास के मूल में किसी चिर-परिचित पर नूतन दृष्टिकोण का समावेश ही होता है । किसी विचारक ने कहा भी है कि तत्कालीन भावाभिव्यक्ति के जितने साधन उपलब्ध हैं, उन्हीं की सहायता से कोई बहुत ही आवश्यक कार्य संपादन किया जाने लगता है, जो होता तो बहुत महत्वपूर्ण है, पर उस समय तक उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, तब साहित्य में एक नूतन आविष्कार होता है । हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक रूप के विषय में यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है । रोमांस(घटनापूर्ण कथाओं) से लेकर आज तक के उपन्यास की विकासगाथा इस उक्ति के सत्य को प्रमाणित करती है । भविष्य में उपन्यास मानव-जीवन के और निकट आ जायेगा । पाश्चात्य उपन्यासों के उपलब्ध ज्ञान को आत्मसात् करता हुआ हिन्दी का भावी उपन्यासकार बाह्य संसार में किसी एक आधार को न पाकर अपने में आत्मनिरीक्षणात्मक पद्धति से लीन होकर अपने अन्दर ही (तत्वज्ञानी की भाँति) आधारशिला प्राप्त करेगा ।

हिन्दी के भावी उपन्यास में शिल्प का अंश अधिक उभरा हुआ होगा ।

उसमें प्रयोगों की नूतनता अवश्यम्भावी होगी। भावी हिन्दी उपन्यास के लिये "का भाषा, का संस्किरत, भाव चाहिए साँच" का सिद्धान्त नहीं लागू होगा। हिन्दी भावी-उपन्यास में भाषा और शिल्प का महत्व बढ़ जायगा। यदि शिल्प-कारिता के अंश प्रौढ़ हैं तो रचना स्वीकृत हो जायगी, आदरणीय होगी। अतः भविष्य का औपन्यासिक कलाकार अपनी रचना को 'टेकनीक' की उत्तमता अवश्य प्रदान करेगा।

कथा-साहित्य में आत्म निरीक्षणता का प्रावल्य इस नूतन युग की अराजकता की देन है। हिन्दी प्रेमचन्दोत्तर-युग के कथा-साहित्य का बृहद् अंश आत्म निरीक्षणात्मक हो गया है। प्रेमचन्द स्वयं अपनी अंतिम कृति 'मंगलसूत्र' में आत्म निरीक्षक हो गये थे। जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र' 'कल्याणी' 'सुखदा' 'विवर्त' और 'व्यतीत' इलाचन्द की 'पर्दे की रानी' उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा' अंचल का 'मरु प्रदीप' सब इसी शैली में है। हिन्दी के भावी उपन्यास में यही आत्म निरीक्षणात्मक पद्धति प्रधान हो उठेगी। भविष्य में बाह्य संसार में किसी एक आधार को न पाकर उपन्यासकार अपने में लीन होकर यह देखना चाहेगा कि कहीं उसके अन्दर ही शायद वह आधार शिला प्राप्त हो जाय।

उपन्यास के जीवन में कुछ भी लेकर यदि उसे आगे बढ़ाना है तो हमें मानसिक पाचक-शक्ति पर आश्रित रहना होगा। हम जो कुछ भी अपने में पचा लेंगे वही पत्ती, फल, फूल बनकर उपन्यास के जीवन में एक नया संसार बना देगा जिसमें जो है उसी के माध्यम से उस परिस्थिति में जो अच्छे से अच्छा हो सकता है उसकी संभावना का सीधा परिचय मिलता है।

आज का उपन्यास आज के ज्ञान को पूरे उपयोग में लाते हुए चले। पर ध्यान रहे ज्ञान-वाहक लद्दू गधा या टट्टू या बैल बन जाय, भविष्य के उपन्यास 'डाकुमेन्टरी टाइप' के होंगे और तानाशाही देशों के उपन्यास तो इसी श्रेणी के होंगे ही क्योंकि भावी उपन्यास को किसी भी विचार धारा के प्रचार का प्लेटफार्म बनाया जा सकता है।

आधुनिक युग में प्रेम का जीवन बहुत जटिल हो गया है। लैला-मजनूं और शीरीं-फरहाद कम ही पैदा होते हैं। कोई कुछ भी कहे, पर सब बात तो यह कि प्रत्येक आकर्षक के जीवन में दो-चार व्यक्ति और प्रत्येक सहृदय पुरुष के जीवन में चार छः नारियाँ आती हैं। जीवन में कौन ठहरता है, कौन चला जाता है, यह परिस्थितियों और आकर्षण की गहराई पर निर्भर रहता

है। लोगों का कहना है कि पहले प्यार को कोई भुला नहीं पाता, लेकिन इसके उपरान्त भी जीवन में एक ऐसा बड़ा प्यार आ सकता है जो सब-कुछ भुला दे। उदाहरण के लिए 'शेखर : एक जीवनी' के प्रमुख पात्र तथा उसमें वर्णित लड़कियों के प्रेम-व्यापार अथवा जैनेन्द्र की 'कल्याणी' 'व्यतीत' स्त्री चरित्रों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रेम के क्षेत्र में चुम्बन न सात्विक होता है और न असात्विक, वह केवल चुम्बन होता है। जहाँ प्रेम की गहरी अनुभूति हो सकती है वहाँ की मानसिक स्थिति में सभी सांसारिक सम्बन्ध एक ही से हो जाते हैं। प्रेम के विविध सम्बन्ध एवं नारी जाति की समस्याएं भावी हिन्दी उपन्यास को मुख्य वर्ण्य विषय होंगे। परम्परागत प्रेम से परे भी प्रेम के जितने भी हो सकते हैं सब भावी उपन्यास में पाए जाएँगे। बल्जाक के उपन्यासों की प्रवृत्ति भी इस तथ्य के विश्व-जनीन होने की साक्षी हैं।

प्रेमचन्द ने उपन्यास के सम्बन्ध में लिखते हुए एक स्थान पर लिखा है 'भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा और तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है। 'अज्ञेय' जी ने 'शेखर : एक जीवनी' का प्रणयन करके वृन्दावन लाल वर्मा ने 'झांसी की रानी' लिख करके और श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्म कथा' लिख करके उस महान साहित्यकार की वाणी को सत्य सिद्ध किया है। भावी औपन्यासिक प्रतिभा के हाथ की तूली से अनेक चरित्रों को अनेक चरित्रों का चित्रण होना निश्चित-सा है। पाश्चात्य उपन्यासों के उदाहरणों (रोमां रोलां के जीन क्रिस्तीफ, जेम्स ज्वाएस के अंतिम उपन्यास) से भी इसकी संभावना पुष्ट होती है। जैनेन्द्र जी की नवीन-तम उपन्यास, 'जयवर्धन' अपने शिल्प एवं विचार दोनों की संभावनाओं को हिन्दी के भावी उपन्यास के अग्रदूत के रूप में प्रस्तुत करता है।

समीक्षा-शास्त्र के विद्वान लेखक सीताराम चतुर्वेदी के मतानुसार— 'मध्यवर्गीय समाज ने यथार्थवादी उपन्यास में जो आलोचनात्मक दर्पण पाया था वह अब तीव्रता से बदल रहा है। तदनुसार वे उपन्यास के रूपों में भी परिवर्तन होना आवश्यक समझते हैं। वे हिन्दी उपन्यास के भावी रूप को निश्चित रूप से तो नहीं बताते पर टामस मान के शब्दों में उसकी गति का निम्न प्रकार का होना बताते हैं, 'मध्यवर्गीय और व्यक्तिगत से वे विशेष मानव-श्रेणी (टाइप) के चित्रक और पौराणिक हो जायँगे। वे यह भी आशा करते हैं कि प्रतीकात्मक कौशल और आदर्शात्मक प्रवृत्ति लेखक भी अब अपने उपन्यास

सामने लायेंगे ।'[१]

हिन्दी उपन्यास अपने जीवन का एक सुदीर्घ काल पार कर इतिहास की सामग्री बन चुका है । आगे चल कर उसकी क्या रूपरेखा होगी इस विषय का—उपन्यास के भविष्य का चिन्तन हम वर्तमान के बल पर कर सकते हैं । प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इस विषय में आज से १८ साल पहले अपनी स्थापना की थी । उनकी बहुत-सी बातें लगभग दो दशक के अन्तर पर खरी उतरी हैं । उनकी और भी स्थापनाएँ गंभीर अध्ययन एवं सजग आलोचक की दृष्टि की सूझ पर आधारित हैं । उन्होंने लिखा था–'कला के विकास में व्यक्ति-विशेष सहायक हो सकते हैं, किन्तु उनसे बढ़कर कला का जीवन अपनी गति पर आबद्ध चला ही जाता है । हम देखते हैं कि कुछ कलाकारों ने हिंदी उपन्यास को रूप दिया है किन्तु उपन्यास की सजीवता ने भी उन्हें बनाया है । हम कह सकते हैं कि निकट भविष्य में भी हिन्दी में खूब उपन्यास लिखे जायेंगे, उनकी रूपरेखा जो कुछ भी हो ।'[२]

प्रेमचन्द के स्वर्गारोहण के पश्चात् कतिपय विद्वानों एवं आलोचकों ने ऐसी आशंका प्रकट की थी कि कदाचित् उपन्यास का भविष्य अब पूर्णतः अंधकार में विलीन हो गया । सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द के बाद कुछ समय तक तो यद्यपि उपन्यास संख्या में वृद्धि करने वाले तो हुए हैं पर उपन्यास कला की वृद्धि नहीं हुई । पर इधर के दशक में कतिपय औपन्यासिक कृतियाँ कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्वीकार की गई हैं, और जिनका उल्लेख हम यथास्थान पहले कर भी आये हैं । विगत दो दशक भारतीय इतिहास में बड़े महत्वपूर्ण रहे हैं । राजनीतिक क्रान्ति ने जन-जीवन को जिस प्रकार झकझोरा तथा जागृति के जिस स्वरूप को उपस्थित किया उसने समस्त सामाजिक वातावरण को प्रभावित किया । इस काल में सब से अधिक महत्वपूर्ण बात जो हुई है वह है विचार-स्वातंत्र्य की क्षमता । आज का लेखक अब रूढ़ियों का दास नहीं है । उसका अपना दर्शन है, उसकी समस्यायें हैं और उन समस्याओं के अपने ढंग के समाधान हैं ।

स्वातंत्र्य-संग्राम की सफलता के पश्चात् जीवन के मूल्यों में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है । अस्तु, उसी के अनुरूप साहित्य में भी नवीन मूल्यों की उद्भावना हुई । आज का उपन्यास साहित्य-जीवन के इन्हीं नाना नवीन

१— सीताराम चतुर्वेदी—'समीक्षाशास्त्र'—पृ० ६६८
२—प्रकाशचन्द गुप्त—'हिन्दी उपन्यास का भविष्य'—'साहित्य संदेश' —उपन्यास अंक–पृ० ७५

उच्छ्वासों से पूर्ण है ।

उपन्यास : एक नवीन दृष्टि

प्रकृति और जीवन के नए-नए पहलुओं के अन्वेषण के साथ ही साथ नवीन परिस्थितियों का जन्म होता है जो अपनी सामर्थ्य के अनुपम ही जीवन को परिवर्तित करती है । इस परिवर्तन को जीवन का विकास कह सकते हैं । जीवन के विकास में उन्नयन और पतन दोनों का अर्थ आ जाता है । जीवन के विकास के साथ ही साथ साहित्य का विकास होना भी वांछनीय है । कभी-कभी तो जीवन तो विकसित होकर आगे बढ़ जाता है और साहित्य का प्रगति कार्य पिछड़ जाता है जैसा कि आधुनिक युग के आरंभ में हुआ । इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि जीवन के विकास के साथ-साथ साहित्य का विकास स्वयमेव नहीं हो जाता वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस संबंध में जीवन और साहित्य के सामंजस्य के संबंध में साहित्य-स्रष्टा और आलोचक को अधिक जागरूक रहने की आवश्यकता है ।

जब सामाजिक जीवन प्रगति को एक नई मंजिल की ओर बढ़ने को उत्कण्ठित होता है, तब युग-साहित्य स्रष्टा और आलोचक से एक नवीन दृष्टि की आकांक्षा करता है जो उसकी नवीन समस्याओं को समझ-समझा सके । और उसके लक्ष को निर्दिष्ट तथा पक्ष को प्रशस्त बना सके । आज का भारत साहित्य स्रष्टा और आलोचक से ऐसी ही नई दृष्टि की माँग करता है । इसका कारण है भारतीय जनता का महान् उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के लिए उसका व्यापक गंभीर प्रयास ।

जैसा हम पहले कह आए हैं—दीर्घ स्वातन्त्र्य संग्राम के पश्चात् भारत ने मुक्ति प्राप्त की । मुक्ति प्राप्ति के साथ ही साथ भारतीय जनता और सरकार के समक्ष नवीन विषम समस्याओं ने जन्म लिया । जनता और सरकार ने इन समस्याओं का डट कर मुकाबला किया और आज भी यह मुकाबला चल रहा है । देश के सामूहिक विकास के लिए, उसे सम्पन्न बनाने के लिये दो बार पंच-वर्षीय योजनाओं की तैयारी की गई और उनमें से प्रथम को पूरा करने के बाद द्वितीय योजना को पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है । आज तृतीय पंचवर्षीय योजना की तैयारी हो रही है । इसमें पिछली दो योजनाओं की मौलिक भूलों को सुधारा जा रहा है । देश की आवश्यकतानुसार इसे केवल औद्योगिक रूप न देकर कृषि एवं उद्योग दोनों से संबंधित करके चलाये जाने की सोची जा रही है । इसमें कृषि के लिये बड़े-बड़े ट्रेक्टर तथा बाँधों की योजना

न सम्मिलित करके—देशी हलों को सुधारने और पुराने तालाबों की मरम्मत तथा नये तालाबों का निर्माण करने की सोची जा रही है। 'ट्यूबवेल' के स्थान पर देशी कुओं की संख्या बढ़ाना सोचा गया है। बड़े-बड़े उद्योगों के स्थान पर गाँव-गाँव में छोटे कुटीर उद्योगों का जाल बिछा देने की भी सोची जा रही है। इस प्रकार इस योजना का औद्योगिक रूप न हो कर कृष्यौद्योगिक (एग्रोइण्डसट्रियल) रूप होगा। इसके अतिरिक्त तटस्थ निष्पक्षता की नीति तथा 'पंचशील' के सिद्धान्त का पोषक होकर भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी विश्वशान्ति के लिए महान् प्रयास किये हैं। इस समय जब कि संसार में चारों ओर एक एक कर के देशों की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था टूट कर फौजी शासन के अन्तर्गत आ रही है उस समय भारता द्वारा समाजवादी व्यवस्था की घोषणा करना विश्व की एक महान् घटना है।

भारतीय समाज की नवीन परिस्थितियाँ भावी कलाकार से नवीन दृष्टि की कामना करेंगे। हिन्दी का भावी उपन्यास इस परिस्थिति को पूर्णतया सँभालेगा, यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है। अतीत में देश की परिस्थिति का पूरा साथ देने वाले प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और किसी अंश तक 'अज्ञेय' भी रहे। वर्तमान समय में प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जैनेन्द्र, यशपाल, गुरुदत्त, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु ने वर्तमान समाज की आवश्यकता के अनुरूप ही उपन्यास को गढ़ा और संवारा। जैनेन्द्र का 'जयवर्धन', फणीश्वरनाथ रेणु की 'परती : परिकथा' तथा अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' में हिन्दी के भावी उपन्यास की पृष्ठभूमि एवं भूमिका प्रस्तुत की गई है। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'गिरती दीवारों' में भविष्य में उठने वाले उपन्यास के प्रासाद का 'शिलान्यास' किया गया है।

उपन्यास एक और कारण से भविष्य में आज के महत्व से कहीं अधिक महत्व प्राप्त करेगा। वर्तमान काल में आकर उपन्यास में अपनी महत्ता के बल पर साहित्य के आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। भविष्य का आलोचक यह मान कर चलेगा कि उपन्यास में केवल व्यक्ति का ही नहीं समाज और जीवन का व्यापक और गहरा चित्रण भी संभव होता है। भारतीय समाज में जो विकास के नवीन लक्ष्य निश्चित किए गए हैं उन्हें अभी सही अभिव्यक्ति के लिए और उनके विशद मूल्यांकन के लिए उपन्यास से बढ़ कर कोई दूसरा माध्यम नहीं है। नाटकों के माध्यम में उपन्यास के माध्यम की अपेक्षा प्रभावात्मकता अधिक है किन्तु हिन्दी के रंगमंच के विकास के पूर्ण न होने से हिन्दी के भावी उपन्यासों पर उनका युग विशिष्ट उत्तरदायित्व डालेगा।

हिन्दी के भावी उपन्यास के समृद्धशाली होने का एक निश्चित कारण है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर लिये जाने के कारण अब हिन्दी में प्रान्तीय भाषाओं के अच्छे-अच्छे उपन्यासों से अनुवादों के बड़ी संख्या में प्रकाशित होने के कारण हिन्दी उपन्यास लेखक तथा हिन्दी उपन्यास के पाठक दोनों की ही दृष्टि में व्यापकता और उदारता का आना अनिवार्य है। अंग्रेजी के संपर्क से अंग्रेजी के उपन्यास तथा अंग्रेजी माध्यम से यूरोपीय उपन्यासों से सीधा परिचय पहले ही से संभव था। अब तो अनेक रूसी और अन्य यूरोपीय भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद धड़ाधड़ निकलने से विश्व-जीवन का सीधा परिचय मिलने की संभावना बढ़ गई है। एशियन राइटर्स कान्फ्रेन्स 'अथवा' वार्ल्ड राइटर्स कान्फ्रन्स' आदि आयोजनों के द्वारा हिन्दी के उपन्यास लेखक का संसार के अन्य लेखकों के साथ सीधा संपर्क भी स्थापित हो गया हैं। हिन्दी उपन्यास लेखकों को संसार के भ्रमण का भी सौभाग्य प्राप्त होने लगा है। इन सभी बातों के प्रभाव के परिणाम स्वरूप हिन्दी के भावी उपन्यास में विश्व-बन्धुत्व के भाव तथा चरित्र-चित्रण एवं वातावरण प्रस्तुत करने में व्यापकता एवं उदारता का भाव अवश्य रहेगा। विभिन्न देशों के उपन्यासों के परिचय से रचना-शिल्प पर प्रभाव पड़ना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार किसी भी भारतीय वेशभूषादि के ढंगपर इंगलैन्ड निवास अथवा विश्व-भ्रमण का प्रभाव गहराई से पड़ता है। हल्के ढंग के भावी हिन्दी उपन्यास यूरोपीय 'थ्रिलर' और क्राइम स्टोरीज के भारतीय संस्करण होंगे पर साथ ही साथ चोटी के विद्वान् विश्व की आदर्श औपन्यासिक रचनाओं के स्तर तक पहुँचने का साधु प्रयास करेंगे।

केन्द्रीय प्रकाशन के साथ ही साथ सरकार के प्रचार कार्य की योजना भी जुड़ी हुई है। जब तक जनता सरकार के साथ सहयोग नहीं करती तब तक सरकार काकोई भी कार्य-क्रम सफल नहीं हो सकता। सरकार योजनाएँ बना सकती है, विदेशी सहायता से कारखाने खोल सकती है, अरबों रुपया खर्च कर सकती है किन्तु जनता में जागृति का संचार नहीं कर सकती, अपनी योजना के भावी कार्य-क्रम को जन-जीवन के साथ संबद्ध करके नहीं दिखा सकती। यह कार्य साहित्यकार का है। हिन्दी में यह कार्य भावी उपन्यासकार का होगा। उपन्यासकार जीवन के समग्र रूप को प्रदर्शित कर भविष्य के पूर्ण होने वाली योजनाओं को जनता पर पड़ने वाले उनके प्रभावों, उपन्यास के संसार में अपने ही समय में प्रदर्शित कर सकता है। हिन्दी के भावी उपन्यासकार की लेखनी भारतीय जनता के भविष्य को उपन्यास के समय के 'टेलीविजन सेट' पर मूर्त कर उसमें शक्ति और उत्साह का तूफान पैदा कर सकेगी। वह सामान्य व्यक्ति

की उलझनों को व्यक्त कर उनका समाधान प्रस्तुत कर सकेगा।

इसके साथ एक दूसरा प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। क्या हिन्दी का भावी उपन्यास सरकार के प्रचार कार्य का साधन मात्र होकर रह जायगा? तानाशाही के देश में अवश्य ही यह भय रहता है। उन देशों में जहाँ एक ओर तलवार के धनी (नाइट्स आव दि स्वोर्ड) एक ओर रहते हैं वहाँ दूसरी ओर कलम के धनी नाइट्स आव पेन भी होते हैं। भारत में लोकशाही के होने के कारण उपन्यासकारों को सबसे अधिक लेखन स्वातन्त्र्य रहेगा। प्रेमचन्द को हम परतन्त्र भारत के मैक्जिम गोर्की के रूप में देख सकते हैं। जिनकी कलम को ब्रिटिश रोब भी दाब नहीं सका। भावी उपन्यासकार भी सरकारी नीति का हिमायती और प्रचारकमात्र न होगा वरन् वह जनकल्याण की योजनाओं से जन साधारण को अवगत करायेगा तथा बुद्धिजीवी निम्न मध्यवर्ग के विचारकों के स्वप्नों को सजाकर जनशक्ति के प्रेरक रूप में अपने उपने उपन्यासों की स्वतन्त्र विचारधारा को प्रस्तुत करेगा।

जहाँ तक साहित्य में प्रचार का प्रश्न है, इसका निर्णय विषय पर नहीं साहित्यकार और उसकी दृष्टि पर निर्भर होता है। एक ही समस्या पर दो उपन्यासकार उपन्यास लिखते हैं। एक में प्रतिभा होती है, दूसरे की दृष्टि वादग्रस्त होती है। प्रचारवाद भी एक वाद ही है न, फल यह होगा—एक का उपन्यास, उपन्यास होगा और दूसरे का उपन्यास प्रचार। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। उसमें गान्धीवाद का रंग गहरा है। किन्तु क्या प्रेमचन्द गांधीवाद का प्रचार करते दिखाई देते हैं? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। विश्व उपन्यास में मेरी स्टो का उपन्यास 'अंकित टाम्स कैबिन' गुलामी प्रथा का विशद चित्रण करते हुए भी किसी प्रकार भी गुलामी प्रथा के विरोध में लिखी प्रचार की पुस्तक नहीं कहा जा सकता। यदि गोर्की, प्रेमचन्द और मेरी स्टो, मजदूरों, पराधीन जनता तथा गुलामी की दशा का चित्रण करते हुए भी प्रचारक से ऊँचे उठ कर उपन्यासकार रह सके तो हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि हिन्दी का भावी उपन्यासकार 'जयवर्धन' के लेखक (जैनेन्द्र) की भाँति योजनाओं और आदर्श चरित्र का स्वप्नद्रष्टा होकर भी उपन्यासकार रह सकेगा। वे विकास योजनाओं को जीवन से सम्बद्ध करके उपन्यास की रचना कर सकेंगे।

एक प्रश्न और भी उठता है। क्या प्रचारात्मक साहित्य का कोई महत्व नहीं है? प्राचीन भारतीय परम्परा में साहित्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया

गया है। इसलिये जब हम साहित्य के समक्ष प्रचार की बात कहते हैं तो हृदय उसे स्वीकार नहीं करता, किन्तु तटस्थ होकर विचार करने पर प्रतीत होगा कि प्रचारात्मक साहित्य का भी अपना महत्व होता है। महान अंग्रेजी लेखक एच० जी० वेल्स अपने साहित्य का 'प्रोपेगन्डा-साहित्य' कहने पर बड़ा रोष प्रकट करता था। उसका कहना था कि 'प्रोपेगण्डा का सम्बन्ध तो किसी संगठित दल अथवा धर्म-सिद्धान्त और धर्माधिष्ठान से होता है। पर अब तो प्रचार शब्द का प्रयोग बढ़े हुए अर्थ में होने लगा है। यह तो एक ऐसे ढंग का संकेत करता है जिस की सहायता से मौलिक रूप से अथवा लिखित रूप से, विज्ञापन के द्वारा अथवा बार-बार दुहरा कर दूसरों को यह समझाना है कि भले और बुरे, उचित और अनुचित, न्याय और अन्याय के सम्बन्ध में जो भी अपने विचार हैं वही ठीक विचार हैं। सबको उन्हीं को स्वीकार करना चाहिये और उन्हीं के अनुसार आचरण भी करना चाहिये।[1] एच० जी० वेल्स के उपन्यास इस व्यापक अर्थ में प्रोपेगण्डा ही की भाँति हैं। पर समाज में कभी-कभी प्रचार की भी आवश्यकता होती है। देखना यह होता है कि प्रचारात्मक साहित्य का उद्देश्य क्या है और उसमें कितना प्रचार है और कितना साहित्य। हिन्दी के भावी उपन्यास विकास-योजनाओं के सम्बन्ध में प्रचारात्मक ढंग से लिखे अवश्य जायेंगे। और वे विकास की गति को तीव्र करेंगे।[2] हाँ, यह सत्य है कि प्रचारात्मक उपन्यासों को प्रायः साहित्य नहीं कहा जायगा। भावी वातावरण की स्थिति में यह स्पष्टरूप से समझा जायगा कि साधारणतः साहित्य प्रचारात्मक ही नहीं होना चाहिये, वरन् परिस्थितियों के अनुसार वह प्रचारात्मक भी हो सकता है। यह बात दूसरी है कि उसे शुद्ध साहित्य में स्थान न दिया जाय।

प्रचारात्मक उपन्यास साहित्यिक उपन्यासों की रचना में बाधक नहीं होगा। कुशल उपन्यासकार साहित्यिक उपन्यास भी लिखेंगे। साहित्यिक उपन्यासों का अपना। साहित्यिक उपन्यास सदैव जीवित रहेंगे और प्रचारात्मक उपन्यास अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकेंगे।

उपन्यास की बढ़ती हुई संख्या और प्रत्येक युग में प्रस्तुत किये गये नये प्रकार के उपन्यास साहित्य की सम्भावनाओं की वृद्धि के सूचक हैं। कविता और नाटक तथा अन्य प्राचीन साहित्यिक स्वरूप मानो अब पराकाष्ठा को पहुँचे हुए रूपों तक भी नहीं पहुँच पाते पर उपन्यास में नये स्वरूप पुराने स्वरूपों से होड़ तो लेंगे ही उनसे आगे भी जा सकते हैं। प्रोफेसर एस० सी०

---

१ डब्लू० समरसेट माम—'टेन नावेल्स ऐन्ड देयर आथर्स, पृ० ६

देव के शब्दों में 'वी हैव स्टिल ए लार्ज ट्रैक्ट ग्राव वर्जिन स्वायल बिफोर ग्रस'। इसलिये हिन्दी भावी उपन्यास को अपने को ही दिशा देना है। कार्य आरम्भ होकर एक प्रकार से तो अपनी चरमावस्था में सामाजिकता की भूमि पर खड़ा कर दिया गया है। हिन्दी उपन्यास की बहुत सी (अब तक अज्ञात) संभावनाएँ हैं। उनसे पूरा लाभ उठाना है।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि जहाँ एक ओर उपन्यास की पौध को उर्वर भूमि एवं अनुकूल वातावरण प्राप्त हो रहा है वहीं उसके विकास के कतिपय अवरोधक तत्व भी विद्यमान हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि भाव-विधान में जब अतिशय कल्पना का प्रयोग होने लगता है, यहाँ तक कि हमारी भावात्मक अनुभूति भी कल्पनाप्रसूत होने लगती है और कलाकार अपनी कृतित्व की सार्थकता वैचित्र्य-विधान में मान कर संतोष करने लगता है, तब कलाकृति द्वारा हृदय के लिये पोषक सामग्री का प्राप्त होना प्रायः बन्द सा हो जाता है। प्रगतिशीलता के अतिशय उत्साह ने उपन्यास के साथ यही अपकार किया है। अतिरंजित रूप-व्यापारों एवं भाव-व्यापारों के कारण वर्ण्य विषय पाठक के हृदय के साथ मेल नहीं खा पाता है। साथ ही समाज में सिनेमा, रेडियो आदि मनोरंजन के विभिन्न साधनों के उपस्थित हो जाने के कारण साधारण व्यक्ति मनोरंजन के लिये उपन्यास का ही आश्रय नहीं ग्रहण करता है। अस्तु, यदि यत्किंचित सावधानी रखें तो उपन्यास के इन बाधक तत्वों पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। मानव-हृदय की प्रवृत्ति अनुभूतियों का उनके प्रकृतिरूप में अभिव्यंजन ही किसी भी कलाकृति की धमनियों में प्रवाहित होने वाला वह स्वस्थ रक्त है जो पौष्टिकता शक्ति एवं आकर्षण का हेतु बनता है। उपन्यास साहित्य इस सत्य का अपवाद नहीं हो सकता है। उसके एक एक अवयव में जिस क्षण-प्राणों का स्पन्दन स्पंदित हो उठेगा—उसी क्षण वह विश्व-विमोहक बन कर जन-जन के मानस में बिहार करने लगेगा। उपन्यासकार को इसी साधना में संलग्न होना है।

कला कभी निरुद्देश्य नहीं होती है। वह जब आकर्षण की परिधि से और उठ कर जन-जीवन के बीच रमण करती हुई 'स्वाद-और तोष' के साथ ही साथ उन्नयन के रूप को भी स्वीकार कर लेती है तब वह शत-शत स्वरों में अपनी प्रशस्ति के सुनने की अधिकारिणी बनती है। ऐसी कला निश्चय ही देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके अपनी यशः कीर्ति से जन-मानस को आप्यायित करती है। उपन्यास भी जिस दिन अपने इस महत् उद्देश्य की पूर्ति में सफल होगा। उसी दिन उपन्यासकार की साधना सफल होगी।